डा० विश्वम्भर नाथ उपाध्याय ग्रंथावली

डा

R
०८१
१०१.१

Samaj Foundation Chenn
ain. Gurukul Kangri Co

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

विश्वम्भरनाथ उपाध्याय ग्रंथावली

साहित्यिक निबन्ध

भाग-१

०८१
१०१.१

डा० मंजुल उपाध्याय

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

R
०८९
९०९.९

८७५५

गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय
कृपया पुस्तक के ऊपर कोई निशान आदि
न लगायें।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पुस्तकालय

गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार

वर्ग संख्या R ०८१ / १०१.१ आगत संख्या 8755

पुस्तक-विवरण की तिथि नीचे अंकित है । इस तिथि सहित ३० वे दिन तक यह पुस्तक पुस्तकालय में वापिस आ जानी चाहिए । अन्यथा ५० पैसे प्रति दिन के हिसाब से विलम्ब-दण्ड लगेगा ।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

विश्वम्भरनाथ उपाध्याय-ग्रंथावली

DONATION

साहित्यिक निबन्ध

8755

भाग : एक

पुस्तकालय
गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय

सम्पादक

डा० मंजुल उपाध्याय

8755

गौरी पब्लिकेशन्स
२३/४, शक्ति नगर,
दिल्ली-७

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रकाशक :
गौरी पब्लिकेशन्स
23/4, चड्डा भवन,
शक्ति नगर, दिल्ली-110007

R
0८१
P0P

(c) गौरी पब्लिकेशन्स

प्रथम संस्करण : 1993

मुद्रक :
रोबो प्रिंटर्स
मानसरोवर पार्क,
शाहदरा, दिल्ली-32

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अनुक्रम

खंड—एक

भूमिका : डॉ० मंजुल उपाध्याय

रचना-प्रक्रिया १

भारतीय दर्शन में समन्वय का स्वरूप ८

आत्मा—एक अनुवाद ३२

रामायण की प्रासंगिकता ३७

परिवर्तन के वात्याचक्र; व्यबस्था विरोध, विकल्पों के यक्ष प्रश्न ४१

नाट्य भाषा-निर्माता हिन्दी के आदि नाटककार नारायणप्रसाद 'बेताब' ४६

हिन्दी नवजागरण और महामति महावीर प्रसाद द्विवेदी ५८

जयशंकर प्रसाद : पुनर्मूल्यांकन के नये परिप्रेक्ष्य ७०

प्रेमचन्द्र के उपन्यास औपनिवेशिक किसान की त्रासदी के प्रलेख ७८

गुप्त जी की काव्य भाषा ८६

जैनेन्द्र का प्रचलित से विचलन ६०

माखनलाल चतुर्वेदी का पुनर्मूल्यांकन ६६

मुक्तिबोध की काव्यदृष्टि १०७

साठोत्तरी कविता—एक सिंहावलोकन १११

प्रगतिशील साहित्य और डॉ० रांगेय राघव १११

राष्ट्रीयता और रचनाशीलता ११८

भाषावाद बनाम जनवाद १२२

हिन्दी लेखन की नई दिशाएं—कविता १३३

व्यंग्य साहित्य सृजन—राजस्थान के परिप्रेक्ष्य में १३८

प्रतिक्रिया १४२

खण्ड—दो

सप्तम दशक की समकालीन कविता की अन्तर्यात्रा १–१३२

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

–सम्पादकीय–

मूर्धन्य आलोचक और कृतिकार डा० विश्वम्भर नाथ उपाध्याय का साहित्य विपुल और गुणवत्ता की दृष्टि से बहुत मूल्यवान है। उनके २५ से अधिक आलोचनात्मक, अनुसंधानपरक और समीक्षात्मक ग्रन्थ है, किन्तु उनमें कई महत्वपूर्ण पुस्तकें अब उपलब्ध नहीं है।

इसी तरह उनके उपन्यास, नाटक और कविता–संग्रह प्रकाशन की दृष्टि से बिखरे हूए हैं और कुछ के द्वितीय संस्करण नहीं हुए हैं।

डा० उपाध्याय का आलोचनात्मक और राचनात्मक लेखन सामाजिक चेतना और व्यक्तिगत वैशिष्ट्य की दृष्टि से पठनीय' प्रभावक एवम् संग्रहणीय है, इसलिए उनके समूचे, सर्जन को ग्रन्थावली के रूप में प्रकाशित करना ऐतिहासिक आवश्यकता हो गई है।

डा० उपाध्याय के साहित्य पर कई विश्वद्यालय में शोध कार्य हो रहा है और स्वतंत्र रूप से भी उनके ऊपर लिखा जा रहा है। पिछले ४ दशकों की कलाविधि में अनेक साहित्यकारों, आलोचकों और विचारकों के साथ जो विचार विमर्श, क्रिया–प्रतिक्रिया, वाद-संवाद एवं मदभेद और मनन हुआ है और उसके प्रसंग में जो पत्र व्यवहार हुआ है एवं उनकी कृतियों पर जो चर्चा परिचर्चा और समीक्षात्मक लेखन हुआ है, उस सबको ग्रन्थावली में शामिल करने की जरुरत है ताकि एक बड़े लेखक और रचनाकार के सृजनात्मक जीबन का परिपूर्णचित्र उभर सके और उसके योगदान का सही मूल्यांकन हो सके

जिज्ञासुओं, अनुसंधानकर्ताओं और पाठकों को डा० उपाध्याय का लेखन समग्र रूप में उपलब्ध हो जाए इसलिए यह निर्णय किया गया कि उनके कृतित्व को ग्रन्थावली के रूप में प्रकाशित किया जाय।

ग्रन्थावली का क्रमवार लेखनका प्रकाशन होता है। यह निश्चय किया है कि यह शुभारम्भ डा० उपाध्याय के नवीनतम आलोचनात्मक लेखन से हो रहा है। ग्रन्थावली भाग : १ में डा० उपाध्याय नवीनतम आलोचनात्मक चिन्तन को प्रस्तुत किया गया है, उसके बाद उनके अन्य लेखन को क्रमशः प्रकाशित किया गया है। इस ग्रन्थावलीका प्रकाशन श्री राजीव जैन, गौरी प्रकाशन, नई दिल्ली ने किया है, इसके लिए हम उनके आभारी है।

डा० मंजुल उपाध्याय

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भाग १

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

रचना-प्रक्रिया

रचना मात्र में, एक अंश तक अचेतन-प्रक्रिया (Unconscious-process) कार्य करती है, अतः रचनाकर्त्ता, पूर्णतः अपनी रचना का रहस्य अनावृत्त नहीं कर सकता। यह उसकी सामर्थ्य के परे है और दूसरा व्यक्ति अर्थात् आलोचक भी पूरी तरह, शत प्रतिशत, किसी लेखक की कृति का मर्म, रचना-प्रक्रिया का पूरा ग्राफ पेश नहीं कर सकता। अंतर्मुखी-रचनाओं में, किस तरह किसी कवि या लेखक में, मनस्तात्विक अंतस्सूभ और तत्त्व, बिन्दु और धाराएँ कहाँ से आकर शब्दायमान होती हैं, यह असाक्षात्कृत ही रह जाता है।

रचना में चेतन-अवचेतन, इच्छा और संज्ञान, प्रकृति और चेतना, कल्पना और विचार आदि परस्पर विरोधी युग्मों का द्वन्द्व और संगति होती है। यह द्वन्द्व मन और मूल्य के द्वन्द्व के रूप में हम प्रतिक्षण महसूस करते रहते हैं और यह अंतश्चेतना के स्तर पर, गूढ़ मनोविज्ञान के धरातल पर होता है और उस धरातल पर रचाव कभी-कभी सांयोगिक या अकस्मात् होता है अतएव रचना प्रक्रिया रहस्य के रूप में होती है। सहृदय कृति का आस्वाद लेता है, यह नहीं जानता कि उसकी निर्मिति की प्रक्रिया क्या है?

चेतन-अचेतन आंतरिक-क्रिया के कारण, कृति की रहस्यमयता, सचेत बुद्धि को चुनौती देती है, जिज्ञासा जगाती है और इसी जिज्ञासा के कारण रचना प्रक्रिया के अनेक सिद्धान्तों-अवधारणाओं के कारण, रचना प्रक्रिया के अनेक सिद्धान्तों—अवधारणाओं के सिवा कृतिकारों की आंतरिक गतिविधियों, उसकी चेतना और अंतश्चेतना की चलन-क्रिया की कल्पनाएँ की गई हैं, तादात्म्य द्वारा अंतस्साक्षात्कार किए गए हैं, और लेखकों के जीवन-वृत्तों के विशद अध्ययन द्वारा अनेक विवरण प्रस्तुत किए गए हैं।

और फिर भी यह अनुभव किया गया है कि जब स्वयं कृति का कर्त्ता हमारे बीच विद्यमान है जब तक वह जीवित है तब तक उसी से उसकी रचना के रहस्य को क्यों न पूछा जाए? यह सत्य है कि तत्त्वदर्शी और तल स्पर्शी आलोचक, अपनी मनोवैज्ञानिक अंतर्दृष्टि के बल पर, एक हद तक रचना प्रक्रिया की ग्रन्थि का भेदन कर सका है किन्तु वह अनुमान-सा लगता है जो कभी युक्त और कभी अयुक्त प्रतीत हो सकता है। पुनः एक ही कृति पर अनेक विवेचकों के अनुमानों और अवलोकनों के परस्पर विरोधी विवरणों के ढेर लग जाते हैं अतः रचनाकार यदि अपने प्रति तटस्थ होकर, अपने रचना के प्रति मोह से यथासंभव ऊपर उठकर, अपनी रचना के क्षण में आप-बीती का उस रचना में प्रयुक्त मनोदशा तथा वर्ण्य विषय आदि का वर्णन करे तो रचना की पहेली का भेद खुल सकता है या वस्तुगत विवेचन के लिए महत्त्वपूर्ण सामग्री मिल सकती है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मैंने सृजन और आलोचन, दोनों कार्य किए क्योंकि मुझमें, प्रारम्भ से ही सिसृक्षा और समीक्षा दोनों की प्रेरणाऐं इतनी अधिक थीं कि मैं दोनों वृत्तियों की संतुष्टि के लिए प्रयत्नशील हुआ या विवश हुआ, अपने को एक ही प्रकार की गतिविधि तक सीमित नहीं रख सका। प्रसिद्धि की इच्छा की स्वाभाविकता के साथ यह भी स्वाभाविक है कि कोई रचनाकार या लेखक यह सोचे, बार-बार प्रयत्न कर यह तय करे कि किस विधा में वह सर्वाधिक सफल हो सकता है किन्तु साहित्य और साहित्य के विषय में हुए चिन्तन मनन, दोनों में मुझे अपनी-जिज्ञासा की प्रबलता के कारण यह अंतसीन हुआ था कि ये दोनों क्रियाएँ अविच्छिन्न हैं और एक के बिना, दूसरे को नहीं समझा जा सकता। चूँकि आगे चलकर साहित्य-शिक्षण ही वृत्ति (पेशा) बन जाने पर मुझे साहित्य के दर्शन मनन विवेचन में ही निमग्न होना पड़ा, अतः मैंने यह महसूस किया कि जिसे (साहित्य) मैं समझाना चाहता हूँ, वह रचते समय कैसा मालूम पड़ता है?

अतः मुझे सृजन और आलोचन-परस्पर उपकारक, अनिवार्यतः उर्वरक और अविच्छिन्न लगने लगे अतः जब जो कार्य किया, उसी में निमग्न हो जाने पर यही लगा कि यही मेरा स्वभावतः कृत कार्य है यों वे दूसरों के लिए सर्वदा नुक़्ता चीनी के विषय रहे कि इतना सब, एक साथ करने की क्या ज़रूरत है? विशेषज्ञता के युग में, बहुविषमय स्पर्शिनी प्रवृत्ति, व्यक्ति की शक्तियों को बिखरा देती है, कोई एक विधा पकड़नी चाहिए, तब "बिम्ब" बनने में, प्रसिद्धि में, पहचान मे सुविधा होगी...।

किन्तु "बिम्ब", "प्रसिद्धि" या "पहचान" के तर्क मुझे विश्रान्ति न देते, कोई अनिर्वचनीय, अव्याख्येय अंतस्सत्ता या चेतना प्रचलित कोटियों। बिम्बों, प्रसिद्धियों और अमिमतों के अतिक्रमण के लिए मुझे प्रेरित करती रहती और यह ज़िद पैदा करती कि जो तुम स्वयं देख रहे हो, उस पर डटो, वही काम आएगा। जहाँ तक मान्यता का प्रश्न है, वह मुख्य विषय नहीं है। मुख्य विषय तो स्वबोध-स्वानुभव और चेतना-क्षेत्र की अन्तहीन, सदा उद्विग्नकारी, नित्य क्षोभकारी सक्रियता की स्थिति और गति है और जब वह है, ख़ूब है, तब उससे जो उपजेगा, उसके कद्रदाँ, मूल्यांकन कर्त्ता भी होंगे...प्रतिभा की प्रतिद्वन्द्वता में, गुटग्रस्तता, प्रियता-अप्रियतां, राग-द्वेष, समान-असमान विचार प्रवाह आदि के कारण जो पहचान या स्थापना के विग्रह खड़े होते हैं, उनकी इतनी अधिक परवाह करना कि अपना अद्‌भुत–अनन्त–चमत्कारक चेतना–क्षेत्र ही प्रदूषित हो जाए, यह नहीं होने देना चाहिए...जो तुम्हें भास रहा है, साक्षात् दीख रहा है, उसे तर्क और तथ्य से साबित करो...स्वभावे निधनं श्रेय...।

मैंने शुरुआत में ही यह देख लिया था कि लेखक और विद्वान जो कह रहे हैं, वे वही कह रहे हैं जो उन्होंने जाना या देखा है और इस ज्ञान और अनुभव की सीमा है। उनकी सीमा यदि तुम्हें सूझती है तो तुम ऐसा कर सकते हो जो वे नहीं कर सके...।

इस परिज्ञान और सूझ से एक ओर तो विचार के क्षेत्र में मुझे बड़े से बड़े विचारक और लेखक में जो उनके नकारात्मक-न्यूनतापरक पक्ष थे, वे ज्ञात होने लगे और दूसरे

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अध्ययन और अनुभव के–वैपुल्य से, सिसृच्छा की प्रबलता से, मुझे लगा कि कोई एक विधा दस विपुलता, इस बाढ़ को झेल नहीं सकती...।

विधाएँ बाँध तो हैं, विषय उनसे परिसीमित होता है, चेतना का प्रत्येक आंदोलन, प्रत्येक विधा में समा नहीं सकता— इस अहसास के कारण, अपने में केन्द्रीयकरण की मनोदशा में मैंने कविता लिखी और बाहर फैलने पर बाह्य यथार्थ के विशद अंकन के लिए उपन्यास लिखे, रंगमंच के प्रसंग बनने पर दो तीन नाटक और एकांकी भी...विधाओं की नदियों के तट और तटबंध होते हैं जबकि चेतना का स्वरूप सामुद्रिक होता है। किनारे समुद्र के भी होते हैं किन्तु ज्वार आने पर वे टूट भी जाते हैं।

सब कुछ जानने की मुझे इच्छा/जिज्ञासा ने जहाँ अन्तहीन अध्ययन के लिए लगातार उकसाया, वहीं अपने अन्दर के आन्दोलनों और स्पन्दनों के सातत्त्य से अनवरत रचनात्मकता के लिए लाचार हुआ...ज़ाहिर है कि इससे दबाव, प्रायः असहनीय होने लगा तब योग साहित्य के निकटतम अनुशीलन ने मुझे यह बताया कि यह जो मानव संरचना है, मूलतः प्राकृतिक है और प्रकृति के एक-एक बिन्दु या पिण्ड में समूचे ब्रह्माण्ड की शक्ति है, यह वह ट्यूब है, जिसे जितना दबाओ, उतना निकलता है और जब संभावनाएँ तथा स्रोत असीम हैं तब अल्पता, आलस्य का फूल है और अल्पता में आत्मसंतुष्टि नहीं होती, भूमा में होती है, भूमा वै सुखम!

उधर मार्क्सवादी लेखकों के उदाहरण और सत्संग के :–राहुल, रांगेय राघव, रामविलास शर्मा, भगवतीशरण उपाध्याय, सामने थे, सब विपुल, पृथुल, सब कुछ को उलट-पुलटने वाले, विधयवैविध्य के विस्मय जनक फैलाव वाले।

मैंने आलोचना, बौद्धिक चुनौती के परिणामस्वरूप लिखी जो अपने को, व्यक्त करने के लिए बेचैन करे, विकट मंथन के भँवर में डालकर, अपने रूप को रचवाएं, वह रचना है और जो अस्पष्ट को स्पष्ट कराने के लिए, अदृश्य और रहस्यमय को ज्ञान की सर्चलायट से स्पष्ट, दृष्ट और बुद्धिगम्य बनाए, वह आलोचना है। दोनों मूलतः जूड़ी हुई हैं किन्तु प्रक्रिया में विपरीत या भिन्न क्रियाएँ हैं। मैं जब जिस मानसिक-प्रक्रिया में होता हूँ, तल्लीन हो जाता हूँ किन्तु एक क्षण पश्चात् किसी भी अनुभव या ज्ञान की दशा में मेरी निस्संग मनन शक्ति जाग्रत हो जाती है और मैं उस अनुभव या विचार या अनुभूति के चेतनामंच पर अभिनय का द्रष्टा बन जाता हूँ...मैं पूरी तरह सचेत-अनुभव (Conscious Experience) को जानता हूँ अथवा मुझे लगा है कि मैं जानता हूँ। अब यह कार्य औरों का है कि यह किस तरह संभव है, संभव है भी या नहीं?

विस्मय यह है कि विशेषकर कविता में कि यह उक्त परिज्ञान की प्रक्रिया–जब स्थगित होती है, तभी आकस्मिक शब्द संयोजन होते हैं...अवचेतन में जो भंडारण होता है, उसमें से अनायास शब्द, बिम्बं और पद निकलकर, किस तरह विलक्षण संयोग से, नयी बंदिशें रचते हैं, यह अजीब लगा है मुझे और मैं सिद्धान्त रचना के क्रम में सोचता रहा हूँ कि न द्वन्द्वों पर वश है, न–संगति पर। जो वश में है, वह अपने को रचना का माध्यम बनने

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

देने के लिए आत्मशिथिलीकरण है यानी अपने को ढीला छोड़ देना और फिर भी वर्ण्य स्थिति या मनःस्थिति के साथ तल्लीन (इन टयून) रहना ताकि उस मनोदशा में, जो व्यक्त होना चाहता है, वह विचार मूड या अस्पष्ट अनुभूति, वह स्वयं अपना कोई विभाव (objective co-relative) या बिम्ब मन में अवतरित कर दे अतएव यह ज़रूरी हो जाता है कि रचनाकर्त्ता किसी मूड में रहे किन्तु आलोचना की अवस्था में वह भीतर से उस मूड में भले ही रहे या उसकी स्मृति में, उसके अनुबन्ध में किन्तु सोच की प्रक्रिया में विवेचक को ज्ञानदशा में ही आना पड़ेगा यों यह ज्ञानदशा अनुभव के तलघर में मंद मोमबत्ती-सी जाग्रत रह सकती है, रहती ही है गोया पानी के भीतर लालटेन जल रही हो!

अतिशय मनोवैज्ञानिकीकरण से बचने के लिए कुछ जानी हुई रचनाओं को लें, यथा, आदमखोर, मायारानी, 'ढुंडिराज', कबंध, शीत लहर आदि। इनमें प्रत्येक रचना के अंजस्सूत्र–भिन्न-भिन्न हैं। सामाजिक विषय में, परिवर्तन का मार्क्सीय मॉडल और दर्शन, आदमखोर में कवि को, वर्ग समाज में शोषक वर्ग के प्रति प्रतिशोध और विध्वंस को उकसाता है। मैंने अपने अंचल में, वर्गयुद्ध, छोटे पैमाने पर देखे हैं अतः जनता की चढ़ती त्यौरी देखी है, स्वयं भी मैं युयुत्सु हो उठता हूँ...तब प्रत्यय मात्र में, जन करुणा की सरसराहट में, जनदशा दर्शन जन्य जनावेश में ऐसी पंक्तियाँ उभरती हैं:

लेकिन तुम्हारी क़सम अब और नहीं
तुम्हें देखकर न लिहाज़ आता है न प्यार
बाघ की तरह भरता हूँ हुंकार
तुम्हें ताक कर आँख की त्यौरी चढ़ती है!

यहाँ विचारधारा, भावावेग और अनुभाव, सब एक हो जाता है और लड़ते हुए व्यक्ति का बिम्ब बनता है। 'मायारानी' में देशभर को आपातकाल में दमित करने वाली प्रधान मंत्री की पूरी मत्सरता का नाटक परिदृश्य है। कबंध और 'शीत लहर' में भी चटख रंगों में, विलक्षण बिम्बों में यथार्थ की भयावहता के वर्णन हैं किन्तु कई कविताओं में मेरा मन है, जो विचार का प्रत्यय वाहक नहीं है, उससे टकराव हो जाता है और जिसका अपना संसार है, अपनी इच्छा–अनिच्छा–उदासी और अवसाद है, आनन्द और अजीब निमग्नताएँ हैं।

मैंने इस मन को, व्यक्ति के–व्यक्तित्व को सर्वदा विशेष महत्त्व दिया है क्योंकि मुझे लगा है कि सामाजिक परिवर्तन के आंदोलनों-संगठनों में तात्कालिकता के दबाव से मनुष्य के मन को दबना-दबाना पड़ता है किन्तु जब दबे हुओं का उद्धार ही क्रांति है तब मनुष्य के निजी मन की मुक्ति भी ज़रूरी है, उसके राग-अनुराग, मिलन-विरह, इच्छा-आवेश, आशा-निराशा को मनुष्य का मूलाधार (Basic Structure) माना जाना चाहिए क्योंकि उसके बिना तो समाज में यंत्र मानव ही रह जाएँगे। स्तालिनीय तानाशाही और उसके जडानोव जैसे प्रचारक प्रकार के स्थूलमति वाले मार्क्सवादियों की राह पर चलने वाले जड़वादियों या यांत्रिक भौतिकवादियों ने, आंदोलन और संगठन की ज़रूरतों के संदर्भ

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

में मनुष्य के मन को, कविता और कला में, उन्मीलित नहीं होने दिया गोया क्रान्ति के लिए मनुष्य की आकांक्षाओं-आशाओं का गौण महत्त्व हो। यह भी भुला दिया गया कि क्रान्ति का प्रयोजन ही यह है कि ऐसी व्यवस्था बने जिसमें बकौल मार्क्स मनुष्य सूर्य की तरह विभिन्न रंग की किरणों में भास्वरित हो सके और यह भी कि मनुष्य का रागात्मक संसार, व्यवस्था से अनिवार्यतः पनपने वाले आत्मनिर्वासन (Alienation) को दूर करता है, भाव, अभाव में भी आदमी को आदमी बनाए रखता है। वही मनुष्य का मनोवेग, प्रचार, प्रपंच और पाखण्ड में उपेक्षित रहा है।

अतएव मैंने अपनी कविताओं में अपने मूड्स और मनोभावों का ही नहीं, मन और मूल्य के द्वन्द्वों का भी चित्रण किया। उपन्यासों में भी यह प्रयत्न 'जाग मछांदर गोरख आया' तथा 'जोगी मत जा' में मिलेगा। यही नहीं, 'रीछ', ''पक्षधर'', और ''दूसरा भूतनाथ'' में भी, क्रान्ति के ज्वालामुखी पात्रों में भी, मोहन–जनार्दन–दूसरा भूतनाथ आदि पात्रों के अंतःकरण की कोमलताओं को बड़ी सहानुभूति और मुक्तता के साथ उकेरा गया है ताकि उपन्यास सचमुच मानवीय प्रलेख बन सकें वे मात्र ठस और ठोस बनकर न रह जाएँ। रचना-प्रक्रिया और प्रयोजन को नज़रअन्दाज़ कर, मात्र मनुष्य का इकहरा चित्रण मार्क्सवाद नहीं, जड़वाद और चाइशेस्कू-चेतना का परिणाम है और मैं शुरू से ही संकीर्णता और कुत्सित समाजशास्त्र का विकट विरोधी रहा हूँ और अब जब साम्यवादी शिविर में जड़ता और जल्लादपन के विरुद्ध संग्राम चल रहा है, मुझे हर्ष है कि मेरा मत सही था, यह स्वतः साबित हो रहा है अतएव साहित्य की सर्वसमावेशी–व्यापक धारणा से मैं सहमत हूँ कि वह प्रचारातीत–बहुआयामी–विपुलस्तरीय–अनेक प्रयोजनात्मक तथा संश्लिष्ट सृजन होता है तभी उसका प्रभाव गहरा और स्थायी होता है। आत्मशिल्प में सिर्फ़ राजनैतिक सामाजिक चेतना का पुनः निर्माण ही नहीं होता, उसमें मनुष्य के मन को मनाते हुए उसको मानवीय बनाया जाता है और मैंने वही किया है।

साहित्य में जो पाठक को सम्मोहित करने की शक्ति होती है, उसमें जो आनन्द और अनुराग का उच्छलन होता है, इसको उससे बेदख़ल नहीं किया जाना चाहिए, ऐसा मैं समझता हूँ।

''कवि की नियति'' (नाटक) में मैंने पंडितराज जगन्नाथ का विद्रोह दिखाया है किन्तु मनोद्वन्द्व के द्वारा। इसी तरह ''रीछ'' में विमल की चेतना का क्रमिक विकास होता है और ग्राम जीवन के समग्र जीवन के परिदृश्य वहाँ हैं, मात्र संघर्ष के नहीं। इसी तरह ''पक्षधर'' क्रान्ति की फैंटैसी का उपन्यास है किन्तु वहाँ क्रान्तिकारी व्यक्तित्त्वों में एक रेखीयता (लीनियर) नहीं है। दूसरा भूतनाथ तो रोमांस को भी क्रान्ति के लिए प्रयुक्त करता है और दोनों में सच्चा है, गहरा है। इसे रोमांटिक-क्रान्तिकारी या क्रान्तिकारी रोमांचकतावाद भी नहीं कहा जा सकता क्योंकि ऐसी कोटियाँ व्यक्तित्व की संश्लिष्टता को समाप्त कर देती हैं। मनुष्य एक जटिल प्रत्यय है, स्वयं में, उसे कोटियों या अभिमत बाँध नहीं पाते और यही मनुष्य की महिमा है, उसका गौरव है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मैंने धनात्मक चरित्रों की उस समय सृष्टि की जब साहित्य में, पूंजीवादी आधुनिकता के अनुकरण पर नकारात्मक-अजनबीपनग्रस्त–अमूर्त्त और असामान्य पात्रों के निर्माण का दौर चल रहा था। वह दौर अभी भी जारी है। चरित्रों की संरचना में मैंने कल्पना से काम कम लिया है, समान प्रवृत्तियों वाले लोगों को देखकर, कई व्यक्तियों से कुछ विशेषताएं चुनकर, उनके संयोजन से नायकों की रचना की है यथा "रीछ के" मोहन में सरदार भगतसिंह और विशेषकर चन्द्रशेखर आज़ाद के गुण हैं, स्वभाव हैं और जनार्दन में भी। जनार्दन में चि गुवेवारा के भी लक्षण हैं जो किताबों से मिले। दूसरा भूतनाथ में--भूतनाथ नाम के पत्रकार नायक में भी कई देखे सुने व्यक्तियों के लक्षण हैं किन्तु अनेक पात्र ऐसे हैं जो देखे-बरते हैं, कई ऐसे भी हैं जो कल्पना से गढ़े गए हैं, कुछ विचार के प्रतिफल हैं, कुछ जनश्रुति के आधार पर रचे गए हैं जैसे जागमछंदर गोरख आया के मछंदरनाथ तथा गोरखनाथ जनश्रुति परक हैं किन्तु नर्मदा-प्रियंवदा और ललिता कल्पित हैं यों उनके मूल रूप (प्रोटोटायप) मैंने देखे हैं। इसी प्रकार पक्षधर का 'गुर गुर बाबा', एक विचार का प्रतिफलन है। कोई प्रत्यय (Concept) किस तरह पात्र-संरचना में मदद कर सकता है, इसका प्रमाण गुरगुर बाबा तथा भूतनाथ है यों प्रत्यय का पल्लवन पात्र के रूप में कल्पना से होता है, हुआ है।

ऐसे पात्रों में जो विलक्षणता है, वह संभाव्य है असंभव नहीं है। रचनाकार वस्तुतः मन ही मन, पात्रों के रूप में बनता-बिगड़ता रहता है, और इस विषय में यह भी है कि लिखने के क्रम में पूर्व कल्पित पात्र का व्यक्तित्व बदल जाता है। प्रायः पात्र चित्रण के क्रम में एक हद तक, स्वतंत्र हो जाते हैं और लेखक को अपनी इच्छा का अनुगामी बना लेते हैं।

चूँकि पात्रों की प्रतीति, मानसिक स्तर पर होती है अतः मानसिक शक्ति से रचे हुए पात्र, वास्तविक व्यक्तियों की तरह हो जाते हैं। यथार्थ और कल्पना में रचना- प्रक्रिया के प्रसंग में परस्पर (Inter-changeability) रूपान्तरण हो जाता है। यह रचना का रहस्य है जिसे अवधारणा के स्तर पर नहीं समझा जा सकता। ऐसे पात्रों (जाग मछंदर, जोगी मत जा) में जनश्रुति और मिथक के साथ इतिहास का भी संन्निवेश रहता है और उन के रचाव में प्रयोजन, यह रहा है कि लोग बौनापन छोड़कर, विशिष्ट पात्रों के चेतना विकास को देखकर, बड़े बनने का प्रयत्न करें, और बड़प्पन सर्वदा समाज में बड़ा काम करने से ही उपलब्ध होता है, भूतनाथ, गोरखनाथ, जनार्दन आदि ऐसे ही पात्र हैं किन्तु ऐसे भी पात्र हैं जो चेतना के चक्रवात में अपने को डालकर अपने साथ प्रयोग करके महान बन जाते हैं और विकास तथा उन्नयन के नए सिद्धान्त देते हैं, अनुभव की अनेकता के प्रतीक बन जाते हैं यथा, मत्स्येन्द्रनाथ।

यदि "रीछ" में सामाजिक यथार्थवाद की प्रविधि है तो "पक्षधर" में आधुनिक फंतासी की झलकें पेश करने वाली पद्धति है। जाग मछंदर में फंतासी और कथाविधि का संगम है, दूसरा भूतनाथ में पुनः आख्यानविधि और यथार्थवादी प्रविधि है, 'जोगी मत जा' में वर्णनात्मक नैरेटिव) तथा मनोद्वन्द्वात्मक शिल्प है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

 Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

रचनात्मक प्रयत्न यह रहा है कि पाठक को अन्य प्रकार के लेखन से विचलन (Deviation) अनुभूत हो और रचाव के सम्मोहन में वह डूब सके, साथ ही लेखक की संवेदनाः संदेश भी दस तरह सम्प्रेषित हो जाए कि वह संरचना से पात्र और परिस्थिति की संयोजना से, समूचे रचनात्मक संदर्भ से निकला हुआ लगे, आरोपित न जान पड़ा सर्वोपरि यह कि लेखक रचाव में अपना नमूना स्वयं विकसित करे। जहाँ तक भाषा की रचना-प्रक्रिया का सम्बन्ध है, टौलीविज्ञान से मैंने यह सीखा है कि विन्यासगत, नवीनता आए, बिम्बगत भी किन्तु यथासंभव उपन्यासों में पात्र और स्थिति का ध्यान रखा गया है,। 'पक्षधर' में अवश्य उपन्यास के लिए नयी भाषा को गढ़ा गया है। ''पक्षधर'' भाखिक नावीन्य और त्वरा की दृष्टि से अनूठा माना गया था। वह अनूठा पन आगे भी यथास्थान रहे, यह कोशिश की गई है।

मेरी कविताओं में तो पंक्ति-पंक्ति में भाषिक-विचलनों की भरमार है। मैं यह मानता हूँ कि कथा और कला, दोनों धरतलों पर कवि और लेखक को नवान्वेषण करना पड़ता है अन्यथा वह मंदता (डलनैस) और उबाऊपन से बच नहीं सकता।

कविताओं और उपन्यासों के अलावा आलोचनात्मक लेखन में भी मेरे शैलीगत रचावों का सिलसिला मिलता है। मन में प्रचलित विन्यास के ढाँचे को रह-रहकर तोड़ते चलने का चाव और कौतुक ऊधम मचाता रहता है।

अपनी रचना-प्रक्रिया के विषय में यह अरहस्यीकरण (डी कोडिंग) एक शुरूआत है क्योंकि कला की हिमशिला का ऊपरी भाग ही व्याख्या का विषय बन सकता है, उसका अधिकतर भाग चेतन-अवचेतन के सागर में छिपा रहता है जो भविष्य में गवेषणा का विषय बनेगा।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भारतीय दर्शन में समन्वय का स्वरूप

बेकन ने लिखा है कि मनुष्य प्रकृति के रहस्यों से परिचित हो सकता है, प्रकृति के नियमों के अध्ययन अथवा प्रकृति के ऊपर क्रिया द्वारा वह प्रकृति को जान सकता है, यही मनुष्य के ज्ञान का क्षेत्र है। इसके परे क्या है, न तो यह मनुष्य के लिए कभी ज्ञेय हो सकता है न उसके पास सर्वातीत पदार्थों को जानने की कोई शक्ति है।[1] किन्तु "दर्शन" शब्द से यह ध्वनि निकलती है कि सत्य के साक्षात्कार को ही "दर्शन" कहते हैं। इसीलिए सत्य के स्वरूप की चर्चा दर्शन शास्त्र में रहती है तथा सत्य क्या है? असत्य क्या है? सत्य और असत्य में क्या सम्बन्ध है? ऐसे प्रश्न दर्शन शास्त्र के क्षेत्र में उठते हैं।

"दर्शन" शब्द की व्याख्या ऊपर भारतीय दृष्टि से की गई है। योरोपीय दृष्टि से दर्शन मैटाफ़िजिक्स का पर्याय है जिसमें तर्क-द्वारा सत्य की खोज की जाती है और चूँकि सत्य की खोज करते-करते अन्तिम सत्ता तक मनुष्य पहुँच जाता है अतः ब्रह्म जीव, जगत्, व्यष्टि, समष्टि, सभी प्रश्नों पर दर्शन शास्त्र विचार करता है। योरोप के लिए दर्शन, तार्किक पद्धति द्वारा प्राप्त निर्णय है और भारतीय दृष्टि के अनुसार सत्ता के साक्षात् दर्शन, प्रत्यक्ष पहचान का नाम "दर्शन" है। इसीलिए हमारे देश में दर्शन और साधना अभिन्न रहे हैं और साधना के क्षणों में सत्य की पहचान कर उसका वर्णन कर देना ही "दर्शन" का कार्य रहा है। हमारे यहाँ कोरे दार्शनिक नहीं, अपितु ऋषि, मुनि या साधक हुए हैं जो सत्य का साक्षात्कार कर चुके थे इसीलिए षड्दर्शनों के विकास के समय सभी दर्शन प्राचीन शास्त्रों को प्रमाण मानकर चलते हैं।

पाश्चात्य विचारक भारतीय दर्शन को शब्द प्रमाण के मानने के कारण अधिक महत्त्व नहीं देते। परन्तु इससे न तो योरोपीय दर्शन की महानता प्रकट होती है, न योरोपीय दर्शन कभी भी धर्म-साधना से अपने को अलग कर पाया है। भारत में धर्म, नीति व दर्शन साथ-साथ चले, योरोप में भी किसी सीमा तक यही रूप रहा। षड्दर्शनों के विकास के समय दर्शन को भारत में स्वतन्त्र विषय बनाने का प्रयत्न हुआ है। योरोप में भी पूँजीवादी व्यवस्था के आ जाने के पश्चात् ही पेशेवर दार्शनिक दिखाई पड़े अन्यथा मध्यकाल में दर्शन, चर्च, पुरोहित, धर्म, नीति, साधना, रहस्यवाद ये सब अविच्छिन्न रहे।[2]

भारतीय "दर्शन" को दर्शन न मानने में जो शब्द प्रामाण्य की चर्चा होती है, वह

१. देखिए–द स्टडीज इन एनसिएन्ट ग्रीक सोसाइटी–जार्ज थौमसन।
२. देखिए हिस्ट्री आव मौडर्न फ़िलासफी–विलियम कैली राइट।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

व्यर्थ है क्योंकि दर्शन सर्वदा कुछ पदार्थों की पूर्व कल्पनाओं को तर्क से पुष्ट करता आया है। भारत में दर्शन व साधना एक और अविभाज्य होने से तर्क के स्थान पर अनुभूति को प्रमाण माना गया है और तर्क केवल उसकी व्यवस्था में सहायक होता है, ऐसा कहा गया है। अनुभूति के लिए पूर्व साधकों अथवा पूर्वजों के अनुभव ही प्रमाण हैं। अतः प्रामाण्य अनिवार्य है। यह भारत का पक्ष है।

योरोप में आधुनिक युग में आकर शुद्धबुद्धि से सत्य को जाना गया, ऐसा दावा किया जाता है। कान्ट और हीगेल जैसे दार्शनिकों में आप्तवाक्य प्रमाण नहीं माना गया अतः योरोपीय दर्शन अपने को श्रेष्ठ मानता है परन्तु प्रश्न तो यह है कि तर्क के अस्त्र के प्रयोग के समय भी बिना पूर्वग्रहों व पूर्व कल्पनाओं के क्या योरोप का कार्य चल सकता है? उत्तर होगा, नहीं। दर्शन में पूर्व कल्पनाएँ (प्रि-सपोज़ीशन्स) अनिवार्य है। ज्ञान पूर्व कल्पना के बिना चल ही नहीं सकता। भारत व योरोप दोनों में दर्शन का इतिहास यही बताता है अतः भारत "शब्द प्रमाण" मानता है तो कम से कम वह स्पष्ट रूप से पूर्वाग्रहों को स्वीकार तो करता है। योरोपीय दार्शनिक पूर्वाग्रहों से कभी नहीं बच सके।[1]

एक से अनेक सिद्धान्त को समझने के लिए मोड्स तथा लाइबनीज ने मोनड्स के सिद्धांत की कल्पना की थी। ये पूर्वाग्रहमात्र थे। लाइबनीज ने "द सिटी आव गौड" की भी कल्पना की थी। स्पिनोज़ा चेतना व मैटर (जड़) के अन्तर को नहीं समझ सका। बर्कले का प्रत्यक्ष जगत् की सत्ता का ही निषेध करना पड़ा। उसने निषेध करना पहले सोचा था और तब तर्क पद्धति चली: "टु बी इज़ टु बी परसीव्ड"। "जब हम किसी वस्तु को देख सकें, तभी हम उसकी सत्ता में विश्वास कर सकते हैं परन्तु हम अपनी चेतना को अलग रखकर पदार्थ को नहीं देख सकते।" अतः पदार्थ की सत्ता का स्वयं निषेध हो जाता है, यह है बर्कले का तर्क। कान्ट ने अनुभूति के आधार पर ("क्रिटीक आव प्रेक्टीकल रीज़न)" में ईश्वर को सिद्ध किया। हीगेल ने पूर्णता, "एबसोल्यूट" के सिद्धान्त की कल्पना कर ईश्वर को सिद्ध किया। इन सब ने प्रथम ईश्वर की, कल्पना की पीछे से तर्क दिये। अतः योरोप पूर्वाग्रहों से बच नहीं सका। दृष्टव्यः "पंत का नूतन काव्य और दर्शन।"

इस विवेचन से स्पष्ट है कि "दर्शन" की भारतीय व्याख्या को न मानकर भी योरोपीय दर्शन अपनी महानता सिद्ध नहीं कर सका। वहाँ प्रत्येक विचारक किसी नूतन सिद्धान्त की खोज में रहता है। अतः सिद्धान्तों की खोज की प्रवृत्ति उस व्यक्ति की प्रतिभा का तो प्रमाण हो सकती है परन्तु सत्य के दर्शन का वह प्रमाण नहीं बन सकी क्योंकि सत्य की जानने का एकमात्र साधन है प्रज्ञा तथा स्वयंप्रकाश्य ज्ञान (इन्टैलैक्ट एन्ड इन्टूइशन) और ये दोनों सापेक्ष हैं। ज्ञान सापेक्ष है, निरपेक्ष नहीं, परन्तु दार्शनिकों ने ज्ञान व क्रिया को अलग-अलग करके देखा है और इसलिए उनकी अपनी कल्पनाओं का पुंजीभूत

---

१. इस तथ्य की स्पष्टता के लिए केवल कुछ संकेत यहाँ दिये जाते हैं: डेकर्ट ने शंकर की पद्धति "कोगीटो एरगो सम" (आइ थिंक, देअरफोर आइ एम) को अपनाया था। मैं सोचता हूँ इसलिए मेरी सत्ता है, यही तर्क शंकर का था। स्पिनोज़ा ने एक से अनेक सिद्धांतों को अपनाया।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

रूप "दर्शन" के रूप में हमारे सम्मुख उपस्थित है।

तब दर्शन व दर्शन द्वारा निर्धारित सत्य को परखने का दूसरा मापदंड क्या है? यह प्रश्न उत्पन्न होता है।

"दर्शन" शून्यभित्ति पर चित्रित ज्ञान नहीं है। वह एक विशेष सामाजिक व्यवस्था में उत्पन्न होता है, अतः सामाजिक चेतना के अध्ययन के बिना हम व्यक्ति की चेतना को नहीं समझ सकते, दर्शन के इतिहास की लम्बी परम्परा है और उसमें बराबर विकास दिखाई पड़ता है। विचार, अनुभूतियाँ, तर्क तथा साधनाओं का जो आज घटाटोप एकत्र हो गया है उसे आप यदि सामाजिक व्यवस्थाओं की पृष्ठभूमि पर समझने का प्रयत्न करें, उन सामाजिक व्यवस्थाओं की पृष्ठभूमि पर जिनमें वे विचार, तर्क व साधनाएँ उत्पन्न हुई हैं, तभी दर्शन तथा दर्शन द्वारा निर्धारित सत्य को समझने में सफलता मिल सकती है।

इस निबंध का विषय है "भारतीय दर्शन में समन्वय" अतः समन्वय के स्वरूप को समझने के लिए भी उपरोक्त पद्धति आवश्यक है।

भारतीय दर्शन का प्राचीनतम स्वरूप वेदों में सुरक्षित है। अन्य सम्प्रदाय अपने ग्रंथों को ही प्राचीनतम मानते हैं परन्तु भाषाशास्त्र तथा पुरातत्व के प्रमाणों ने ऋग्वेद को ही सबसे प्राचीन ग्रंथ स्वीकार किया है। ऋग्वेद में आर्य जाति के जीवन का प्रतिबिम्ब है। आर्य जाति एक विजेता जाति थी अतः यहाँ के मूल निवासियों के विश्वास भी आर्यों के विश्वासों में अंतर्भुक्त हो गये हैं।

आर्य-संस्कृति के विस्तार के समय पूर्व में व्रात्यों की विचारधारा का प्रसार था। व्रात्य संभवतः आर्य ही थे[1] जो मध्य-प्रदेश के आर्यों से पहले आ चुके थे और बाद में आने वाली आर्यशाखाओं के विश्वासों से दूर जा पड़े थे इसीलिए व्रात्यस्तोम यज्ञों के द्वारा व्रात्यों को आर्य अपनी संस्कृति में मिला लेते थे। व्रात्य योगी थे। व्रात्यों ने योगसाधना व तपस्या को सम्भवतः मूल निवासियों से सीख लिया था क्योंकि व्रात्यों के पूर्व सिंधुघाटी की सभ्यता में योगसाधना प्रचलित थी, इसके निश्चित प्रमाण हैं और ऋग्वेद में योग-साधना के स्थान पर यज्ञवाद व बहुदेववाद की उपासना मिलती है। आर्य पितृसत्तात्मक व्यवस्था को मानते थे जबकि सिंधु सभ्यता मातृसत्तात्मक थी। सिंधु सभ्यता की मातृसत्तात्मकता का प्रमाण है कि मेसोपोटामिया तथा पश्चिमी एशिया में ही नहीं, अन्य देशों में भी मातृसत्तात्मक व्यवस्था प्रचलित थी। भारत में द्रविड़ों के पूर्व जिस आस्ट्रिक जाति या प्रवेश हुआ था वह भी मातृसत्तात्मक व्यवस्था मानी जाती है। अतः देवी या शक्ति की उपासना आर्यों व व्रात्यों के पूर्व प्रचलित थी। द्रविड़ों में मातृसत्तात्मक व्यवस्था के चिह्न मिलते हैं जो आज तक बचे हुए हैं।

इसके अतिरिक्त अनार्यों में "टॉटेम" उपासना प्रचलित थी। टॉटेम का अर्थ है किसी पशु, पौधा, पक्षी, आदि को पूज्य मानना, उसी से अपनी वंश परम्परा स्थापित करना

---

१. बुद्धिस्ट एसोटेरिज़्म–बी. भट्टाचार्य

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

और उसी को सृष्टि का आदि कारण मानना। यथा आस्ट्रेलिया के आदिवासी "कंगारू" को पूज्य मानते हैं। कंगारू को आदि पुरुष या सृष्टा मानते हैं अतः कंगारू उनके लिए सर्वस्व था। पूजा के लिए पशुओं व कभी-कभी मनुष्य की भी बलि दी जाती थी। शिकार ही कबीलों का उत्पादन साधन था अतः देवता पर बलि आवश्यक थी क्योंकि उसी की कृपा से शिकार में सफलता मिलती थी।

पूज्य पशु, पक्षी या पौधे को कबीले भोज्य पदार्थ नहीं बना सकते थे। अतः "टैबू" का प्रचार हुआ। कुछ पदार्थों का खाना निषिद्ध कर दिया गया। आदिवासियों के पूज्य पूर्वज का बध कैसे हो सकता था? अतः खान-पान व सामाजिक व्यवहार में टैबू की प्रथा चली। भारत में नाग, शबर, कोल, खासी, संथाल आदि जातियां प्रायः टॉटेम की उपासक थीं। मत्स्य, अश्व, शूकर, कछुआ, सर्प, सिंह आदि इनके टॉटेम थे।

इस प्रकार ऋग्वेद के युग में २००० बी.सी. से १५०० बी.सी. के आसपास[2] साधनाओं की यह स्थिति थी:

१. आग्नेय जातियाँ: आदिवासी, आस्ट्रिक या मौनख्मेर—मातृसत्तात्मक व्यवस्था, टॉटेम उपासना, जादू-टोने में विश्वास, योग साधनाएँ, शिकार मुख्य व्यवसाय।
२. द्रविड़ जातियाँ: मातृसत्तात्मक व्यवस्था, दास प्रथा, टॉटेम उपासना, शक्ति व पशुपति की उपासना, योग व तपस्या, कृषि मुख्य व्यवसाय।
३. व्रात्य: (मध्यदेश के पूर्वागत आर्य) योग, तपस्या, जादू या तांत्रिक उपासना तथा पूजा का प्रचार।
४. आर्य: यज्ञोपासना, प्रकृति के रूपों की देवताभाव से उपासना।

आर्यों के वैदिक साहित्य में इन सभी उपासनाओं की अंतर्भुक्ति मिलती है। निषादों, नागों, खासियों आदि कबीलों में ही पुनर्जन्म का सिद्धान्त विकसित हो चुका था। मातृसत्तात्मक व्यवस्था में संतान ही उत्पादन में वृद्धि करने का एक साधन थी। कबीलों के परस्पर युद्धों में भी कबीलों की संतति ही उपयोगी हो सकती थी। संतान का प्रबल होना उत्पादन के लिए आवश्यक था अतः यह कल्पना की गई कि माता के गर्भ में पूर्वज (टाटेम) ही अवतरित होता है और प्रत्येक पुत्री या पुत्र उसी आदि पुरुष का अंश है। वह आदि पुरुष बार-बार माता के गर्भ से पुत्र के रूप में निकलकर शिकार व युद्धादि में सहायता करने आता है। इस प्रकार पुनर्जन्म के सिद्धान्त का उत्पादन के साधनों के सहायक रूप में आर्येतर जातियों में विकास हो चुका था।[3] आर्यों ने इसे स्वीकार कर लिया और टॉटेम को आगे चलकर आर्यों के अवतारवाद (विष्णु के मत्स्य, अश्व, सर्प, कच्छप, सिंह आदि अवतारों की "टॉटेम" उपासना द्वारा ही व्याख्या की जा सकती है

---

१. अब आर्यों को बाहर से आनेवाला नहीं माना जा रहा।
२. ईसा पूर्व का मानते हैं।
३. द्रष्टव्य—(अ) दि वैदिक एज—भारतीय इतिहास समिति द्वारा प्रकाशित।
(ब) दि स्टडीज इन ग्रीक सोसाइटी—जार्ज थैमसन।
(स) दि फर्स्ट फिलासाफर्स।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जो भारतीय दर्शन के प्रोज्वल प्रमाण हैं) में सम्मिलित कर लिया गया तथा निषेधवादी (टैबू) प्रवृत्ति का विकास आर्यों में तभी से हुआ जबसे आर्यलोग सर्वप्रथम निषादों के सम्पर्क में आए। पौराणिक साहित्य में वर्णित अंडे से सृष्टि की कल्पना तथा वानर व गणेश की उपासना भी आर्यों ने आदिवासियों से ली। अनेक देवों के रूपों की कल्पनाओं में, उनके वर्णन, वाहनों, उपकरणों तथा आभूषणों की कल्पनाओं में आर्येतर जातियों, विशेषकर आस्ट्रिया कबीलों के विश्वासों का बहुत बड़ा हाथ है। तांत्रिक उपासना को भी स्वीकार कर लिया गया। व्रात्यों के योग व तपस्या के सिद्धान्तों को भी स्वीकार कर लिया गया। व्रात्यों का योग व तपस्या के कारण आर्य संस्कृति में महान् आदर होता था। आगे चलकर व्रात्यों ने ही आर्य संस्कृति से बौद्ध व जैन संघों के रूप में विद्रोह किया।

द्रविड़ जाति में भी योग व पशुपति की उपासना प्रचलित थी। द्रविड़ों के यहाँ पिता व माता दोनों की उपासना भारत में आकर प्रचलित हो गई थी। द्रविड़ों के इन देवों का रूप आस्ट्रिकटॉटेम उपासना से अधिक सूक्ष्म था। सम्भवतः ईजियन सागर के आस-पास से कुछ द्रविड़ कुछ अपने साथ अपनी उपासना को लाए थे।

आर्यों के देवताओं में देवियों का स्थान नगण्य है परन्तु द्यावा-पृथिवी को पिता-माता के रूप में देखा गया है, अतः इस कल्पना पर संभवतः द्रविड़ों की पिता-माता-उपासना का प्रभाव रहा हो।[1] केवल संथालों में एक सूर्य देव मिलते हैं। सिनबोंग तथा उनकी पत्नी निंद चंदो (श्हग भ्रच्ह्-ग) भी मिलती हैं जो सूर्य व चन्द्रमा है। अतः यह ग़लत है कि आर्येतरों में सूर्य उपासना प्रचलित न थी। आर्यों की सूर्य उपासना में आदिवासियों की सूर्य उपासना अंतर्भुक्त हो चुकी है।

ऋग्वेद में रुद्र की प्रशंसा में सूक्त मिलते हैं। ये दोनों सूक्त आर्य व आर्येतर साधनाओं के समन्वय के प्रबल प्रमाण हैं। मोहनजोदडों में स्त्री-मूर्तियाँ मिलती हैं, लिंग प्रतीक भी अनेक मिलते हैं। पत्थर के छल्ले, लिंग व योनि की युगनद्ध अवस्था के सूचक हैं। यह लिंग व शक्ति-उपासना पश्चिम से आई थी, यह हम कह चुके हैं। ऋग्वेद में "शिश्नदेवा :" का प्रयोग मिलता है जिससे स्पष्ट है कि उस युग में लिंग-पूजकों से आर्य परिचित थे। ब्राह्मण ग्रंथों में "अम्बिका" रुद्र की बहिन है। इस अम्बिका का संबंध बेबीलोनिया की देवी "इश्तर" तथा मिस्र की देवी "ओसिरिस" से स्थापित किया जा सकता है। आगे चलकर अम्बिका रुद्र की पत्नी हो गई। देवताओं के रिश्ते शीघ्र ही बदल जाते हैं। पुत्रियाँ पत्नियाँ के रूप में चित्रित की गई हैं। यह ठीक है कि ऋग्वेद की "वाक्" देवी तथा "रुद्र" में तथा शैवों के शिव व "उमा" में अंतर है परन्तु आर्यों ने आदिवासियों के देवताओं का आर्यीकरण किया था। आर्य मूर्तिपूजक न थे परन्तु कालान्तर में आर्येतर जातियों की मूर्तिपूजा को भी उन्होंने स्वीकार किया। इस कार्य में व्रात्यों ने—पूर्वी आर्यों ने—पहले क़दम उठाया था। बौद्धो के देखादेखी ब्राह्मणों ने भी मूर्तिपूजा का प्रचार किया और पूजा-पद्धति

१. द्रविड़ों के देवताओं में पिता व माता दोनों रूपों पर पश्चिमी एशिया का प्रभाव है। दि वैदिक एज, पृष्ठ १

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

 Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

में पूर्णतया द्रविड़ों का अनुकरण किया। पत्र, पुष्प, सिंदूर आदि का मूर्ति को भेंट करना द्रविड़ प्रथा थी। सिंदूर आस्ट्रिक जातियों से आया था।

ऐसा प्रतीत होता है कि हिमालय की घाटियों में "रुद्र" से मिलते-जुलते किसी देवता की उपासना आर्येतर जातियों में होती थी। रुद्र को किरात के साथ संबंधित इसीलिए कर दिया गया।

विद्वानों ने शिव शब्द की व्याख्या इस प्रकार की है। तमिलः शिवन् = चिवन् = रैड = लाल। आर्यों के यहाँ शिव को नील लोहित कहा गया है। वस्तुतः विषपान की कथा बहुत बाद की है जिससे शिव का कंठ नील हो गया। तमिल के चैम्पू या शैम्पू का अर्थ लाल धातु होता है (कौपर) इससे भी लोहित अर्थ मिल जाता है। उमा में "मा" शब्द की व्याख्या भी द्रविड़भाषाओं की सहायता से हो सकती है। इस प्रकार त्रिदेवों की उपासना का जो आगे चलकर प्रचार हुआ, मूर्तिपूजा, योग, तपस्या, तांत्रिक साधना, अवतारवाद का जो प्राधान्य हुआ, उसके लिए वैदिक-युग में ही पृष्ठभूमि प्रस्तुत हो रही थी। आर्य-हृदय धीरे-धीरे आर्येतर भावनाओं के लिए अपने को अनुकूल बना रहा था जिसकी अभिव्यक्ति पौराणिक काल में अपनी चरम सीमा पर जा पहुँची।"

अंतभुक्ति व समन्वय केवल स्थूल आचारों देवताओं के स्वरूपों में नहीं हुआ। सूक्ष्म सिद्धन्तों के विकास में भी यही समन्वय की प्रवृत्ति दिखाई पड़ती है।

ऋग्वेद के आर्य सिद्धांततः बहुदेववादी थे। यद्यपि "एकं सत विप्रा बहुधा वदन्ति" की धारणा वेद में विद्यमान है परन्तु वहाँ प्रमुखता देवताओं की उपासना की ही है। इस उपासना की व्याख्याएँ विभिन्न प्रकार से की गई हैं, इसकी भौगोलिक, प्राकृतिक-शक्ति-संबंधी, प्रतीकात्मक, तथा सर्ववादी अनेक व्याख्याएँ हैं परन्तु ये व्याख्याएँ बहुत बाद मे की गईं हैं और उनके द्वारा वेद को अपने अनुकूल बनाने का प्रयत्न किया गया है। वैदिक ऋषियों में दार्शनिकों जैसा न तो "पूर्व-निश्चित" मत के समर्थन का चाव मिलता है, न तर्क-पद्धतियों के नाना आविष्कार प्राप्त होते हैं। प्राकृतिक शक्तियों–अग्नि, इन्द्र, वरुण, द्यावा, पृथिवी, मरुत, सूर्य, आदि प्रत्यक्ष दृश्यमान तथा जीवन में सहायक पदार्थों–की स्तुतियाँ करना ही आर्यों का धर्म था।

आर्य आनन्द, आमोद-प्रमोद, बल, वीर्य, आयु, धन, गो की प्राप्ति व रक्षा तथा शत्रुनाश के लिए प्रार्थना करते थे। न तब मुक्ति प्राप्त करने की कामना थी, न संन्यास लेने की। जीवन के प्रति आर्यों का दृष्टिकोण आशावादी व इहलौकिक था। दार्शनिक

---

१. पौराणिक मत व दर्शन में भक्ति, पूजा, आचार आदि सब आर्येतर उपासना हैं। साम्राज्यवादी कहते हैं कि भारत में एकता नहीं मिलती, सम्प्रदायवादी कहते हैं कि आर्यसंस्कृति अर्थात् ब्राह्मणवादी संस्कृति ही श्रेष्ठ है। जैन, बौद्ध, सिक्ख, द्रविड़ आर्य आदि कठघरों को मानने वालों को धर्म व दर्शन का ऐतिहासिक विकास देखना चाहिए। इतिहास की दीर्घ-यात्रा में इतना आदान-प्रदान हो चुका है कि आर्य, अनार्य, ब्राह्मण, जैन, बौद्ध संस्कारों व साधनाओं के प्रश्न उठाना न केवल अज्ञान प्रकट करना है अपितु भारतीय समन्वयवादी एकता की परम्परा से विद्रोह भी करना है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

 Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उड़ान का सर्वप्रथम रूप "नासदीयसूक्त" में मिलता है। नासदीयसूक्त में अद्भुत सृष्टि-विस्तार को देखकर अज्ञेयसत्ता की खोज का प्रथम प्रयत्न कियागया है। आर्य जिस भारत देश में थे वहाँ नाना जातियाँ व साधनाएँ थीं। चारों ओर विविधता के ही दर्शन वे कर रहे थे। जिन देवताओं को वे यज्ञ में बुलाते थे, वे भी अनेक थे। इस विविधता ने ही आर्यों को एकता की ओर सोचने के लिए प्रेरित किया और वह एक अज्ञेय सत्ता की कल्पना में समर्थ हुए। देवताओं की उपासना करते समय भी कभी-कभी आर्य अनेक देवताओं को एक ही देवता का रूप बताते थे।[1] अग्नि जैसी प्राकृतिक शक्तियाँ ऐसी हैं जो सर्वत्र व्याप्त है, इस प्रकार ये शक्तियाँ किसी सर्वव्यापी शक्ति से ही शक्ति प्राप्त करती होंगीं क्योंकि सृष्टि के मूल में अनेक शक्तियाँ नहीं रह सकतीं, इस प्रकार आर्य विचार करते-करते एकसत्तावाद पर जा पहुँचे परन्तु बाद के पूर्वाग्रही दार्शनिकों की अपेक्षा वेद के विचारक अधिक रचनात्मक दृष्टि रखते थे; और उनमें जड़ता का अभाव था। वे ऐसी सत्ता के संबंध में सोचते-सोचते अपने संदेह भी व्यक्त करते रहे। नासदीयसूक्त में इस प्रवृत्ति का प्रमाण है—

नासदासीन्ने सदासीक्तदानीं, नासीद्रेजनो व्योमाऽपरोयत्।
किमावरीवः कुहकस्य शर्म्मन्नभः, किमासीद् गहनं गभीरम्॥
इयं विस्सृष्टिर्यत आबभूव यदि वा दधे यदि वा न,
यो अस्याध्यक्षः परमेव्योमन्नासो, अंगवेद यदि व न वेद॥

"जब यह आर्य-सृष्टि नहीं थी, तब एक सर्वशक्तिमान परमेश्वर और दूसरा जगत् का कारण विराजमान था। उस समय आकाश नहीं था। उस समय त्रिगुण नहीं थे, परमाणु नहीं थे, विराट नहीं था, वर्तमान उस परम तत्व को नहीं ढक सकता, उससे अधिक अथाह भी नहीं हो सकता था, कुहरे का जल पृथ्वी को नहीं ढक सकता।"

सचमुच कौन जानता है और कौन कह सकता है कि यह सब कहाँ से उपजा? इस विश्व की सृष्टि कहाँ से आयी? देवताओं की उत्पत्ति पीछे की है। जिनसे इस विश्व की सृष्टि आरंभ हुई, जिसने यह सब रचा है या नहीं रचा है, परम व्योम में जिसकी आँखें इस विश्व का निरीक्षण कर रही हैं, वस्तुतः वही जानता है या शायद वह भी नहीं जानता!

अंगवेद यदि वा न वेद। जानता है या शायद वह भी नहीं जानता! कितनी महान् कल्पना और कितनी सच्चाई है इस कथन में। दुराग्रह व जड़ता का कहीं अंश भी नहीं दिखाई पड़ता है। यह सूक्त दर्शन की प्रथम किरण है।

आगे पुरुषसूक्त में एक सत्ता में विश्वास दृढ़ हो गया और विराट शरीर की कल्पना

---

१. वैश्वानर अग्नि मनुष्यों म क्षुधारूप से स्थित है। वह आकाश के ऊपर भी है तथा पृथ्वी के गर्भ में भी। वह रोदसी (द्यावा पृथ्वी) का शिर है। पर्वत आदि में जो धन है, मेघ मे जो जल है अथवा ज्वालामुखी पर्वतों में जो उत्पादन बढ़ाने वाले पदार्थ हैं, उनका स्वामी अग्नि है। रोदसी अपने पुत्र वैश्वानर को उत्पन्न कर इतनी बड़ी हो गई। विद्युत् रूपी वैश्वानर अग्नि मेघों को भेदकर उनसे जल की वृष्टि करता है। ऋग्वेद १-५९।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

में समाज के चतुर्वर्णों की भी व्याख्या हो गई। आर्य-जाति का प्राथमिक यज्ञवाद उनके समतावाद का प्रतीक था किन्तु पशुचारण के साथ कृषि का संयोग होते ही आर्यों को श्रमविभाजन करना पड़ा और विजित जातियों को शूद्र रूप में स्वीकार करना पड़ा क्योंकि शासक व शासित, भोक्ता व उत्पादकवर्ग अलग-अलग हो गये थे। पुरुषसूक्त में सर्वप्रथम "शूद्र" शब्द प्रयुक्त हुआ।

पुरुषसूक्त तक वर्णवाद व वर्गवाद विकसित हो चुका था। अतः सारे समाज को इन्हीं विभागों में से रखने का प्रयत्न हुआ और जो बाहर रह गये उन्हें समाज से बाहर रहना पड़ा। चांडाल व अंत्यज आज तक समाज से निष्कासित हैं। यही वह समय था जब समाज का एक वर्ग निश्चित रूप से केवल अध्ययन, चिन्तन व धर्म के लिए अलग हो गया। श्रम और चिन्तन को अलग-अलग स्वीकार कर लिया गया। अतः विचार क्रिया के समानान्तर दौड़ने लगा और ब्राह्मणों की शक्ति केवल यज्ञादि कराने अथवा दार्शनिक समस्या सुलझाने में लग गयी। चिन्तन, अध्ययन तथा धार्मिक कार्य व्यवसाय के रूप में चल पड़ा।

यह ब्राह्मण-पौरोहित्य, जिसकी श्रेष्ठता "पुरुषसूक्त" में स्वीकार कर ली गई थी, उस चिन्तन के लिए उत्तरदायी है जिसमें व्यवसाय प्रधान हो गया और समाज की विषमता का समर्थन होने लगा। सामाजिक मर्यादा में ब्राह्मण चोटी पर जा बैठा और सारे समाज को वर्ण के शिकंजे में कसना आरम्भ किया। जो इस शिकंजे में न आते थे और प्रायः ऐसा होता था क्योंकि अन्य जातियों के आक्रमण होते थे, उन्हें वर्णसंकरों में डालकर हेय दृष्टि से देखा जाने लगा। इस प्रकार नाना जातियों-उपजातियों का एक विराट जन समूह तैयार हो गया और वर्णवाद समाज को व्यवस्थित रूप देने तथा उसके सदस्यों की मर्यादा रखने में बाधक सिद्ध होने लगा। महत्त्वाकांक्षी ब्राह्मणवाद के आगे अन्य जातियों को सर्वदा हीनता का अनुभव होता और ब्राह्मण ने कभी इसकी चिंता नहीं की। राजनीतिक प्रभाव को भी ब्राह्मणों ने अपने हाथ में रखा परन्तु फिर भी इस देश में ब्रामण-युग में ब्राह्मण का संरक्षण ऐच्छिक रहा। रोमन चर्च की तरह राजा पर ब्राह्मण का अधिकार न था। यह दूसरी बात थि कि राजा को ब्राह्मणों के परामर्श से ही चलना पड़ता था। सभा व समितियाँ भी क्षत्रियों के अधिकार को कम करते थे परन्तु यह सब राजा के लिए ऐच्छिक था। इसीलिए आगे चलकर ब्राह्मण-युग के पश्चात् राजा सर्व-स्वतन्त्र हो गये और ब्राह्मणों को राज्य कर्मचारियों का दर्जा प्राप्त हो गया। दुर्योधन व द्रोणाचार्य इसके उदाहरण हैं। परन्तु ब्राह्मण युग में अर्थात् उत्तरवैदिक काल मे जब "ब्राह्मण ग्रंथों का निर्माण हुआ तब ब्राह्मण ही सिरमौर था और राजा उसके बिना कुछ न कर सकते थे। ब्राह्मण के क्रोधित होने पर राजा व राज्य कम्पित हो उठते थे। अपने यज्ञवाद, ज्ञान के एकाधिकार तथा सामाजिक मर्यादा से ब्राह्मण अबध्य और अदंड्य था।

इस ब्रामणवादी यज्ञवाद व ज्ञान के एकाधिकारवाद के विरुद्ध दो विद्रोह हुए–प्रथम सांख्य-दर्शन तथा द्वितीय उपनिषद् का ब्रह्मवाद।

स्थूल यज्ञवाद के विरुद्ध उपनिषदों ने विश्व की एकता का सिद्धान्त खोज निकाला।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उपनिषद् का मर्म यह है कि आत्मा एक है और समष्टिगत सत्ता तथा व्यष्टिगत सत्ता में कोई अंतर नहीं है। जगत् के संबंध में उपनिषदों में एक मत नहीं है। सांख्य ने स्पष्टतः प्रकृति और पुरुष को अलग-अलग स्वीकार किया और सृष्टि का विकास सर्वप्रथम त्रिगुणात्मक बताया। विचार के क्षेत्र में कपिल के इस आविष्कार से वेद विरोधी होने पर भी उन्हें ऋषि स्वीकार कर लिया गया और बाद में उन्हें अवतार मान लिया गया। सांख्यशास्त्र का महत्त्व इसी बात में है कि उसने भारतीय मस्तिष्क पर सबसे अधिक प्रभाव डाला है। बौद्ध व जैन मतों पर भी सांख्य का प्रभाव है। त्रिगुणों की कल्पना को सभी ने स्वीकार कर लिया क्योंकि सृष्टि व व्यक्ति के सभी अनुभवों को उससे स्पष्ट किया जा सकता था। जिस पुरुषशक्ति का स्तवन वेद ने पुरुष सूक्त में किया था तथा ब्राह्मणों ने जिसका नाना प्रकार से वर्णन किया था, उसे सांख्य ने निष्क्रिय घोषित किया और सारा कार्य "प्रकृति" से लिया जो एक सूक्ष्म शक्ति है, अहंकार व बुद्धि के रूप में विभक्त होकर जो सभी प्रकार की सृष्टि में, पुरुष का सहकार प्राप्त होते ही स्वतः समर्थ है। सांख्य ने २५ तत्वों की कल्पना की और इन तत्वों से ही सारी सृष्टि की रचना को समझा दिया। तत्वों के आधार पर विश्लेषण करने की यह पद्धति न्याय व वैशेषिक में आगे विकसित होती गई। यही नहीं, स्थूल यज्ञवाद के विरोधी परन्तु फिर भी यज्ञ की आध्यात्मिक व्याख्या करने वाले परिव्राजक ब्राह्मणों ने सृष्टि की व्याख्या सांख्य के आधार पर की है। सांख्य के द्वैतवाद को अवश्य ब्राह्मणवादी चिंतन स्वीकार नहीं कर सका परन्तु वह स्वयं आत्मा परमात्मा की एता स्थापित करके भी आज तक यह नहीं समझा सका कि जगत् व ब्रह्म में क्या संबंध है और ऐसा क्यों है?

सांख्य का साधना पक्ष और भी अधिक स्वीकृत हुआ। प्रकृति के आकर्षण से विरत होकर अपने स्वरूप में स्थित हो जाना ही सांख्य-साधना है। बौद्धों की निर्वाण कल्पना पर इसी का प्रभाव पड़ा है। इच्छा का उपराम हो जाना ही "निर्वाण" है और सांख्य में भी प्रकृति द्वारा उत्पन्न आन्दोलन का शांत हो जाना ही "कैवल्य" है। "आत्मा-रमण" ही उसका स्वरूप है। "स्थितप्रज्ञता" यही है। गीता के इस तटस्थता के सिद्धान्त को चुनौती नहीं दी जा सकती और जो लोग सांख्य और परम्परावादी आर्य अद्वैतवाद को परस्पर विरोधी दर्शन समझते थे, उन्हें फटकारते हुए कृष्ण को कहना पड़ा था–

सांख्ययोगौ पृथक् बालाः प्रवदन्ति न पंडिताः। गीता, ५–३

सांख्य दर्शन की तटस्थता आत्मवादी सिद्धान्त में अंतर्भुक्त कर ली गई। बौद्धों ने आत्मवाद का विरोध किया। मुक्ति की आनन्दमय कल्पना के वे विरोधी थे परन्तु प्रवृत्तियों से तटस्थता तथा इच्छा की उपरामता के सिद्धान्त को बुद्ध ने चुपचाप स्वीकार कर लिया था अतः सांख्य दर्शन का ऐतिहासिक महत्त्व स्पष्ट है। भारतीय दर्शन में ब्राह्मणवादी चिंतनधारा में तब परिस्थितियों के अनुसार बदलने की अद्भुत क्षमता थी। अतः उसने सांख्य के आकर्षक तत्वों को सोखकर उसके वेद विरोधी रूप की निन्दा की तथा पुरुष व प्रकृति के द्वैत को स्वीकार कर लिया परन्तु कपिल से जो ग्रहण किया उसके बदले उन्हें ब्राह्मणों ने भगवान मान लिया। ज्ञान के प्रति कृतज्ञता की भावना बड़ी प्राचीन भावना

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

है और आज भी भारतीय संस्कृति में ओतप्रोत है।

सांख्य ने प्रकृति को सर्वशक्तिमती स्वीकार किया था और विकास के लिए केवल पुरुष का सहकार ही आवश्यक माना था। आज का विज्ञान भी प्रकृति को सर्वशक्तिमती मानता है और प्रकृति की व्याख्या के लिए किसी बाहरी सत्ता की आवश्यकता स्वीकार नहीं करता। यद्यपि प्राचीन भारतीय दर्शन कल्पना व अनुभूति (स्पैक्यूलेशन तथा परसनल एक्सपीरियेन्स) पर आधारित था परन्तु कल्पना की प्रक्रिया में कुछ वैज्ञानिक सत्य भी मिल जाते थे। आज सांख्य का अनुमान वैज्ञानिक सत्य के रूप में स्वीकार कर लिया गया है।

आरण्यक व उपनिषद् के अरण्यवासी व परिव्राजक ब्राह्मणों की समन्वय शक्ति का दूसरा प्रमाण यह है कि उपनिषदों का मूल चिंतन वस्तुतः मेधावी क्षत्रिय राजाओं की कल्पना पर आधारित था। जो स्थूल यज्ञवाद व ब्राह्मण पौरोहित्य से तंग आ गये थे। ब्राह्मण व क्षत्रियों के राजनीतिक प्रभाव के लिए द्वन्द्व इतिहास में प्रसिद्ध है। इस प्रकार का द्वन्द्व ज्ञान के क्षेत्र में भी था। व्यवसायी ब्राह्मणों के यज्ञवादी दल की परिणति मीमांसा दर्शन में हुई किन्तु मीमांसा दर्शन साम्प्रदायिक दर्शन के रूप में ही रह गया, उसे आगे चलकर कभी भी व्यापक प्रोत्सहन न मिल सका। बौद्धों के विरुद्ध ब्राम्हणवादी पुनरुत्थान में कुमारिल जैसे नेताओं का सम्मान अवश्य अधिक हुआ किन्तु वह भी इसलिए कि मीमांसा ने भी सूक्ष्म तर्कपद्धति का आविष्कार कर लिया था और उससे स्थूल यज्ञवाद की रक्षा की जाती थी परन्तु स्वयं इस तर्क विरुद्ध प्रक्रिया का खंडन शंकर को करना पड़ा था।

अतः उपनिषद्-युग में क्षत्रिय विद्रोह की महत्ता को याज्ञवल्क्य, आरुणि, उद्दालक, आरुणी, श्वेतकेतु आदि नेताओं ने समझा और जनक, अश्वपति कैकेय, ब्रहद्रथ, अजातशत्रु आदि मेधावी क्षत्रिय राजाओं के सूक्ष्य आत्मवादी सिद्धान्त को स्वीकार कर स्थूल यज्ञवाद का विरोध किया परन्तु वर्ग-हित को ब्राह्मण कैसे भूल सकता था? अतः यज्ञों की प्रतीकात्मक व्याख्या की गई और इस प्रकार साधना के निम्न सोपानों के रूप में उसे स्वीकार कर लिया गया। अतः उपनिषदों के समन्वय के नीचे ब्राह्मणों का वर्ग स्वार्थ था तभी वेदों का खंडन वे बौद्धों की तरह न कर सके और बौद्धों व जैनियों के सम्प्रदाय के पूर्व तक हिंसा प्रधान कर्मकांडों की परम्परा अखंड रही। दूसरे, विचार का क्रिया के साथ संबंध न होने पर संन्यासी अद्वैतवादियों का प्रभाव केवल समाज के बहुत थोड़े से लोगों पर पड़ा। संन्यासियों की तटस्थ नीति ने आक्रामक-पद्धति को स्वीकार नहीं किया अतः यज्ञवादी निडर होकर पशुबलि करते रहे और उपनिषदों का नरम सुधारवाद समाज में क्रान्तिकारी परिवर्तन न कर सका। इसके साथ ही संन्यासियों ने "आत्मरमण" की धुन में जातिवाद, वर्णवाद की भी आलोचना नहीं की। स्वयं सन्यासी निजी रूप में इन सबसे परे हो गये परन्तु समाज की अवस्था पर प्रहार न होने से उपनिषद् युग एक विरोधाभास से संयुक्त हो गया। दार्शनिक समता का प्रचार हुआ। शुनि व श्वापक में भी एक ही ब्रह्म के दर्हन होने लगे क्योंकि समाज के उत्पादक वर्ग को भी मानसिक समता की आवश्यकता का अनुभव हो रहा था। वर्ग-संघर्ष, जातिप्रथा, क्षत्रियवाद तथा दासप्रथा

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

के रूप में चल रहा था। इसे कम करने का एक ही मार्ग था कि मानसिक समता की घोषणा की जाय। अतः परिव्राजक "सर्वत्र एक ही आत्मा विद्यमान है," इस उपदेश से जहाँ वैयक्तिक महानता को प्राप्त कर सके वहाँ तिलमिलाते हुई उच्चवर्ग विरोधी शक्तियों को भी सांत्वना दे सके। उपनिषद् के समन्वयवाद का यही रूप था।

समन्वय का तीसरा स्वरूप श्वेताश्वतर उपनिषद् में दिखाई पड़ता है। वैदिक युग में रुद्र, वाक् आदि की स्तुति तो की गई थी परन्तु फिर भी जनता के देवता व शिव की स्वीकृति आर्यों के बुद्धिवादी उच्चवर्ग द्वारा स्थापित दर्शन में होनी आवश्यक थी अतः श्वेताश्वतर उपनिषद् में रुद्र = पुरुष = ब्रह्म को एक मान लिया गया। सांख्य का संबंध भी स्वतः शैव उपासना से हो गया था क्योंकि ये दोनों मत मूलतः वेद-विरोधी थे। महाभारत और पुराणों मे शिव का संबंध सांख्य से दिखाया गया है।[1] सांख्य में प्रकृति को स्त्री माना गया है। संभवतः शक्ति उपासना का सांख्य पर प्रभाव पड़ा हो।[2] यही नहीं, शैवों को यहाँ तक महत्त्व दिया गया कि केन उपनिषद् में स्पष्ट कहा गया है कि "उमा हेमवती" ने देवों को ब्रह्म-ज्ञान दिया था।[3] चूँकि शैव मत जनता का मत था अतः उच्चवर्ग में पूर्णरूप से घृणा नहीं मिट सकी थी। इसीलिए मैत्रायणी उपनिषद् में रुद्र को तमोगुण का व विष्णु को सत्वगुण का देवता कहा गया है।[4] आगे चलकर सूत्रकाल में शिव में सभी जनता में प्रचलित कर लिया गया परन्तु ये सूत्र बहुत बाद के हैं।

वैदिक साहित्य में पूर्वी प्रांतों के लिए गम्भीर घृणा मिलती है,[5] वहाँ के निवास का निषेध किया गया है और वहाँ के निवासियों को दस्यु आर्य कहा गया है। वस्तुतः आदिवासियों को छोड़कर आर्यसंस्कारों से दूर पड़ जाने वाले लोग ही पूर्व में रहते थे जो ब्राह्मणों के राज्य-सत्तावाद के विपरीत रक्त-गौरव पर आधारित गणतन्त्र व्यवस्था को मानते थे। इन गुणों को रक्त की पवित्रता व उसकी रक्षा का आज के गौरांग महाप्रभुओं से भी अधिक अभिमान था तथा दासों को हेय दृष्टि से देखा जाता था।[6] रक्ताभिमानी गणों में उत्पादक वर्ग पर कठोरता का अभाव न था और दास तथा कमकरवर्ग के रक्त पर गणों के मुखियाओं के वैभव व विलास के साधन जमा होते थे परन्तु गणों में आपसी एकता रहती थी और राजा चुना जाता था जो अपने को किसी सम्राट से कम न समझता

---

१. द्रष्टव्य–शैवमत–डा. यदुवंशी, पृष्ठ ४०।
२. वही।
३. वही।
४. मैत्रायणी उपनिषद्–४, ५।
५. इन्द्र ने मगधवासी कीकटजाति के दस्युओं की गायों को छीनकर उन्हें आर्यों को दे दिया। ऋग्वेद ३।५३।१४। देखिए "हिन्दू धार्मिक कथाओं के भौतिक अर्थ" त्रिवेणी प्रसाद सिंह पृष्ठ ३५।
६. शाक्यों के रक्त की रक्षा व गौरव प्रसिद्ध है। प्रसेनजित द्वारा विवश होने पर शाक्यों ने एक दासीपुत्री शाक्यवंशी घोषित कर छल से प्रसेनजित को विवाह दिया था जिसका पुत्र विडूडभ हुआ जिसने शाक्यों के छल को जानकर शाक्यों का क़त्लेआम किया। ऐसा नरसंहार भारत के इतिहास में कभी नहीं हुआ।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

था। ये गण अन्य गणों से बराबर लड़ते थे तथा कभी-कभी आपस में मिलकर ब्राह्मणवादी राजाओं से लोहा भी लेते थे। देश पर बाह्य-आक्रमणों के समय प्रबल केन्द्रीय सत्ता न होने से ये गण रक्षा की दृष्टि से देश के लिए घातक थे तथा सामन्तवाद की स्थापना के लिए रोड़े थे क्योंकि प्राचीन गण-व्यवस्था स्थानीय प्रान्तीय प्रभुसत्ता में विश्वास करती थी, किसी केन्द्र के आधीन होकर रहने की बात सुनकर ही गण खून पी जाने को तत्पर हो जाते थे अतः ऐतिहासिक दृष्टि से गणों में समानता का भाव अधिक रहने पर भी गण-व्यवस्था पतनोन्मुख थी। ६०० बी.सी. के आसपास देश के पूर्वी भागों मे प्रबल गण-व्यवस्था थी। इन्हीं गणों के विचारक ब्राह्मणवादी विचारधारा के शत्रु थे क्योंकि उनमें जातिवाद, भेदभाव कम था, राजा वंशानुगत न था। महावीर व बुद्ध इन्हीं गणों के विचारक थे जिन्होंने सर्व प्रथम भारतीय दर्शन का प्रवाह झटके के साथ एक दूसरी दिशा में मोड़ दिया और समन्वय के नए मार्ग सामने आने लगे।

प्राचीन गणों की विचारधारा जैन दर्शन व बौद्ध दर्शन में मिलती है। जैन दर्शन में आचारवाद प्रधान होते हुए भी स्यातवाद तथा अनेकान्तवाद दार्शनिक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण हैं। गौतम बुद्ध ने ''प्रतीत्यसमुत्पाद'' व ''क्षणिकवाद'' का प्रवर्तन किया। भारत में ईसा पूर्व ६००से लेकर ईसा के पश्चात् दसवीं शताब्दी तक का इतिहास बड़े ऊहापोह का इतिहास रहा है। ब्राह्मण विचारधारा को अस्वीकार कर, महावीर व बुद्ध ने जीवन जगत् व चिरन्तन सत्ता की नवीन व्याख्याएँ कीं परन्तु ये सम्प्रदाय मूलतः सुधारवादी थे और इनके सिद्धांतों के लिए उपनिषद् तथा सांख्य दर्शन के रूप में भूमि प्रस्तुत हो चुकी थी अतः जैन-बौद्ध सिद्धांतों को निरपेक्ष रूप से नहीं देखा जा सकता।

विश्व के चिंतन के इतिहास में शायद सबसे अधिक उदारता जैनियों के स्यात्वाद व अनेकान्तवाद में दिखाई देती है। ब्राह्मणों के उग्र विरोध के कारण जैन मत ने सत्य की जो व्याख्या की उसका रूप अत्यधिक उदार बनाया। उनके अनुसार ''सत्य'' की पहचान व्यक्ति करता है और व्यक्ति अपने दृष्टिकोण से सत्य को देखता है अतः सत्य का एक अंश ही सम्मुख आता है। यह अंश सत्य का अंश होने से सत्य ही है, असत्य नहीं है परन्तु कोई अन्य व्यक्ति सत्य के अन्य अंश को देखता है तब भी उसे सत्य मानना चाहिए क्योंकि वह भी सत्य के एक अंश का साक्षात्कार करता है। अतः सत्य की शोध में दुराग्रह व्यर्थ है। कदाचित् यह भी सत्य है, हमें यही कहना चाहिए; हमारे द्वारा जाना गया सत्य ही सत्य है, अन्यों के द्वारा जाना गया सत्य नहीं है, ऐसा नहीं कहा जा सकता। यही ''स्यात्वाद'' है।

स्पष्ट है कि यह ''स्यात्वाद'' अत्यधिक उदार है, इसके पीछे समन्वय व सामञ्जस्य की प्रवृत्ति स्पष्ट है। अपने मूल दार्शनिक रूप में यह पुष्ट आधार पर आधारित है कि सब कोई पूर्ण को नहीं देख पाते, अंश को देख पाते हैं, हाथी का पैर भी हाथी है और उसकी पूँछ भी परन्तु न केवल पैर ही हाथी है और न केवल पूँछ ही। अतः ब्राह्मणों ने सत्य के अंश को अवश्य जान लिया है परन्तु अन्य विचारकों ने भी सत्य की पहचान

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

की है। अतः उनकी बात भी विचारीय है। साथ ही इस स्यातवाद में ब्राह्मणों का खंडन भी छिपा हुआ है। चूँकि ब्राह्मणों को आत्मा व ब्रह्म की एकता, आत्मा का सर्व शरीरी, एवं ब्रह्माण्ड व्यापी होने में दुराग्रह है अतः उनका सिद्धान्त भ्रमपूर्ण है। अतः त्याज्य है। सिद्धांत ऐसा होना चाहिए जो "बुद्धि संगत" हो। ऐसा बुद्धि संगत सिद्धांत केवल स्यात्‌वाद ही है।

बादरायण ने स्यात्‌वाद का घोर खंडन किया है। इनके अनुसार सत्य में जैनियों द्वारा बताई हुई परस्पर विरोधी सात बाते नहीं रह सकतीं। जैन "आत्मा के मध्यमपरिमाण" का सिद्धांत भी मानते हैं, आत्मा का संकोच व विस्तार होता है यही मध्यम परिमाण है परन्तु आत्मा तो अधिकारी है अतः उसका न संकोच है न विस्तार। परन्तु बादरायण का यह खंडन भ्रान्तियों पर आधारित है। "मध्यमपरिमाण" अवश्य एक दुर्बल सिद्धांत है परन्तु स्यात्वाद आत्यंतिक सत्ता को समझने के लिए एक दृढ़ सिद्धांत है।

"स्यात्वाद" का परिणाम अनिवर्चनीयतावाद हुआ क्योंकि सत्य के विषय में घट है, घट नहीं है, आदि सात बातें जब नहीं कही जा सकतीं तब सत्य क्या है? यह स्वतः प्रश्न उत्पन्न होता है। इसका उत्तर कुन्दकुन्दाचार्य ने "समयसार" में दिया है और "समयसार" शंकर से पूर्व का ग्रन्थ है। "समयसार" में सत्य को अनिवर्चनीय कहा है क्योंकि समय की व्याख्या शब्दों में संभव नहीं है, उसे हम अनुभव कर सकते हैं, कह नहीं सकते। अतः वह अनिवर्चनीय है। संभव है कि इस स्यात्‌वादी अनिर्वचनीयतावाद का प्रभाव आचार्य शंकर पर पड़ा हो। आचार्य शंकर का सिद्धान्त वस्तुतः एक समन्वित सिद्धांत है, जिस पर महायानी बौद्धों का प्रभाव तो सभी स्वीकार करते हैं, संभवतः समयसार का भी प्रभाव रहा हो।

जैनियों की विशेषता उनका प्रबल आचारवाद है। आचारनिष्ठा से ही जैनमत जीवित रहा, बौद्धों ने आचार को सरल बनाकर जहाँ प्रचार अधिक पाया वहाँ उसमें मानवीय दुर्बलताओं के प्रवेश के लिए भी द्वार खुल गये।

गौतम बुद्ध प्रथम विचारक थे जिन्होंने मनुष्य की दार्शनिक वृत्ति को हानिकारक कहा, व्यर्थ की कल्पनाओं में उलझने से मनुष्य का क्रिया-पक्ष दुर्बल हो जाता है।[1] बुद्ध के समय

---

१. बुद्ध निम्नलिखित १० प्रश्नों के पूछने पर मौन रह जाते थे–
लोक–१. क्या लोक नित्य हैं? २. क्या लोक अनित्य है? ३. क्या लोक अन्तवान् है? ४. क्या लोक अनन्त है?
जीव व शरीर–५. क्या जीव व शरीर एक है? ६. क्या जीव दूसरा और शरीर दूसरा है?
निर्वाण–७. क्या मरने के बात तथागत मुक्त होते हैं?
८. क्या मरने के बाद तथागत मुक्त नहीं होते?
९. क्या मरने के बाद होते भी हैं, नहीं भी होते हैं?
१०. क्या मरने के बाद तथागत न होते हैं न नहीं होते हैं?
इन प्रश्नों का निषेध होने पर भी बुद्ध को जिज्ञासा शांत करने के लिए उत्तर देने ही पड़ते थे और आगे महायानियों ने उनके "मौन" की दार्शनिक व्याख्या कर उन्हें पूर्ण दार्शनिक बना डाला।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri
R
089.1
908.1

अनेकों सम्प्रदाय प्रचलित थे। उनमें सैद्धान्तिक उहापोह इतना भयंकर था कि जनता किसी भी तथ्य पर न पहुँच पाती थी और सिद्धांतों पर वाद-विवाद एक व्यवसाय बन गया था। ब्राह्मण तो इस विषय में प्रसिद्ध ही थे अतः बुद्ध ने इस प्रवृत्ति की निन्दा की। वे आत्मा-परमात्मा के वितंडावाद के समय मौन रह जाते थे परन्तु जगत् व जीव की व्याख्या तो आवश्यक थी अतः बुद्ध ने प्रतीत्यसमुत्पाद, चार आर्य सत्य, तथा अष्टांगिक मार्ग खोज निकाला।

बुद्ध ने नैतिक दृष्टि से विचार किया था। प्रतीत्यसमुत्पाद जगत् की कार्यः—कारण परम्परा को स्पष्ट करने के लिए बताया गया था और दुःखों के विनाश के लिए चार आर्य सत्यों तथा अष्टांगिक मार्ग का उपाय बताया गया था। इन सिद्धान्तों में प्राचीन सांख्य सिद्धांत की प्रतिध्वनि स्पष्ट है।

प्रतीत्यसमुत्पाद का अर्थ है प्रत्येक वस्तु किसी हेतु पर निर्भर रहती है, वस्तु उसकी पूर्व वस्तु का परिणाम है और आगामी वस्तु का कारण है। इस प्रकार कार्य-कारण-प्रवाह ही जगत् है। कार्य-कारण-शृंखला को बुद्ध ने "निदान" द्वारा समझाया था। अविद्या से संस्कार, उससे विज्ञान, विज्ञान से नाम, उससे रूप, रूप से षड्यतन, उससे स्पर्श, उससे वेदना, वेदना से तृष्णा, तृष्णा से उपादान, उससे भव, उससे जाति, जाति से जरामरण और जरामरण से दुःख उत्पन्न होता है। अतः दुःख का कारण अविद्या और अविद्या के नाश के लिए अष्टांगिक मार्ग है।

8755

प्रत्येक उत्पाद् का कोई हेतु है अर्थात् एक वस्तु स्वयं नष्ट होकर दूसरे की उत्पत्ति का कारण बनती जाती है और इसी प्रकार यह कार्य-कारण-शृंखला बन गई है, यही जगत् है। अविद्या के नाश से ही इस पर विजय संभव है। यहाँ नित्य या अविनाशी कुछ नहीं है, सब क्षणिक हैं क्योंकि पदार्थ आशुतर विनाशी है, स्वतन्त्र व निरपेक्ष कुछ नहीं है, स्थिर कुछ नहीं है, सब क्षणिक है, आत्मा न स्थिर है न निरपेक्ष। अविद्या से संस्कार व संस्कारों से आगे सृष्टि होती है। अतः अविद्या ही पुनर्जन्म का कारण है, उसका नाश अनिवार्य है। इस सिद्धान्त से न आत्मवाद को मानना पड़ता है न चार्वाकों के उच्छेदवाद को। अतः यह "मध्यमा प्रतिपदा" मार्ग है। इससे चेतना को मानकर भी चेतना को स्थायी तत्त्व नहीं माना गया।

गौतम बुद्ध मेधावी विचारक थे परन्तु उनके विचारों के लिए बहुत सी सामग्री पूर्व से ही विद्यमान थी। आवागमन, अविद्या, रूप, वेदना, संज्ञा, संस्कार और विज्ञान, कर्मवाद, संन्यासवाद, ये सब बुद्ध से प्राचीनतर सिद्धांत थे। पुरुष को तटस्थ रखकर प्रकृति की सत्ता द्वारा ही यह सब प्रपंच चल रहा है, यह भी सांख्य में कहा जा चुका था। अतः बौद्ध-दर्शन का पूर्व रूप भी समन्वयप्रिय भारतीय चिन्तन परम्परा का ही एक रूप प्रस्तुत करता है तथापि बुद्ध का "प्रतीत्यसमुत्पाद" अपनी पूरी अस्पष्टता के साथ भी आत्मा की सत्ता का निषेध कर जगत् को समझाने का महान् प्रयत्न था और इसीलिए आज के युग में जब चिन्तन आत्मा-परमात्मा के पूर्वाग्रहों से मुक्त हो रहा है, बुद्ध के कार्य-कारण-प्रवाह की व्याख्या को बहुत अधिक महत्त्व दिया जाता है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रत्येक वस्तु के पीछे कारणों की एक दीर्घ परम्परा रहती है, उन्हें खोजो, तभी वस्तु का ज्ञान हो सकता है। आज के चिन्तन का मूल मन्त्र यही है और बुद्ध ने इसे तभी घोषित किया था। कारणों के नाश से कार्य का नाश होगा और ये कारण स्पष्टतः खोजे जा सकते हैं, वे किसी दैवी सत्ता के हाथ में नहीं हैं। मनुष्य चाहे तो इन्हें खोज सकता है। अज्ञान ही दुःख का कारण है। अतः ज्ञान के लिए साधना करो, व्यर्थ के वादविवाद में रत रहकर जीवन नष्ट करना आत्मघात है। क्षणिक सुखों पर रीझ जाना व्यर्थ है।

बुद्ध के चिन्तन का यही सबसे अधिक आकर्षक पक्ष है। इधर विचारकों में एक प्रवृत्ति चल पड़ी है कि एक दल गौतम बुद्ध को सबसे बड़ा दार्शनिक मानता है और चूँकि अधिक बुद्धिसंगत होने के कारण तथा पूर्वाग्रही ब्राह्मणवादी सिद्धांतों के विरुद्ध सर्वथा साहस से युक्त नवीन सिद्धांत की खोज के कारण योरोप में बुद्ध के प्रति आकर्षण बढ़ रहा है, अतः विचारकों का यह दल बुद्ध के अतिरिक्त अन्य किसी को विचारक ही नहीं मानता। दूसरा दल बुद्ध को दार्शनिक न मानकर धर्म और समाज-सुधारक के रूप में ही मानता है। यह सब उचित नहीं है। अपनी रुचि से ऊपर उठकर तत्व की शोध होनी चाहिए। उससे बुद्ध की मौलिकता तो प्रमाणित होती ही है परन्तु साथ ही उस मौलिकता के लिए आवश्यक सामग्री उनसे पूर्व के दर्शनों में विद्यमान थी, यह भी स्पष्ट हो जाता है। स्वयं प्रतीत्यसमुत्पाद एक कार्य है और उसका कारण है सांख्य योग तथा पांचरात्र दर्शन। अहिंसा का सिद्धांत पांचरात्रों ने बहुत पहले उपनिषद युग में ही आविष्कृत कर लिया था, परन्तु उसकी ब्राह्मणों ने उपेक्षा की। कृष्ण ने सर्व प्रथम उसे स्वीकार किया था। पाँचरात्र संहिताएँ जो आज मिलती हैं वे इन्हीं पांचरात्र सिद्धांतों पर आधारित हैं जिसके बीज उपनिषद युग में बो दिये गये थे और जिनको सार रूप में गीताकार ने स्वीकार कर लिया था। यदि उपनिषद युग के अहिंसावाद को स्वीकार कर लिया गया होता तो जैन व बौद्ध मत का रूप भिन्न होता। जैन व बौद्ध सिद्धांतों ने ब्राह्मणवाद को पुनः रूप बदलने के लिए बाध्य किया और प्राचीन यज्ञवाद, ब्रह्मवाद, आत्मवाद की रक्षा के लिए षड्दर्शनों का विकास हुआ। षड्दर्शन वेदों-उपनिषदों के वाक्यों को प्रमाण मानकर चले। मीमांसा ने यज्ञ की; वेदान्तसूत्र ने आत्मवाद व ब्रह्मवाद की; योग, न्याय व वैशेषिक ने योगमूलक सांख्य की रक्षा का प्रयत्न किया। अशोक के समय से लेकर गुप्तकाल तक ब्राह्मणों ने वेदान्त-सूत्रों-पुराणों तथा षड्दर्शनों द्वारा प्राचीन सिद्धांतों को नये रूप में प्रस्तुत किया।

यह नवीन ब्राह्मणवादी धर्म "समन्वय" की प्रवृत्ति लेकर चला था। जैन बौद्ध सिद्धांतों की उपेक्षा असंभव थी क्योंकि सारी विचार-चेतना को वेद विरोधियों ने बुरी तरह झकझोर दिया था। अतः समन्वय-साधना पुनः प्रचलित हुई और पौराणिक धर्म का प्रचार हुआ। आत्मरक्षा की प्रवृत्ति में ब्राह्मणवादी कवियों ने रामायण, महाभारत तथा अन्य पुराणों में देवताओं व उपनायकों को जो व्यक्तित्व दिया, उसमें वेद-विरोधी सिद्धांत ओत-प्रोत थे। पुराणों के शिव स्पष्टतः प्राचीन रुद्र से भिन्न हो गये। वे ध्यानी बुद्ध बना दिये गये। यज्ञों

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

की मानसिक व प्रतीकात्मक व्याख्या जो उपनिषदों में हुई थी, उसका पुनरुद्धार कर लिया गया और राम व कृष्ण के व्यक्तित्वों को अधिकाधिक मानवीय बनाने का प्रयत्न किया गया। जनता के व्यावहारिक जीवन को ब्राह्मणों ने नाना मानवीय आचारों, सरल विधियों (मूर्ति पूजा आदि) से पुनः अपने वश में कर लिया और उनके सौभाग्य से ईसा के पश्चात् बौद्ध धर्म दुर्बल होता गया।[1]

ईसा के पश्चात् सारे चिन्तन में आर्येतर शक्ति-उपासना का पुनः प्रचार हुआ। योग व पुराणों में, काव्यों व आचारों में सर्वत्र शक्ति-साधना प्रचलित हो गई। शक्ति-साधना में सारी भारतीय संस्कृति को निचोड़ लिया गया था। योग में आन्तरिक शक्तियों के विकास पर ज़ोर दिया गया। अतः रूप, क्रिया व ज्ञान में जैसा सामञ्जस्य शक्ति-साधना में दिखाई पड़ा वैसा अन्यत्र दुर्लभ था। शैव, शाक्त, बौद्ध, जैन तथा हिन्दू साधनाओं में शक्ति साधना ईसा के बाद एक विशेष प्रवृत्ति है। नाना देवताओं के साथ नाना शक्तियों का आविष्कार किया गया और उन शक्तियों का सम्बन्ध प्राचीन शास्त्रों के साथ स्थापित कर लिया गया। उपनिषद् के अद्वैतवाद ने नाना देवताओं को एक ही शक्ति के विभिन्न रूपों में स्वीकार किया अतः "द्वैताद्वैत" सिद्धांत सभी शैव-शक्ति आगमों में दिखाई पड़ता है। व्यावहारिक जीवन में जनता यह भूल गई कि देवी-देवता पिण्डान्तर्गत अनेक हाक्तियों के नाम हैं तथा इनके रूपों की कल्पनाएँ आन्तरिक सत्यों व सिद्धांतों को मूर्त रूप देने के लिए हैं। अतः देवी-देवताओं की उपासना बाह्य पद्धति पर चल पड़ी। चतुर विचारकों ने देवी-देवताओं की तथा जनता में प्रचलित अशास्त्रीय धारणाओं को भी समेट लिया। तब जनता को इस पौराणिक मत को स्वीकार करने में क्या एतराज़ हो सकता था?

शक्ति साधना का विचारकों पर इतना अधिक प्रभाव था कि ईसा के बाद दार्शनिकों के दो व्यक्तित्त्व दिखाई पड़ते हैं। प्रथम—दार्शनिक अपने सिद्धांतों का मंडन तार्किक पद्धति पर करते हैं और दूसरी ओर वे शक्ति-साधक भी हैं अर्थात् योग के गुह्य रूप में तन्मय

१. डा. दासगुप्ता के अनुसार हिन्दू दर्शन व धर्म ने बौद्धों से अनेक तत्त्व लेकर हिन्दू रूप दिया है। उपनिषद् का चिंतन "स्वयंप्रकाश्यज्ञान" पर आधारित था। वहाँ व्यवस्थित दर्शन नहीं था। बौद्धों द्वारा आविष्कृत तर्क प्रणाली का प्रयोग हिन्दुओं ने अपने विश्वासों की रक्षा के लिए किया। अतः वेदान्त-सूत्र तथ षड्दर्शनों की तर्क प्रणाली हिन्दू बौद्ध दर्शन के समन्वय का प्रबल प्रमाण है। बौद्धों के पूर्व कर्म, योग, वासना, मुक्ति, प्रकृति, पुरुष, आत्मा, तृष्णा, आवागमन के सिद्धांत आविष्कृत हो चुके थे परन्तु इनका विकास पहले बौद्ध धर्म में हुआ तथा हिन्दुओं ने उसे अपना रूप दिया। केवल उसे ईश्वर, आत्मा व शास्त्र का आधार दे दिया गया। पतंजलि का योगदर्शन बुद्धयोग पर आधारित है। शंकराचार्य की माया, सच्चिदानन्द ब्रह्मवाद पर वसुवन्धु (तृतीय शताब्दी) का प्रभाव है तथा उसकी तर्क पद्धति व शब्दावली बौद्धों से उधार ली गई है। शंकर के अनुगामी श्री हर्ष तथा आनन्द ज्ञान भी बौद्धों के ऋणी हैं। भागवत सम्प्रदाय यद्यपि प्राचीनतर है तथापि पुराणों में बौद्ध शिक्षा पूर्णतया स्वीकार कर ली गई है। इसीलिए बौद्ध को भागवतों ने अवतार मान लिया। जातक व अवदान की अनेक कथाएँ पुराणों में प्राप्त होती हैं। हिन्दू तंत्र, वज्रयान व सहजयान से प्रभावित है देखिए—फिलोसोफीकल एसेज—दास गुप्ता, एस.एन.—पृष्ठ २५५ से २७५, कलकत्ता विश्वविद्यालय।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

दिखाई पड़ते हैं। यह सर्वग्राही प्रवृत्ति हिन्दू, बौद्ध सभी दार्शनिकों में दिखाई पड़ती है। जैन व बौद्ध दोनों मतों ने सिद्धांतवादिता के स्थान पर साधना को अधिक महत्त्व दिया था अतः तप के स्थान पर योग का प्रचार अधिक हुआ। जैन मत में तपस्या का अपेक्षाकृत अधिक प्रचार रहा परन्तु बौद्ध दार्शनिक हिन्दू दार्शनिकों की तरह योगी रहे।

बौद्धों के महायान सम्प्रदाय में दार्शनिक समन्वय की प्रवृत्ति अधिक दिखाई पड़ती है। अश्वघोष (ईसा के आसपास)[1] ने "तथता" का जो सिद्धान्त आविष्कृत किया वह उपनिषद् में "ब्रह्म" से मिलता-जुलता है। अंतर केवल यह है कि उपनिषदें "सत्य" का वर्णन भावात्मक रूप में भी करती हैं जबकि अश्वघोष "तथता" व "निर्वाण" को भाव अभाव दोनों में परे बताते हैं। अतः अश्वघोष के सिद्धान्तों पर उपनिषद् की उस प्रवृत्ति का प्रभाव था जिसमें सत्य को अवर्णनीय व अवांगमनसगोचर कहा गया है। उपनिषद् के भावात्मक रूप को बौद्धों ने स्वीकार नहीं किया, यहाँ तक कि बौद्ध भी मूल सत्ता को मानकर भी उसका भावात्मक रूप नहीं मानते। सत्ता न भाव है न अभाव, न दिन है न रात, न निर्वाण है न भोग, न सुख है न दुःख–इस भाषा में वे सत्ता का वर्णन करते हैं। अतः अश्वघोष की "तथता" में उपनिषद् का समन्वय स्पष्ट है परन्तु जैसा कहा कि दार्शनिक के साथ-साथ शक्ति-साधना भी प्रचलित थी अतः अश्वघोष योग भी थे और गुह्यसाधना के तत्व भी उनमें सुरक्षित हैं। यही कारण है कि इस गुह्यसाधना का रूप असंग (लगभग चतुर्थ शताब्दी) के समय तक सर्वमान्य हो गया था। "तथागतगुह्यक" के लेखक चाहे असंग न हों परन्तु चीनी परम्परा में असंग को ही तंत्रसाधना का प्रथम आचार्य माना जाता है।[2] असंग व वसुवंधु ने (३।४ शताब्दी ए.डी.) विज्ञानवाद का प्रचार किया था। विज्ञानवाद के प्रवर्तक मैत्रेय थे। वसुवंधु व स्थिरमति व असंग ने इसका विस्तार किया। विज्ञानवाद जगत् के पदार्थों की सत्ता केवल अनुमान द्वारा मानता है। चूँकि पदार्थ का ज्ञान चेतना के बिना नहीं हो सकता अतः चेतना के अतिरिक्त पदार्थ की सत्ता का कोई प्रमाण नहीं है, चेतना (विज्ञान) के द्वारा पदार्थ का अनुमान होता है। पदार्थ वस्तुतः चेतना में अवस्थित हैं जिनका प्रक्षेपण होता है। इस "आलयविज्ञान" की कल्पना विज्ञानवादियों की ही है। साथ ही "विज्ञानवाद" "अर्भूतपरिकल्प" को भी मानता है। अर्भूतपरिकल्प व उपनिषदों के ब्रह्म में नाम मात्र का अंतर है। "अर्भूतपरिकल्प" की सत्ता है, प्रथम यह बात महत्त्वपूर्ण है क्योंकि शून्यवादी कोई सत्ता नहीं मानते। "अर्भूतपरिकल्प" में द्वैत नहीं है। शून्य इसी "अर्भूतपरिकल्प" में स्थित है तथा अर्भूतरिकल्प शून्य में स्थित है।

अर्भूतपरिकल्प का अर्थ है जिसमें रचना (कन्सट्रक्शन) का अभाव हो, मानसिक रचना का अभाव। भाव-अभाव की कल्पना का अभाव ही "अर्भूतपरिकल्प" है जहाँ से आंतरिक

---

१. ८० ई.।
२. वि. भट्टाचार्य–'तथागत गुह्यक' की भूमिका।
असंग के 'साधन' नामक ग्रंथ में शक्ति साधना पूर्ण रूप से वर्णित है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

चेतना (सब्जैक्टिविटी) व बाह्य पदार्थ ज्ञान (आब्जैक्टी) उत्पन्न होता है, जो इन दोनों का आधार है, वह है "अर्भूतपरिकल्प"। यहाँ कोई द्वैत नहीं है, जो अवर्णनीय है वह है "अर्भूतपरिकल्प"।[1]

बौद्ध दार्शनिकों में विज्ञानवाद तो चेतना को मानता है परन्तु शून्यवाद भाव (एग्जिस्टेन्स) तथा अभाव सबका निषेध करता है। निषेध ही उनका दर्शन है परतु शून्यवाद भाव (एग्ज़िस्टेन्स) तथा अभाव सबका निषेध करता है। निषेध ही उनका दर्शन है परन्तु शून्यवाद की तटस्थ परीक्षा से स्पष्ट है कि शून्य को सत् व असत् से परे बताकर स्वयं शून्य को एक सत्ता के रूप में स्वीकार कर लिया जाता है। शून्यवादी एक प्रकार के अनिवर्चनीयतावादी हैं—अज्ञेयवादी। सत्ता का निषेधात्मक रूप में ही वर्णन हो सकता है, यह तथ्य स्वयं माध्यमिक दर्शन से स्पष्ट है। अतः शून्यवाद व विज्ञानवाद वस्तुतः उपनिषद् की भूमि पर ही विकसित दर्शन हैं। जिस प्रकार शंकर बौद्धों का विरोध करते हुए भी विज्ञानवाद व शून्यवाद को अपनाते हैं उसी प्रकार विज्ञानवाद व शून्यवाद सत्ता के वर्णन में नैरात्म्यवाद को स्वीकार करते हुए भी सत्ता का वर्णन उपनिषद् को स्वीकार करके ही करते हैं। यह कहने से कुछ नहीं होता कि उपनिषद् भावात्मक हैं, अतः बौद्ध उनके विरोधी हैं। विज्ञानवाद व शून्यवाद द्वारा वर्णित "निर्वाण" का वर्णन व उपनिषदों के ब्रह्म का वर्णन मिला लेने पर अद्‌भुत सादृश्य मिलता है।[2] तथागत् का वर्णन भी इसी प्रकार का है। अतः जो विचारक विज्ञानवाद व शून्यवाद को निरपेक्ष रूप से उपनिषदों से अलग करके देखते हैं वे किसी तथ्य पर नहीं पहुँच सकते। भारतीय चिन्तन परम्परा का स्वभाव ही यही है। विचार यहाँ अपने पूर्व विचार-स्रोतों से ही अंकुर की तरह प्रस्फुटित हुआ है। कहीं भी आकाशलता के समान विचार की सत्ता स्वीकार नहीं की जा सकती।

असंग व नागार्जुन दोनों दार्शनिक होने के साथ-साथ शक्ति के उपासक थे। नागार्जुन का संबंध "श्रीपर्वत" से स्थापित किया जाता है। प्रथम शून्यवादी नागार्जुन के अतिरिक्त एक और नागार्जुन ७वीं शताब्दी में हुए। वस्तुतः उन्हीं को सच्चा तांत्रिक मानना चाहिए परन्तु जैसा कहा गया, ईसा के बाद दार्शनिक के दुहरे व्यक्तित्व की झांकी सर्वत्र मिलती है। अनुभूति के लिए योग साधना तथा तर्क के लिए बुद्धि की तलवार को यहाँ के दार्शनिक सदा तीखा करते रहे हैं।

ईसा के पूर्व चतुर्थ शताब्दी से लेकर शंकराचार्य के पूर्व तक बौद्ध दर्शन, शाक्त दर्शन, शैव दर्शन, पौराणिक दर्शन, योग दर्शन परस्पर आदान प्रदान की प्रक्रिया पर विकसित हुए, बौद्ध-योग-दर्शन, शाक्त व शैव योगदर्शन तथा हिन्दू योगदर्शन में, जहाँ तक साधना का संबंध है नाममात्र का अंतर है। हिन्दुओं ने केवल साधना का संबंध ईश्वर व प्राचीन वैदिक-उपनिषद् युग के विश्वासों से जोड़ दिया है। पुराणों में तो यहाँ तक आदान प्रदान

१. देखिए—एन इन्ट्रोड्क्शन टू तांत्रिक बुद्धिज्म—एस.बी. दास गुप्ता पृष्ठ २७।
२. 'जो अज्ञात है, जिसकी प्राप्ति नहीं है, जो सदैव प्राप्त है, जिसका विनाश नहीं है, जो विरुद्ध नहीं है, जो उत्पन्न भी नहीं है, उसका नाम निर्वाण है। निश्चित् रूप से बौद्ध दर्शन में उपनिषद् का समन्वय ब्राह्मण भिक्षुओं ने किया।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हुआ है कि एक ही राम हिन्दुअें के यहाँ भी पूज्य हैं, और जैनियों व बौद्धों के यहाँ भी। संभवतः जैनियों के पुराणों मे हिन्दुओं के पुराणों से तथा हिन्दुओं के पुराणों में बौद्ध जातकों व अवदानों से कथाएं अधिक ली गईं। देवी-देवताओं में भी आदान-प्रदान मिलता है।[1]

शैव, शाक्त आगमों तथा आगे विकसित तंत्र-दर्शन में वैदिक युग से लेकर शैवागमों व शाक्ततंत्रों के निर्माण के समय तक विकसित सभी संस्कृति का सार ग्रहण कर लिया गया है जबकि स्वयं तंत्र ने अपने द्वारां विकसित सिद्धान्तों का प्रभाव अन्य सभी दर्शनों पर छोड़ा है, जैसा कि हम पीछे कह चुके हैं। हिन्दू तंत्रों में वैदिकों का कर्मकांड, मीमांसा, वेदान्त, सांख्य, योग, वैष्णव धर्म (प्राचीन भागवत सम्प्रदाय या पांचरात्रमत), चरक का आयुर्वेद, ज्योतिष, गणित, पुराण सब कुछ समाविष्ट कर लिया गया है परन्तु जो परिवर्तन तंत्र ने किये हैं उन्होंने अन्य दर्शनों पर प्रभाव डाला है। अतः समन्वय की प्रक्रिया बड़ी ही संश्लिष्ट है और भारतीय दर्शन का विद्यार्थी कभी-कभी उलझन में पड़ जाता है। तंत्र-दर्शन भारतीय दर्शन के सभी विरोधी प्रतीयमान तत्वों में सामंजस्य खोजता है, वहाँ देवता–पूजा के रूप में द्वैतवाद भी है और एक ही सत्ता की स्वीकृति के कारण अद्वैतवाद भी है। उपनिषद् में ब्रह्मवाद व पुराणों के देवतावाद को तंत्रों ने बड़े ही चातुर्य से अपने द्वैताद्वैत मत में संन्निविष्ट कर लिया है। परमशिव को निष्कल कहकर भी सांख्यों की प्रकृति (तंत्रों की शक्ति) को प्रधानता देकर उसकी एक पुरुष से अभिन्नता मानकर द्वैत का समाहार अद्वैत मत में प्रधानता देकर उसकी एक पुरुष से अभिन्नता मानकर द्वैत का समाहार अद्वैत मत में कर दिया है। आरण्यकों व उपनिषदों के प्रणववाद या ओंकारवाद को तंत्रों में नाद-सिद्धांत के रूप में स्वीकार कर लिया गया है। पिण्ड व ब्रह्मांड में अद्‌भुत सादृश्य दिखाकर सारे प्राचीन योग का समावेश तंत्र में मिलता है।

इच्छा (विल), ज्ञान (थौट एक्टीविटी), तथा क्रिया (भाव, सेवा) तीनों का समन्वय वहाँ मिलता है। भारतीय दर्शन में तंत्र ही एक ऐसा दर्शन है जहाँ मनोवैज्ञानिक अनुभवों व पारमार्थिक अनुभवों मे विरोध नहीं दिखाई पड़ता। यह प्रवृत्ति बाद में तंत्र के ही प्रभाव से वैष्णव भक्तों में आई । मुक्ति को सांख्य, योग, न्याय केवल शुद्ध ज्ञान की स्थिति मानता है, बौद्धों व जैनियों का कैवल्य ही शुद्ध ज्ञान की स्थिति है जहाँ मानसिक दशाओं (साइकोलाजीकल स्टेट्स) इच्छा, भावना आदि का शमन हो जाता है। परन्तु तंत्र व वैष्णवों की मुक्ति में भाव का मुक्ति की स्थिति में प्रत्यक्ष आनन्द है। अतः मनोवैज्ञानिक व आध्यात्मिक स्थितियों का विरोध तंत्र में शांत हो जाता है। मंत्र-देवता, साध्य, साधक

---

१. **बौद्ध देवताओं व देवियों में गणपति, वज्रानंग (अनंग = कामदेव), नीलकंठ, हयग्रीव, बुद्धकपाल (महादेव), महाकाल, विघ्नान्तक (गणेश), त्रैलोक्यविजय (महादेव का रूप), गणपति-हृदय (देवी, गणेश की शक्ति) आदि हिन्दुओं के देवमंडल से उधार लिये गये तथा हिन्दुओं के यहाँ शारदा या सरस्वती (बौद्ध सरस्वती, वज्र शारदा आदि से), तारा (तारा देवी के सभी रूप बौद्ध तारा देवी से उधार लिए गए हैं), पंचरक्षामंडल, भूतडामर, एकजटा, उग्रतारा तथा महाचीन तारा बौद्धों से ली गई हैं।**

देखिए–द इंडियन बुद्धिस्ट इकानोग्राफी–लेखक विनोयतोष भट्टाचार्य।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

की चरम एकता सभी तंत्रों (शाक्त व शैव व बौद्ध तंत्रों) में मिलती है।

उपनिषद् ने स्वयं प्रकाश्य ज्ञान द्वारा सत्ता के साक्षात्कार के कारण बाह्य आचारों का निषेध किया था। इसी स्वयं प्रकाश्य ज्ञान को गौतम व महावीर ने साधना के लिए स्वीकार किया और पीछे के दर्शनों में इसी "स्वयं-प्रकाश्य ज्ञान" के साथ आचारों को मिलाकर विभिन्न साधनाएं विकसित हुईं। सारी साधनाएं व आचार इसी ज्ञान को जाग्रत करने के लिए हैं। तंत्रों में तो इसे "शाम्भवोपाय" कहा है। इस साधना में केवल सूक्ष्म आन्तरिक अनुभव (इन्ट्रोस्पैक्शन) की ही आवश्यकता है। वैष्णवों ने इसी में भावना को संयुक्त किया था तथा बौद्धों ने इसी स्वयं-प्रकाश्य ज्ञान की विलक्षणता का वर्णन निषेधात्मक भाषा में किया है अतः साधनाओं की ऊपरी विभिन्नताओं व कभी-कभी परस्‌ विरोधी रूपों को देखकर भारतीय दर्शन की अनवरत एकता को न भूलना चाहिए। केवल चार्वाक इसका विरोधी था और उसके साथ भारतीय दर्शन ने कोई समझौता नहीं किया।

शुद्धदर्शन की दृष्टि से अंतिम सबसे महान् दार्शनिक शंकारचार्य माने जाते हैं। हम पीछे उनके द्वारा किये गये समन्वय की ओर संकेत कर चुके हैं। शंकर के गुरु के गुरु गौड़पाद बौद्ध दर्शन से प्रभावित थे। मायावाद सर्वप्रथम मांडूक्यकारिका में ही मिलता है।

शंकर ने माया की परिभाषा "अनिर्वचनीय ख्याति" द्वारा की थीं और सत्ता के पारमार्थिक व व्यावहारिक दो रूप स्वीकार किये। इन पर नागार्जुन का प्रभाव है क्योंकि सापेक्ष होने के कारण नागार्जुन के अनुसार पदार्थ की परिभाषा नहीं हो सकती। शंकर ने सापेक्षता को स्वीकार नहीं किया और पदार्थ की अनिर्वचनीयता को स्वीकार कर लिया। सत्ता के दो रूप शून्यवाद पहले ही मान चुका था।[1] (१) सांवृतिक सत्य (शंकर का व्यावहारिक सत्य) (२) पारमार्थिक सत्य। हम पहले ही कह चुके हैं कि शंकर के "सच्चिदानन्द ब्रह्मवाद" पर भी वसुवन्धु की "त्रिंशिका" का प्रभाव था तथा ब्रह्म व जगत् के संबंध प्रदर्शित करने के लिए शंकर ने बौद्धों से अनेक उदाहरण व तर्क की पद्धति व शब्दावली ग्रहण की थी। यह कोई अनुचित बात नहीं थी, भारतीय दर्शन का स्वभाव ही समन्वयात्मक है। किन्तु साम्प्रदायिक हिन्दुओं ने घोषित किया था–

मायावादमसच्छास्त्रं प्रच्छन्नं बौद्धमुच्यते।
मयैव कथितं देवि, कलौ ब्राह्मणरूपिणा॥

वस्तुतः अश्वघोष, नागार्जुन, मैत्रैय, असंग, वसुवंधु, शांति-रक्षित, आदि बौद्ध "प्रच्छन्न हिन्दू" हैं और शंकर "प्रच्छन्न बौद्ध"। इसे गुण न मानकर साम्प्रदायिकों ने इस प्रवृत्ति को दोष समझा। असहिष्णु आर्यसमाजी अब भी शंकर को क्षमा नहीं करते।

बौद्ध धर्म के समानान्तर, एक ही समय में एक ओर हिन्दू षड्दर्शनों का और पौराणिक

१. नागार्जुन के अनुसार पदार्थ की परिभाषा नहीं हो सकती क्योंकि उसकी सत्ता चतुष्कोटि से परे है अतः उसे शून्य ही कहा जा सकता है–
चतुष्कोटि–(१) वस्तु सत्य है। (२) वस्तु असत्य है। (३) वस्तु न सत्य है न असत्य है। (४) वस्तु सत्य भी है और असत्य भी है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मतों का विकास हुआ और दूसरी ओर बौद्ध आदर्शवादी (आइडियलिस्ट) दर्शनों का। तंत्र इन दोनों का संगम स्थान था जिसमें साधना पक्ष सुरक्षित रूप से चल रहा था।[1] सातवीं शताब्दी के पश्चात् राजनीतिक दृष्टि से अव्यवस्था का समय था और देश के सम्मुख कोई बाह्य संकट न रहने से दरबारी साहित्य का जन्म हुआ और दूसरी ओर तांत्रिक गुह्य साधनाएं और उनमें से भी वामपक्षी साधनाएं प्रचलित हो गईं। इन साधनाओं में जाति, वर्ण, धर्म, अधर्म, सम्प्रदाय, नीति, अनीति, किसी का भी ध्यान न था। इन साधनाओं का एक पक्ष क्रांतिकारी भी था क्योंकि ये वस्तुतः किसी जाति व वर्ण में विश्वास न करती थीं और साथ ही अचारवादी तथा समाजवादी विषमता के समर्थक ब्राह्मणों का घोर विरोध करती थीं। बौद्ध सिद्धों का साहित्य इसका प्रमाण है।

साधना की दृष्टि से वामपक्षी तंत्र का साधारण जनता व निम्न मध्य वर्ग पर अधिक प्रभाव था यद्यपि कभी-कभी उच्चवर्ग के व्यक्ति भी इसमें सम्मिलित होते थे। आगे चलकर शंकर के शुष्क तत्वज्ञान के विरुद्ध रामानुज का विशिष्टाद्वैत प्रचारित हुआ। रामानुज ने पांचरात्र भक्तिभावना, व आड़वारों की भक्तिभावना व उनके प्रपत्तिवाद को स्वीकार किया। आड़वार संतों में से बहुत से संत जाति प्रथा के शिकार रहे थे। अतः उनमें ईश्वर के माध्यम से सामाजिक क्रांति का स्वर था। ब्राह्मणों ने इसे पहचान कर उन्हें सुविधाएं दीं और आगे चलकर भक्ति के क्षेत्र में जाति पांति का भेदभाव हटा लिया गया। इस सुधारवादी धारा का नेतृत्व आगे चलकर रामानन्द ने किया जिनके प्रसिद्ध शिष्य कबीर थे।

ऐसा प्रतीत होता है कि दक्षिण में दार्शनिक समन्वय में शैवों व शाक्तों ने बड़ी बाधाएं प्रस्तुत की थीं। मुख्यतः शैव असहिष्णु थे परन्तु भारतीय समन्वय की लपेट में वह भी शांत हो गये और भक्ति के क्षेत्र में शैवों, वैष्णवों तथा शाक्तों का समन्वय हो गया परन्तु यह समन्वय दक्षिणमार्गियों का था जिसका आधार था निगम-आगम-वर्णाश्रम-धर्ममूलक शैव-शाक्त-वैष्णव मत में सामंजस्य स्थापित करना। विदेशियों के आगमन के कारण, जिस प्रकार बौद्धकाल में हिन्दू साधना रक्षात्मक प्रवृत्ति को अपनाकर चली थी और उसमें व्यापक परिवर्तन हुए थे, उसी प्रकार १०वीं शताब्दी के बाद का दार्शनिक व धार्मिक इतिहास हिन्दू-दर्शनों में रक्षात्मक प्रवृत्ति के विकास का इतिहास है। निगम-आगममूलक इस प्रवृत्ति के ठीक विपरीत वाममार्गी साधना थी जिसमें वज्रयानी, सहजयानी व वामपक्षी शाक्त सम्मिलित थे। इस वामपक्षी साधना में अथर्ववेद की तांत्रिक साधना से लेकर सभी स्थानीय व जनता में प्रचलित शक्तियों की पूजा होती थी तथा इसका मुख्य स्वर रहस्यवादी व "दक्षिण-पंथ-विरोधी" था। इसी धारा की एक शाखा, पातंजलि योग को लेकर नाथपंथ

---

१. परम्परा शंकराचार्य को भी तांत्रिक मानती है। डा. गोपीनाथ कविराज शंकर को ही आगममत का प्रवर्तक मानते हैं, उनके विचार से "सौन्दर्य-लहरी" के लेखक भी शंकर थे।
देखें "शिवांक" (कल्याण) पृष्ठ ८१-९५।

—गोपीनाथ कविराज द्वारा लिखित लेख

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

के रूप में विकसित हुई। ये भी आचारविचारवादी ब्राह्मणों के विरोधी थे। इस प्रकार शंकर के पश्चात् दो भागों में सारा चिन्तन बट चुका था–(१) निगम-आगम-मूलक-चिन्तन (२) वेद विरोधी तांत्रिक, रहस्यवादी चिंतन। प्रथम मार्ग मे रामानुज, निम्बार्क, बल्लभ, मध्व तथा चैतन्य आदि दार्शनिक हुए दूसरे में इन्द्रभूति, शांतिरक्षित, सरहपा, कन्हपा, आदि। नाथपंथ में हठयोग था, गोरखनाथ उसके प्रचारक थे। नाथपंथ वज्रयान तथा सहजयान के योग व शब्दावली को लेकर भारतीय संतमत का विकास हुआ, कबीर इसके प्रतिनिधि थे तथा उपनिषद्, पुराण, स्मृति आदि के आधार पर वैष्णव सम्प्रदाय, परन्तु समन्वय का व्यापक रूप यहाँ भी दिखाई पड़ता है। वैष्णव धर्म यद्यपि निगम-आगम-मूलक था परन्तु पौराणिक मत स्वयं बौद्ध धर्म से प्रभावित था। ब्रह्मवैवर्त पुराण तथा मुख्यतः भागवतपुराण वज्रयानी, सहजयानी तथा शाक्तों की "शक्ति"-पूजा-साधनाओं से ओतप्रोत था। अतः वैष्णव चिंतन में तांत्रिकशक्तिपूजा का ही शुद्धरूप मिलता है। राधा, कृष्ण तथा उनकी अनेकों सखियों की प्रेमक्रीड़ाओं में तथा तांत्रिकों के श्रीचक्रों में थोड़ा ही अंतर मिलता है। वैष्णवसाधना का मुख्य आधार है "राग" द्वारा सत्य की प्राप्ति और तंत्रों व पुराणों का भी आधार है राग द्वारा सत्य की प्राप्ति। विवेकवादी दार्शनिक रागद्वेष के शमन का उपदेश देते थे और तांत्रिकों तथा वैष्णवों ने इसी "राग" को उपासना का माध्यम बनाया था। अतः १०वीं शताब्दी के पश्चात् की साधना में भी परस्पर समन्वय स्पष्ट दिखाई पड़ता है। कबीर योगी भी थे और वैष्णव भी, तुलसी के शिव वैष्णव हैं और विष्णु शैव हैं। कहीं कोई विरोध नहीं है, यदि विरोध है तो उस समाज की व्यवस्था के सम्बन्ध में निगम-आगम-मूलक दक्षिणपंथी शाक्त व वैष्णव वर्ण व्यवस्था के विरोधी नाथों व संतों का कड़ा विरोध करते हैं जबकि संत कवि कबीर आदि भी उनकी शास्त्रीयता, आचार, जातीयता व भेद बुद्धि का डटकर मज़ाक उड़ाते हैं और नाथपंथी तो अपने को सबसे उच्च मानते हैं परन्तु योग व भक्ति का, भक्ति व वेदान्त का, द्वैत व अद्वैत का, शैव व शाक्त का, अब विरोध कहाँ है?[१] रक्षा के लिए प्रयत्न करने वाली जाति में आपस में यह सहिष्णुता अवश्य उत्पन्न हो जाती है यद्यपि वह समाज को बदलने के लिए प्रस्तुत नहीं होती।

इस निबंध में यह संभव नहीं था कि हम दार्शनिक समन्वय के अध्ययन को अत्यधिक विवरणात्मक बनाते क्योंकि इसके लिए तो महाग्रंथों की आवश्कता है। भारतीय दर्शन

---

१. बौद्ध व वैष्णव साधना व चिन्तन के समन्वय का इतिहास उत्कल (उड़ीसा) में बड़ा ही विचित्र और शिक्षाप्रद रहा है। वहाँ अच्युतानन्ददास, बलरामदास, जगन्नाथदास, अनन्तदास, यशवन्तदास, चैतन्यदास (१६वीं शताब्दी) आदि वैष्णव भी थे और बौद्ध भी। उन्होंने बौद्ध चिंतन व वैष्णव साधना का इतना विलक्षण समन्वय किया है कि देखते ही बनता है। वेदान्त व शून्यवाद को भक्ति व अवतारवाद का तथा बुद्ध व कृष्ण को एक कर उड़ीसा के मयूरभंज जिले में "वैष्णव-बौद्धमत" बराबर प्रचलित रहा और अब उसका पुनरुद्धार हो रहा है। देखिए—मोडर्न बुद्धिज़्म एंड इट्स फैलोज़ इन उड़ीसा।

—एन.एन. वासु

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कई सहस्त्र वर्षों से विकसित हुआ है अतः इस लेख में हम केवल दार्शनिक व अन्य मान्यताओं के मिलन बिन्दुओं की ओर संकेत ही कर सके हैं। जैनधर्म के सम्बंध के साथ अन्य भारतीय साधनाओं के संबंध पर इस लेख में प्रकाश बहुत कम पड़ सका है। वस्तुतः इस दिशा में अभी अध्ययन की बहुत बड़ी आवश्यकता है।

भारतीय दर्शन की मुख्य पहचान यह है कि वह सत्ता की खोज, तार्किक व वैज्ञानिक बुद्धि को संतुष्ट करने के लिए नहीं अपितु किसी अतीन्द्रिय सत्य की प्राप्ति के लिए करता है। इसी के कारण ईश्वर आत्मा के सम्बन्ध में परस्पर विरोधी मत मिलने पर भी आत्मा के विषय में भी आगे चलकर बौद्ध, जैन व हिन्दू मतों में अन्तर नहीं रहा। बौद्धों को भी किसी न किसी रूप में चेतना (प्योर इन्टलीजैन्स) को स्वीकार करना पड़ा। कर्मवाद, पुनर्जन्मवाद तथा मुक्ति इन तीन तत्वों के सम्बन्ध में पूर्ण एकमत्य मिलता है और दार्शनिक दृष्टि से यही तीन सिद्धान्त भारतीय दर्शन में सबसे अधिक दुर्बल और अप्रमाणित कहे जा सकते हैं।[1] भारतीय दार्शनिकों ने समाज की स्थिति को अपरिवर्तित रूप में स्वीकार किया अतः उसकी विषमता को समझने के लिए पुनर्जन्मवाद व कर्मवाद की कल्पना करनी पड़ी तथा दुखों के आत्यन्तिक विनाश के लिए उन्हें मनुष्य के सहज मनोभावों तथा आध्यात्मिक अनुभवों (मुक्ति, निर्वाण, कैवल्य) में द्वन्द्व दिखाई पड़ा और राग व मुक्ति में भारतीय दार्शनिक निश्चित सम्बन्ध न दिखा सके। रहस्यवादियों व तांत्रिकों ने जिनका अनुकरण पुराणों व वैष्णवों ने किया, अवश्य राग व मोक्ष में सम्बन्ध स्थापित किया परन्तु उसका रूप वहाँ दार्शनिक कम, रहस्यवादी व श्रद्धात्मक अधिक है। अतः समाज के दुःखों की अनुभूति पूर्ण रूप से करने पर मानव जीवन व सामाजिक जीवन का समन्वय न हो सका।

व्यष्टिगत चेतना (जीव) व समष्टिगत चेतना (ब्रह्म) के सानिध्य स्थापित करने में ही भारतवर्ष ने शताब्दियों व्यतीत कीं। परन्तु व्यक्ति व समाज की पारस्परिक क्रिया-प्रतिक्रियाओं का दार्शनिक समन्वय सम्भव न हो सका। इसीलिए भारतवर्षीय दार्शनिक समन्वय का स्वरूप आदर्शवादी, साधनात्मक और चिंतनात्मक तथा वैयक्तिक अधिक है।

वैदिक मत में कबीलों की उन्नति पर ध्यान था, उपनिषद् में केवल वैयक्तिक मुक्ति मुख्य हो गई और समाज के एक बड़े भाग से जो वस्तुतः उत्पादक वर्ग होने से मुख्य वर्ग था, बौद्धिक कार्य छीन लिया गया। वर्णाश्रम धर्म में समाज को जकड़ देने के कारण "साधारण धर्म" की आवश्यकता हुई थी जिसे जैन व बौद्ध मतों ने पूरा किया था परन्तु इसमें भी वैयक्तिक मुक्ति ही उद्देश्य रही क्योंकि दुःख को पहचान कर भी समाज की व्यवस्था को बिना बदले हुए व्यक्ति के दुःख कैसे दूर हो सकते थे? यही एक प्रश्न गौतम व महावीर के सम्मुख था, और दोनों ने जो समाधान प्रस्तुत किया वह वैयक्तिक मुक्ति के लिए ही था। व्यक्ति के रोग, दुःख अशिक्षा, अज्ञान, दमन, पीड़न, निर्बलता आदि

१. देखिए फिलोसोफीकल ऐसेज़ में डॉगमाज आव इंडियन फिलोसोफी—दास गुप्ता

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

का कारण व्यक्ति के रोग, दुःख, अशिक्षा, अज्ञान, दमन, पीड़न, निर्बलता आदि का कारण व्यक्ति की तृष्णा या अज्ञान को बताया गया और तृष्णा या इच्छा के नाश के लिए पुनः उपनिषदों के ऋषियों की तरह साधना प्रारम्भ हो गई। अतः बौद्ध मत व जैन मत सुधारवादी दर्शन होकर रह गये और जो समन्वय हुए वे सब आदर्शवादी और वैयक्तिक साधनाओं व मान्यताओं में ही हुए जिससे विचारों की उदारता के कारण भारत में प्रोटेस्टैन्टों व कैथोलिकों की तरह भयंकर धर्मयुद्ध अवश्य नहीं हुए। परन्तु भले ही यहाँ उदारता के दर्शन अधिक हुए परन्तु उदारता व सुविधा का कथन मात्र तो समाज की समस्या का हल नहीं है। अतः सच्चा दार्शनिक समन्वय तब होगा जब भारतीय विचारक जीव, आत्मा, जगत् सम्बन्धी नाना कल्पनाओं व तर्क पद्धतियों के आविष्कार के स्थान पर मनुष्य के ज्ञान का, उसकी पहुंच का, सापेक्ष रूप से अध्ययन करेंगे और भारतीय दर्शन की वैयक्तिक दार्शनिक समन्वित साधना के ग्रहणीय अंशों को लेकर सामाजिक चिंतन के साथ उनका समन्वय कर देंगे। उपनषिद के ऋषियों, बोधिसत्वों व तीर्थकरों की साधना उसी दिन सफल होगी और तब चिन्तन व क्रिया का अंतर्विरोध मिट जायगा।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आत्मा–एक अनुवाद

प्रतिक्रान्तिकारी रक्तपिपासु धार्मिक तत्ववाद लगातार बढ़ रहा है और लगता है, हम आधुनिक ज्ञान-विज्ञान के युग में नहीं, मध्य-युगीन अंधविश्वासों और तज्जन्य हिंस्रता : कट्टरता के युग में जी रहे हैं। पंजाब, कश्मीर में ये ही तत्व विनाशलीला कर रहे हैं।

फ्रांस की राज्यक्रान्ति के पूर्व जनमानस को धार्मिक कुहासे से मुक्त करने और स्वतंत्र सोच जगाने के लिए रुसो तथा वोल्तेयर ने सर्वाधिक वैचारिक अभियान किया जिससे क्रान्ति को वैचारिक औचित्य मिला।

मैं समझता हूँ कि सर्वसत्यानाशी सम्प्रदायवाद, और खूनी/पृथक्तावादी धार्मिक तत्ववाद को ताकत से नहीं, तर्क, ज्ञान-विज्ञान और स्वतंत्र चिन्तन शक्ति अथवा विवेकवाद (रेशनलिज्म) से मूलहीन किया जा सकता है और इसके लिए हमें रिनेसों तथा १८वीं शताब्दी के उन विचारकों को पढ़ना चाहिए जो मज़हबी-मूर्खता के विरुद्ध लड़े थे।

इसीलिए यहाँ, वाल्लेयर के 'आत्मा' शीर्षक निबन्ध का अनुवाद दिया जा रहा है :–

'अपने को जानो' यह एक उत्कृष्ट प्रत्यय है किन्तु देवता ही इसे कार्यरूप में परिणत कर सकता है क्योंकि कोई देवशक्ति ही अपने सारतत्व को जान सकती है, मनुष्य नहीं।

हम "आत्मा" उसे कहते हैं जो जीवन का संचार करती है किन्तु हम उसे जानते नहीं है क्योंकि हमारी बुद्धि सीमित है। तीन-चौथाई से अधिक मनुष्य इस विषय में अधिक दूर नहीं जा पाते, न वे इस सोचने वाली शक्ति (आत्मा) की अधिक चिन्ता ही करते हैं। एक चौथाई लोग आत्मतत्व के विषय में जिज्ञासा रखते हैं किन्तु न कोई आत्मा को पा सका है, न कोई इसका युक्त ज्ञान पा ही सकेगा।

तुम बेचारे दार्शनिक, तुम पौधे को देखते हो जो उगता है और कहते हो कि यह "वनस्पति-आत्मा" है। तुम देखते हो कि शरीर में गति होती है और गति का सम्प्रेषण भी और तुम इस गति को शक्ति (फ़ोर्स) कहते हो। तुम्हारे पथ-प्रदर्शन में तुम्हारा कुत्ता कोई कार्य सीखता है और तुम उसे प्राकृतिक-प्रवृत्ति (इन्स्टिंक्ट) कहते हो। हे संवेदनहील मस्तिष्क वाले दार्शनिक, वस्तुतः तुम्हारे विचार जटिल हैं और तुम इसे प्रत्युत्पन्नमति (विट) कहते हो।

परन्तु हम पर करुणा कर यह तो बताओ कि इन शब्दों से तुम समझते क्या हो ?

---

१. देखिए–दी स्टडीज इन एनसिएन्ट ग्रीक सोसाइटी–जार्ज थोम्सन।
२. देखिए–हिस्ट्री आव मोडर्न फ़िलासफी–विलियम कैली राइट।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पुष्प-खिलता है किन्तु क्या इससे वनस्पति आत्मा सिद्ध होती है? यह शरीर दूसरे को गति देता है किन्तु क्या इससे कोई अलक्ष्य शक्ति सिद्ध होती है? एक कुत्ता किसी पक्षी को मारता है, क्या इससे अन्तः प्रवृत्ति प्रमाणित होती है? सिकन्दर के गुरु अरस्तू जैसे किसी तर्कशास्त्री पर क्या तुम हंसोगे नहीं, जब वह इस तरह का तर्क देगा–"सभी पशु जीते हैं अतः उनमें कोई आत्मा (बीइंग) है, उनमें कोई मौलिक रूप (फार्म) रहता है और यही जीवन है।"

यदि कोई ट्यूलिप नाम का पुष्प बात कर सकता तो वह आप से कहता :– "मेरी वनस्पति-आत्मा और मैं दो तत्त्व पृथक्-पृथक् हैं यों वे एक ही सत्ता या अस्तित्व में संयुक्त हैं।"

यह सुनकर आप उस फूल का मज़ाक नहीं उड़ाएंगे?

सर्वप्रथम यह देखें कि आप क्या जानते हैं और जिसके विषय में आप जानते हैं या जिसके विषय में आप आश्वस्त हैं कि वह है।

आप पैरों पर चलते हैं, आप उदर से खाना हज़्म करते हैं, आप जो अनुभव या जो संवेदन प्राप्त करते हैं, सारे शरीर से करते हैं (आत्मा से नहीं) और आप मस्तिष्क द्वारा सोचते हैं। बिना अलौकिक सत्ता की कल्पना किए आप मात्र अपने विवेक (रीज़न) के बल पर यह सिद्ध कर ही नहीं सकते कि "आत्मा" नाग की कोई सत्ता होती है।

मिस्र और चाल्डिया देशों के आदि दार्शनिकों ने कहा:

"हमारे भीतर कोई ऐसी सत्ता है जो हमारे विचारों को पैदा करती है। यह सत्ता बहुत सूक्ष्म होनी चाहिए। यह सत्ता (आत्मा) श्वास है, यह अग्नि है, यह ईथर है, यह सारतत्व है, यह आत्मा समरसता है"। दिव्यदार्शनिक प्लेटो कहता है कि यह आत्मा", अहं तथा इदम् सबसे बना है किन्तु एपीक्यूरस कहता है कि "हमारे भीतर जो परमाणु है, वे ही सोचते हैं। डेमोक्रिटस भी यही कहता है किन्तु मित्रो, यह तो बताओ कि परमाणु कैसे सोच सकते हैं? स्वीकार करो कि आप इस प्रश्न का उत्तर नहीं जानते।

हमें यह मान लेना चाहिए कि आत्मा अभौतिक पदार्थ है किन्तु कोई सत्ता, अभौतिक हो सकती है, यह सोच ही बुद्धि के परे हैं।

कोई विचारक कह उठता है, "नहीं, आत्मा है क्योंकि आत्मा का स्वभाव है, चिन्तन करना किन्तु प्रश्न होगा कि आप इसे कैसे जानते हैं।? विचारक कह सकता है कि "हम जानते हैं कि आत्मा है क्योंकि वह (आत्मा) सोच-विचार करती है" किन्तु मेरा (वोल्लेयर) भय यह है कि एपीक्यूरस की तरह आप भी अज्ञानी हैं। आप कहते हैं: "पत्थर की यह प्रकृति है कि वह गिरता है क्योंकि वह गिरता है", किन्तु मुझे बताइए कि पत्थर को गिराता कौन है?

विचारक कहता है: पत्थर में आत्मा नहीं है... कि नकार (निगेशन) और सकार (एफर्मेशन)–अविभाज्य हैं। ये भ्रमतत्व के उपादान नहीं हैं"। ठीक है किन्तु भ्रमतत्व में अविभाज्य और सूक्ष्म शक्तियां होती हैं, गुण होते हैं। यथा, भूततत्व (मैटर)–में केंद्रोन्मुख

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

गुरुत्वाकर्षण की शक्ति होती है। इस गुरुत्वाकर्षण में कोई अवयव (पार्ट्स) नहीं होते, इसे विभाजित नहीं किया जा सकता। इसी तरह पिण्डों की संचालकगति (मोटर फ़ोर्सी) एक और अखण्ड होती हैं, उसे टुकड़ों में नहीं बंटा जा सकता, न सावयव पिण्डों (बाडीज़) में अन्तः प्रवृत्ति, प्राणसत्ता, उनका जीवन आदि पृथक्-पृथक् विभाजित हो सकते हैं। आप पुष्प के वनस्पतितत्व, अश्व के प्राण, कुत्ते की अन्तःप्रवृत्ति, भावना (फ़ीलिंग) या नकार और सकार आदि को पृथक्-पृथक् कर ही नहीं सकते अतएव विचार (थॉट) की अखण्डता का तर्क, (आत्मा'' की सत्ता को) कुछ भी प्रमाणित नहीं करता।

मुझे बताइए कि प्राणियों में जो भोजन पचाने और चलने की योग्यता है, वह सोचने या महसूस करने की सामर्थ्य के सदृश है या उससे भिन्न कोई चीज़ है?

मेरा कहना यह है कि शारीरिक क्रियाएं (स्वाभाविक) और सोच-विचार–दोनों दो प्रकार की क्रियाएं हैं क्योंकि आप अपने पेट से कहिए, ''पचा'' किन्तु वह आप के आदेश को नहीं मानेगा और यदि उदर स्वस्थ है तो रोकने पर भी वह पाचन क्रिया करता रहेगा। आप जिसे अभौतिक ''आत्मा'' कहते हैं, वह गठिया का रोग होने पर पैरों को कितने ही हुक्म दे, परन्तु जकड़े हुए घुटने काम नहीं करेंगे।

यूनानियों ने यह स्पष्ट समझ लिया था कि विचार का शरीर के अव्यवों से कोई अपरिहार्य सम्बन्ध नहीं है। तब उन्होंने अवयवों में एक ''पशु-आत्मा'' (एनीमल-सोल) तथा विचार में एक परिष्कृत-सूक्ष्म ''आत्मा'' की कल्पना की। यह ''विचार-आत्मा'', हाथों को आदेश देती है कि ''पकड़ो'' और वे पकड़ लेते हैं किन्तु यह विचाररात्मा हृदय से धड़कने, रक्त के प्रवाहित होने, बल्ग़म बनने आदि स्वयं भू क्रियाओं के लिए आदेश नहीं दे सकती। बिना ''आत्मा'' के उक्त क्रियाएं होती रहती हैं अतः दो आत्माओं की कल्पना करनी पड़ेगी जो बेचारियां अपने-अपने क्षेत्रों की स्वामिनी नहीं है।

उक्त ''पशु-आत्मा'' की वस्तुतः सत्ता नहीं है क्योंकि अवयवों की गति के सिवा और कुछ भी नहीं है। हे मानव, ध्यान दो कि तुम्हारी कमज़ोर विचारशक्ति से दूसरी आत्मा की सत्ता भी सिद्ध नहीं होती। आप आत्मा'' को मात्र विश्वास से जान सकते हैं। आप जान लेते हैं, जीते हैं, कार्य करते हैं, विचार करते हैं, आप जागते-सोते हैं, किन्तु आप जानते नहीं है कि ऐसा क्यों होता है।

अतः ईश्वरवादी ही यह कह सकते हैं कि ईश्वर ने सब कुछ दिया है, सोचने की शक्ति भी। यदि ईश्वर ने पूर्व युगों में (विश्वास या अंधविश्वास ग्रस्त ग्रन्थों में) यदि यह न कह दिया होता कि आपमें एक अभौतिक आत्मा है जो अजर-अमर-शाश्वत-सनातन है तो आपको इस तथाकथित ''आत्मा'' का कोई ख़्याल आता ही नहीं न कोई प्रमाण मिलता।

अब इन सम्प्रदायों को देखें जो आपके दर्शन ने आत्मा को लेकर बनाएं हैं।

एक दार्शनिक कहता है कि मनुष्य की आत्मा, ईश्वर के सारतत्व का अवयव है, वह ईश्वरांश है और अंश, महान अंशी (होल) का एक भाग है। कोई और कहता है, कि आत्मा, शाश्वतता की सृष्टि है और कोई दार्शनिक बताता है कि आत्मा की सृष्टि

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

नहीं, उसका निर्माण होता है। कोई कहता है, आत्माओं को ईश्वर आवश्यकतानुसार रचता है और कोई-कोई सिद्ध करना चाहता है कि आत्मा, नर-मादा के योनानुभव के क्षण में आ जाती है एवं ऐसे विचारक आत्मा रज-बीज के कणों में मानते हैं, कोई बताता है कि आत्मा, माता के गर्भ में भ्रूण बनने के क्षण तक, छः सप्ताह प्रतीक्षा करती है और भ्रूण बनने पर वह पीनियल गिल्टी पर क़ब्ज़ा कर लेती है और यदि भ्रूण गिर जाता है तो आत्मा बेहतर अवसर की प्रतीक्षा करती है।

नवीनतम मत यह है कि आत्मा मस्तिष्क में रखती है।

सन्त थामस कहते हैं कि आत्मा, आधारभूत सत्ता है कि यह सर्वमय है कि आत्मा का सारतत्व उसकी शक्तियों से भिन्न है और यह कि वनस्पति-आत्माएं तीन प्रकार की हैं: पोषक आत्मा (न्यूट्रिटिव) पालकवर्धक (आगमेन्टेटिव) तथा प्रजनक (जेनरेटिव)। उसने बताया कि आध्यात्मिक वस्तुओं-व्यक्तियों का स्मरण ही आध्यात्मिकता या आत्मिकता (स्प्रीचुअल) है तथा सांसारिक: भौतिक वस्तुओं का स्मरण भौतिक होता है और यह कि आत्मा, कार्यों में अभौतिक तथा अधिष्ठान की दृष्टि से भौतिक होती है...।

दर्शन के अनेक सम्प्रदायों ने आत्मा के विषय में लिखा है कि किस तरह शरीर को छोड़ने के बाद वह क्या महसूस करती है, किस तरह आत्मा बिना कानों के सुनती है, नासिका के बिना सूंघती है, श्रवणों के बिना सुनती है और हाथों के बिना स्पर्श करती है और यह कि मृत्यु के बाद आत्मा कौन-सा चोला धरणा करेगी... इस बेचारी आत्मा ने अपने विषय में जो अतिशयोक्तियां गढ़ी है उनका विवरण देना असंभव है किन्तु हज़रत मूसा ने यहूदियों के लिए, दूसरे जन्म में किसी दण्ड और पुरस्कार का विधान नहीं किया था, उसने कभी "आत्मा" की अमरता की बात नहीं की न स्वर्ग और नरक... उसके अनुसार जो कुछ भी है, सब सांसारिक है, भौतिक है।

वस्तुस्थिति यह है कि कोई नहीं जानता कि "स्प्रिट" या चेतना या आत्मा क्या है। यदि इसे "स्प्रिट" कहें तो स्प्रिट का अर्थ होता है, वायु जो भौतिक है। हमारी शक्तियां सीमित हैं, और इसलिए विचारतंत्र की प्रक्रिया, सारतत्व, चिन्तनशील, "आत्मतत्व" आदि के विषय में हम पूर्णरूप से जानते नहीं हैं।

मैं दुहराता हूँ कि आत्मा-परमात्मा, स्वर्ग, नरकादि के विषय में हम ईश्वरीय शब्द (पवित्र धर्म ग्रन्थ) पर निर्भर हैं।

हे मानवविवेक के शत्रुओ तुम एक दूसरे की निन्दा करते हो... तुम किसी व्यक्ति में स्वतंत्र सोच, संदेह और प्रश्नतृष्णा के प्रति उसी तरह बरतते हो जैसे भेड़िया भेड़ के प्रति व्यवहार करता है–"तूने गतवर्ष मुझे भला-बुरा कहा था अतः मैं तुझे खाऊंगा, तेरा रक्तपान करूंगा।"

(स्वतंत्र विचारशीलों के प्रति तुम्हारा यही वृत्त-व्यवहार है) तुमने मानव बुद्धिमत्ता (विज़डम) का दमन किया है क्योंकिं तूने जाना है कि बुद्धिमान विचारवान् लोगों ने तुम्हें अमान्य किया है किन्तु तुमने अपने "ज्ञान" (वस्तुतः अज्ञान) की क़ीमत स्वयं निर्धारित

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

की है और उसका बदला लेना चाहा है उनसे जो उसे नहीं मानते किन्तु जो शुद्ध दर्शन या चिन्तन होता है, वह किसी से प्रतिशोध नहीं लेता। वह तो तुम्हारे गर्वीले आचरण पर, शांतिपूर्वक हंसता है और नम्रता तथा सज्जनता के साथ मानवता को विवेक का आलोक देता रहता है और तुम (अंधविश्वासों द्वारा) (स्वतंत्र विचार को) क्रूरता दिखाते हो, हिंस्रता ताकि वे (मुक्त मनीषी) भी तुम्हारी तरह (विश्वासों के दास) हो जाएँ।'

---

१. "दार्शनिक कोप" (फिलोसोफीकल डिक्शनरी, वोल्तेयर, पेंग्विन क्लासिक्स, १९७१ पृष्ठ २७, शीर्षक, "आमीःसोल" अंग्रेजी में अनुवाद–थियोडोर बेस्टर मन।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

रामायण की प्रासांगिकता

'प्रासांगिकता' का प्रश्न, कालजयी काव्यों के विषय में उठता है, इसलिए इस प्रकार प्रश्न के पीछे यह पूर्व कल्पना है कि कोई कृति अपने समय, अपने परिवेश और अपने समय की संस्कृति तक सीमित होती है।

यह पूर्वकल्पना असंगत है। प्रथम कारण तो यह है कि कालजयी-क्लासिक कृति विराट-जनसमुदाय या भारतीय जनमानस का अंग बन जाती है। यथा, रामायण भारतीय सामूहिक जनमानस [Collective-uncouscious] का अंग बन गईं हैं और वह भारतीयता का लक्षण हो गई है। दूसरे, आधुनिक ज्ञान-विज्ञान और तकनीक के स्वातंत्र्योत्तर युग में जो पुराने सम्बन्ध और परम्पराएं टूटी हैं, उनके सन्दर्भ में, दो बिन्दु ध्यान देने योग्य हैं, एक आधुनिक और परम्परा के संघर्ष में मानव मूल्यों का सन्निकट खड़ा हो गया है। अतः परिवारों, सामाजिक संस्थाओं, सामान्य मानव सन्निकट सम्बन्धों और व्यक्तियों में पारम्परिक मूल्यगत नैरन्तर्य के न रहने से भ्रंशता और स्वीकृत प्रतिमानों से विचलन की प्रवृत्ति इतनी बढ़ गई है कि व्यक्तिगत स्वातंत्र्य, स्वेच्छाचार में बदल जाने से, स्वयं व्यक्ति ही टूट रहा है। अमानवीकरण से, सम्पूर्ण विज्ञान और तकनीक सम्बन्धी उन्नति, ख़तरनाक लगने लगी है।

दूसरा बिंन्दु यह है कि–किसी कृति की प्रासंगिकता अपने समय के तकाज़ों के कारण अन्वेषित की जाती है क्योंकि संकट आने पर कोई वयक्ति देश या समाज अपनी जड़ों, अपने सांस्कृतिक स्रोतों या सामूहिक अवचेतन में बसी कृतियों की ओर जाता है, क्योंकि यह आंतरिक शक्ति की निधि है, बाहर का ख़तरा भीतरी ताक़त से ही टल सकता है।

अतएव आधुनिक युग में रामायण और उसमें भी तुलसी के रामचरितमानस की प्रासंगिकता का महत्त्व है, बल्कि यह आज की मानसिक या आत्मगत आवश्यकता है।

रामायण या रामचरितमानस की प्रथम प्रासंगिकता यह है कि यह मानव के आदर्शों का एक समुच्चय या संकुल (काम्प्लैक्स) प्रस्तुत करती है। इसे यथावत् भारतीय संकृति के नाम पर स्वीकार नहीं किया जा सकता क्योंकि रामायण और रामचरित मानस, सामंती समाज की व्यवस्था और संस्कृति को प्रतिबिम्बित करते हैं। अतः उनमें एक ओर बहुविवाह है तो दूसरी ओर व्यक्तिगत राज्य है, वंशगत उत्तराधिकार है, और मनुष्य का राम और रावण में द्विविध, सरल और सीधा विभाजन है। जबकि आधुनिक संविधान में बहुविवाह, वंशगत राज्य और मनुष्य को मनोवैज्ञानिक दृष्टि से संकुल या जटिल प्राणी माना जाता है और उसमें राम तथा रावण दोनों की एक साथ् विद्यमानता देखी जाती है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

किन्तु रामचरितमानस में राम, बहुविवाह का विरोध करते हैं। उनके विवाह का आधार प्रेम है। वह वंशगत अधिकार छोड़ देते हैं। वह परपीड़क राक्षसवर्ग के नाश के लिए यानी शोषक-पीड़क श्रेणियों से समाज को बचाने के लिए साम्राज्यवादी लूट और पूंजीवादी संग्रह के बल पर बनी लंका को ध्वस्त करने के लिए शोषित-पीड़ित जनगणों, निम्नतम वर्गों को संगठित करते हैं और अस्त्र-शस्त्रों की दृष्टि से श्रेष्ठ रावण-शिविर को, असंख्य जनगण के लहर पर लहर के युद्ध-सिद्धान्त (वेवथ्योरी) से पराजित कर देते हैं।

इस तरह देखने पर राम का पक्ष, जनपक्ष और रावण का पक्ष जनशत्रु पक्ष ठहरता है।

आचरण की दृष्टि से तो रामायण परम्परा की प्रासंगिकता सर्वकालीन है। यदि पौराणिकता या मिथक को, रामायण के मूल मानवीय ढांचे के ऊपर से हटा दें तो राम और उनके भ्राताओं, माँ कौशल्या, सुमित्रा, गुरु वशिष्ठ और दूसरे लोगों का व्यवहार आज भी प्रतिमान स्थापक (Ideal) हैं। मानवजीवन की कोई स्थिति ऐसी नहीं है, जिसमें राम और उनके पक्ष के पास आदर्श प्रस्तुत न करते हों। रामचरितमानस तो राम के शील या चरित्र का ही आख्यान है और राम सर्वत्र, सभी परिस्थितियों में अनुकरणीय आदर्श देते हैं।

प्रायः यह कहा जाता है, वामपंथी विचारक विशेषकर इस सत्य पर बल देते हैं कि आचरण सम्बन्धी विचलन का दोष व्यवस्था पर होता है, व्यक्ति पर नहीं या "उतना" दोष व्यक्ति का नहीं है, "जितना" दोष व्यवस्था का होता है। किन्तु सामंती व्यवस्था में भी राम ने मनुष्यता का चरम आदर्श प्रस्तुत किया। अतः "उतना", "जितना" जैसे मात्रात्मक शब्द राम पर लागू नहीं होते। राम का चरित्र यह प्रासंगिक प्रेरणा देता है कि व्यवस्था या परिस्थिति के दबाव का तर्क आत्मक्षति की ओर जाने वाला है, क्योंकि व्यक्ति, स्वयं अपने दायित्व से बचकर, उसे व्यवस्था के ज़िम्मे मढ़ देता है। अतः मानव चेतना अपने उत्कृष्ट रूप में व्यवस्थाओं का अतिक्रमण करती रही है और दासप्रथा से लेकर अब तक महापुरुषों या महाजनों के आचरण आज भी हमें, व्यवस्था के तर्क से ऊपर उठने की प्रेरणा देते हैं।

बहुत गहरे स्तर पर व्यक्ति के धरातल पर रामायण हमें यह संकेत देती है कि व्यक्तिगत दायित्व की स्वीकृति, किसी बड़ी चिन्ता और चुनौती को स्वीकार कर लेने और उसे पूरा करने के लिए प्रयत्नशील हो जाने पर, ऐसे उत्तरदायी व्यक्ति को किसी सुख, किसी सुविधा या किसी प्रशंसा की आशा की लालसा नहीं करनी चाहिए, क्योंकि प्रतिपक्ष ही नहीं स्वपक्ष के लोग भी ऐसे व्यक्ति के स्तर तक नहीं उठ पाते अतएव ऐसे व्यक्ति के साथ त्रासदी का होना अनिवार्य है।

मानव जीवन का यह मर्म रामायण में है। अतः राम जनपक्ष के लिए विकट संघर्ष करने के पश्चात् शोषकों-पीड़कों या राक्षसों से मुक्ति के बाद भी लोक-लांछना के शिकार बनते हैं। समाज में रजक-वृत्ति के लोग रहेंगे ही, सब तो राम हो नहीं पाते और पूर्वाग्रह,

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

रूढ़ि और गतानुगतिकता बहुत प्रबल आत्माच्छादन होते हैं अतः समन्ती युग में नारी सर्वदा संदेह का विषय रही है और आज भी है। सीता के चरित्र पर शक करने से बेचारे राम को स्वजनों के मध्य भी परीक्षा देनी पड़ती है किन्तु वह "सियविहनी मम जीवन नाहीं", मन के राम जनता के सामने आदर्श रखने के लिए अपनी पत्नी का भी त्याग कर देते हैं और सारा जीवन त्रासदी में बदल जाता है, यहाँ तक कि राम और सीता को आत्महत्या के लिए विवश होना पड़ता है। सीता धरती में समा जाती है, राम सरयू में डूब मरते हैं।

यह जो चरम आदर्श है, जनता के शासकों के लिए, आज भी चुनौती है। रामायण के राम ध्रुव नक्षत्र की तरह आज भी मनुष्य को दुर्बलताओं से ऊपर उठने के लिए, सर्वोच्य शिखर की तरह प्रेरित कर रहे हैं।

जनसाधारण में तो राम अभी भी जीवनावलम्ब है किन्तु शिक्षितों में, अति आधुनिक बौद्धिक समुदायों में, किसी भी आदर्शों को शंका की दृष्टि से देखा जाता है। एक व्यापक अलगाव (Alienation) या आत्मनिर्वासिन की भावना, आधुनिकता के नाम पर बौद्धिकों में फैली हुई है। मैं मानता हूँ कि यह जो कटाव है, अलगथलगपन, अजनबीपन क्रमशः (Outsider) चिन्ता (Anxiety) और अपने अस्तित्व को सबसे पृथक् कर उस पर चिंतन है, चेतना के विघटन में आस्वाद लेने की जो राक्षसी प्रवृत्ति है, इस व्यापक बीमारी का उपचार भी रामचरित मानस या रामायण है। यह आश्चर्य का विषय है कि पराधीन भारत ने, विदेशी आक्रान्ताओं से पद दलित होने पर भी जिस भारतीय ज्ञानियों के समाज ने, मनुष्य में, व्यक्ति में, समूह में, संगठन में, आदर्श में निष्ठा नहीं खोई, वही बौद्धिकों का समाज, आज नरक के बीच, नारकीय राक्षसों-दैत्यों दानवों-दस्युओं या जन-विरोधी आततायियों के विनाश के लिए पशु-कीट पतंगों की तरह जीवन व्यतीत करने लगे सर्वहाराओं को संगठित कर लड़ने की जगह अपनी स्वर्गीय वैयक्तिकता के खोल में बन्द आज का व्यक्ति होकर रह गया है, जनता फिर किससे आशा करे ? ऐसे में वह जनसाधारण आज भी राम से राम के अवतार से आशा लगाए हुए अपना दुःख भुलाती रहती है। अतः जनता भ्रम में नहीं है, भ्रम में हमारे ज्ञानीवर्ग के लोग हैं और शासक तथा नेता एवं समृद्धवर्ग ही तो यातुधान हो गए हैं, कलह-कपट और क्रूरता के इस भयंकर परिवेश में राम, एक तू ही सहारा है–प्रवंचित जन समाज का। मजा यह है कि राम को ही अप्रासंगिक बताकर वे जन से राम को छीन लेना चाहते हैं।

अतएव राम प्रासंगिक हैं, उनका उदात्त आख्यान प्रासंगिक है परन्तु उस पर व्यावसायिक व्यक्तियों ने, अंधविश्वासग्रस्त, रूढ़िवादी पंडितों ने जो पौराणिकता या मिथक का खोल चढ़ा दिया है, उसे हटाकर रामायण को मानवीय प्रलेख के रूप में देखने, समझने और अपने समय के लिए प्रेरणाग्रहण की जरूरत है। भारतीय पौरोहित्य ने वर्णवादी पंडितों और अंधविश्वासी प्रचारकों ने रामायण का स्ववर्गहित में जमकर इस्तेमाल किया है। वे रामायण की आध्यात्मिकता पर जितना बल देते हैं, उसकी अलौकिकता पर जितना

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

बल देते हैं, राम की जनकरुणा, जनशत्रुओं पर उनके कालाग्नि सदृश क्रोध और जनसंगठन द्वारा सामाजिक क्रान्ति जैसे तथ्यों पर बल नहीं देते यानी वे लोग रामायण को अप्रासंगिक बना रहे हैं। रामायण में भारतीय संस्कारों, आचार-विचारों की प्रस्तुति अवश्य है पर उसका मूल मानवीयता और प्रत्येक प्रकार की मुक्ति में है, केवल धार्मिक या आध्यात्मिक मुक्ति में नहीं।

यही कारण है कि परस्पर विरोधी विचार-धाराओं के व्यक्तियों और समुदायों में रामायण को प्रासंगिक माना गया है। यथा सोवियत रूस और पाश्चात्य देशों, सर्वत्र रामायण के मानवीय पक्ष पर करोड़ों लोग मुग्ध हैं यद्यपि वे हिन्दू धर्म की विचारधारा को नहीं मानते किन्तु रामायण में आदर्शनिष्ठ मानव प्रतिमाएँ हैं। भारतवर्ष में जो भी श्रेष्ठ और उत्कृष्ट है, उसका प्रतिनिधित्व रामायण करती हैं। अतः हमारा कर्तव्य यह है कि रामायण की ऐतिहासिक सीमाओं और उस पर लदे हुए मिथक को अलग कर उसके शुद्ध मानवत्व के नवनीत को मथ कर निकालें और अपने समय में उन प्रासंगिक तत्वों का विनियोग करें।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

परिवर्तन के वात्याचक्र; व्यवस्था विरोध; विकल्पों के यक्षप्रश्न

बीसवीं शताब्दी के अन्तिम दशक समाप्त हो रहे हैं। इस शताब्दी के द्वितीय दशक के अन्त में, सोवियत जन क्रान्ति (१९१७-१८ ई.) से विश्व भर में सामन्ती पूँजीवादी व्यवस्था के विरोध का बिन्दु, सामाजिक चिन्तन, राजनीति, साहित्य और सांस्कृतिक विचारधारात्मक सक्रियताओं के केन्द्र में आता गया और जहाँ तक इस देश का प्रश्न है, १९६२ के बाद, विचार और विशेषकर साहित्य में, ''व्यवस्था विरोध'' मुख्य मुद्दा बन गया क्योंकि नेहरू-युग में जिस उदार या सर्वधर्मभावी और सर्ववर्गभावी जनतंत्र बना था, उसमें भारतीय अग्रगामी आक्रोश-विद्रोह-क्रान्ति की भावनाएं उग्र हुईं, व्यवस्था और व्यवस्थित वर्गों और व्यक्तियों का अनावरण होने लगा। आपात्कालोत्तर दशकों में यह सूक्ष्म और बहुविध या विविध प्रकारी बना किन्तु सोवियत रूस में मिखायल गोर्वाचोव के 'मुक्तना' (ग्लासनोस्त) और पुनर्गठन (पेरेस्त्रोयका) के नारों और आन्दोलन के कारण वहाँ भी ''व्यवस्था विरोध'' शुरू हो गया, जहाँ की व्यवस्था यानी ''समाजवादी-साम्यवादी व्यवस्था'' आदर्श मानी जाती थी।

मैंने, ''मधु-माधवी'' के सितम्बर, ८९ के सोवियत अंक में, अपनी सोवियत रूस की यात्रा के पर्यवेक्षणों के आधार पर यह दिखाया है कि साम्यवादी व्यवस्था वाले देशों में भी ''व्यवस्था विरोध'' हो रहा है क्योंकि वहाँ सोवियत रूस तथा अन्य कथित समाजवादी देशों में वस्तुतः ''समाजवाद'' की स्थापना हुई ही नहीं, वहाँ ''राजकीय समाजवाद'' (State Socialism) बना जिसका असफल होना अनिवार्य है क्योंकि समाजवाद की मार्क्सीय परिकल्पना तो यह है कि उत्पादन और वितरण के साधनों का सहकारीकरण समाजवाद है। सरकारीकरण समाजवाद नहीं, उसका विरूपण है क्योंकि सरकारीकरण से व्यक्ति और सरकारी संगठनों में शुभारम्भ या इनीशियेटिव की प्रवृत्ति दब जाती है और ''समाज'', सरकार पर निर्भर हो जाता है, सब सरकारमय हो जाता है और ऐसी सर्वाधिकारी सत्ता, नौकरशाहों और एक ही राजनैतिक दल के दादाओं से नियंत्रित-निर्देशित होती है, तथा ''जनतंत्र'' ग़ायब हो जाता है और स्तालिन जैसे निरंकुश नेता '''विचारधारा'' (मार्क्सवाद) की अंतर्मुखी व्याख्याएँ कर, जनता से छिपा कर, जनता को मूर्ख बनाकर, विरोधियों को ''जनशत्रु'' घोषित और सिद्ध कर, लाखों लोगों को मरवा देते हैं और जनमानस भय, आतंक, अ-लगाव, लकीर के फकीरपन तथा दमन में जीने लगता है और समाजवाद का चेहरा अमानवीय हो जाता है, 'लिखति सुधाकर लिखिगा

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

राहू" हो जाता है अतएव सुधार और जनतांत्रिकता अपरिहार्य हो जाते हैं। यही कारण है कि पोलैण्ड, पूर्व जर्मनी, हंगेरी, चेकोस्लावाकिया में साम्यवादी पार्टी का सत्ता पर एकाधिकार समाप्त हो रहा है और यही माँग सोवियत रूस में बढ़ रही है, चीन में भी...लगता है कि साम्यवादी ढाँचे का कायाकल्प होकर ही रहेगा, समाजवादी जनतंत्र अथवा सामाजिक जनतंत्र (Social Democracy) बनकर रहेगा। इस दिशा में परिवर्तन इतना तीव्र है, इतना अप्रत्याशित कि हैरत हो रही है, हादसा सा लग रहा है।

किन्तु सामाजिक-परिदृश्य के निकटतम तटस्थ पर्यवेक्षकों के लिए यह अनहोनी नहीं है। कोई भी "व्यवस्था" और सत्ता मानव कल्याण का मात्र माध्यम है, साधन है। पूँजीवादी व्यवस्था के दोषों को तो सभी जानते हैं, भुगत भी रहे हैं किन्तु प्रचारकों ने साम्यवादी शासनों-सत्ताओं-व्यवस्थाओं के विषय में स्तालिनपंथी प्रवृत्ति के कारण मार्क्सवादी द्वन्द्वात्मक सिद्धान्त को लागू नहीं किया यानी साम्यवादी व्यवस्था के निषेधात्मक तत्त्वों और व्यक्तियों की नकारात्मक भूमिकाओं का अनावरण नहीं किया और विचारक, विशेष कर प्रगतिवादी-प्रगतिशील-जनवादी विचारक यह मानकर चले कि साम्यवादी देशों की लाइन सही है और वहाँ सरकारीकरण, समाजवाद की स्थापना के लिए वांछनीय है। अतएव साम्यवादी दल, बूर्ज़्वा देशों में संसाधनों (भूमि : उद्योग) के राष्ट्रीयकरण की मांग करते रहे जबकि माँग समाजीकरण : सहकारीकरण या सोवियतीकरण या पंचायतीकरण की करनी चाहिए थी यानी कारखानों को नोकरशाह नहीं, मज़दूरों और विशेषज्ञों : तकनीशियनों की सोवियत या पंचायत या सहकारी समिति चलाए और राज्य इस प्रक्रिया में दादागीरी की जगह मदद करें। किन्तु यह नहीं हो सका और इसके बिना हुए, समाजवाद में व्यक्ति मुक्तता और खुद-मुख्तियारी महसूस कर ही नहीं सकता।

वैश्विकस्तर पर बनी कम्यूनिस्ट पार्टियों में, उनके अग्रमुखी मोर्चों (प्रगतिशील लेखक संघ, जनवादी लेखक संघ, इप्टा आदि) में पूँजीवादी व्यवस्था का विरोध हुआ किन्तु 'समाजवादी" व्यवस्था और वहाँ जो हुआ, उसको द्वन्द्वात्मक दृष्टि से देखा ही नहीं गया। वहाँ जो हुआ, उसका अनुकरण होता रहा, यहाँ तक कि संगठनों में स्तालिनीय पद्धति पर एक ग्रुप का अन्तहीन (एक व्यक्ति दो बार से अधिक एक पद पर न रहे, यह नहीं माना गया) प्रभुत्व स्थापित हुआ अतः सारे तथाकथित "प्रगतिशील" या "जनवादी" या "साम्यवादी संगठन" केन्द्रवर्ती ग्रुपों के शिकार हो गए, वहाँ जनतंत्र की जगह अल्पतंत्र रहा अतः जनसामान्य तथा जनतंत्रप्रिय व्यक्ति इन संगठनों से बचते रहे यों वे पूँजीवाद के समर्थक नहीं थे।

अतएव 'व्यवस्था विरोध' आज व्यापक विषय हो गया है। विकल्प यह है कि पूँजीवाद या उसके नाम पर "कल्याणकारी राज्य" (वैलफ़ेयर स्टेट) जनसाधारण की दृष्टि से, वांछनीय विकल्प नहीं है। विकल्प तो आज भी समाजवाद ही है किन्तु राजकीय समाजवाद विकल्प नहीं है, विकल्प है, सोवियत समाजवाद अथवा सहकारी समाजवाद जो "अब" सोवियत समाज में स्थापित होने जा रहा है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पिछले ७३ वर्षों में (१९१७ से अब तक) राजकीय समाजवाद जहाँ बड़ी हद तक (पूर्णतः नहीं) बेकारी-बीमारी-अशिक्षा आदि पर क़ाबू पा सका है, वहीं उसने बलात्-व्यवस्था-परिवर्तन या कृषि-क्षेत्र का राष्ट्रीयकरण कर बड़ी भारी भूल की। फलतः कृषि-क्षेत्र में असफलता मिली। अब सोवियत रूस में पुनः सहकारिता और अनुबंध-पद्धतियों का प्रयोग चालू हुआ है, बड़ी हद तक निजीकरण भी होगा।

सारांशतः एशिया-अफ्रीका-दक्षिण अमेरिका के पिछड़े हुए देशों के सम्मुख एकमात्र विकल्प है—समाजवादी जनतंत्र की व्यवस्था की स्वीकृति क्योंकि मुक्त पूँजीवाद तो अरबों आबादी वाले देशों (भारत : चीन) में सफल हो नहीं सकता, सुनियोजित किन्तु सहकारी पद्धति पर, देशकालानुसार विशिष्ट तकनीक अपनाकर विकास किया जा सकता है, यथा, भारत में लघु-उद्योगों-हस्तशिल्पों का जाल बिछाने से ही बेकारी दूर हो सकती है और हमारे देशों में जो विचार स्वतंत्रता, जनतांत्रिक परम्पराएँ रही हैं, उनमें एक पार्टी का प्रभुत्व स्वीकृत नहीं हो सकता अतएव जनतांत्रिक समाजवादी प्रविधि के अन्तर्गत धर्मान्ध या साम्प्रदायिक राष्ट्रविरोधी और वर्णजातिवादी जैसे दलों का निषेध ज़रूरी है किन्तु जो विचारधारा की दृष्टि से असाम्प्रदायिक दल हैं और मोटे तौर पर ही सही, समाजवाद को मानते हैं अथवा सामाजिकता को, विवेकवाद को, इन सबको संगठन बनाकर चुनाव लड़ने की आज़ादी देनी होगी। मुँदा हुआ या बन्द सिस्टम (Closed System) अब चल नहीं सकता। आज जो सोवियत-समुदाय में हो रहा है, कल चीन में होगा, बल्कि हो रहा है।

किन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि साम्यवादी दल (सुधारे हुए रूप में) या गतिशील या जनवादी संगठन और संघर्ष अप्रासंगिक हो गए यानी यह कि उनकी कोई भूमिका नहीं रही।

जिस तरह नाभिकीय-अस्त्रों के कारण वैश्विक स्तर पर युद्ध आत्मघातक हो जाने से, सामूहिक शांति और अस्तित्व के लिए पूँजीवादी और समाजवादी देशों में निःशस्त्रीकरण के लिए एकता और सहमति ज़रूरी है, उसी तरह, उसी तर्क के आधार पर यह नहीं कहा जा सकता कि शोषित-पीड़ित जनता, एशिया-अफ्रीका-लैटिन अमरीका में शोषक वर्गों और उनकी समर्थक सरकारों से न लड़े। लड़ाई तो जन अस्तित्व के लिए ज़रूरी है पर यह लड़ाई, यह जन संघर्ष, कहीं जनतांत्रिक और कहीं विकल्प न रहने पर हिंसक भी हो सकता है।

जनतांत्रिक, अहिंसात्मक जनसंघर्ष से जहाँ पूर्वी योरोप, सोवियत रूस-चीन आदि साम्यवादी देशों में व्यवस्थापरिवर्तन इतनी तेज़ी के साथ हो रहे हैं वहीं जन-तांत्रिक संघर्ष से ही दक्षिण अफ्रीका जैसे देशों में गोंराशाही लड़खड़ा रही है। दक्षिण अमरीका में चिली में अभी अभी सत्ता परिवर्तन हुआ है। काश, सर्वत्र जनतंत्रविधि सफल हो जाए। किन्तु जहाँ कोई विकल्प नहीं रहता वहाँ जनता हथियार भी उठा सकती है यथा नक्सलवाड़ी में और अब आन्ध्र में, गिरिजनों-प्रारण्यकजनों के मध्य। या तो भारत का सभ्य/मानवीय समाज और संस्कृति के अभिमानी भद्र लोग, जन-तांत्रिक दबाव डाल कर, भारत के पिछड़े

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इलाकों में शोषण, अभाव, अज्ञान आदि को दूर कराने के लिए आगे आऐं अथवा नक्सलपंथी जनसंघर्ष अनिवार्य हो जाएगा। यह तो द्वन्द्वात्मकता का मूल सिद्धान्त है कि या तो संगति स्थापित करो अथवा भीतरी द्वन्द्व से विस्फोट अपरिहार्य है। द्वन्द्वात्मकता का सिद्धान्त प्राकृतिक सिद्धात (Natural Law) की तरह अटल और अखंड और सार्वत्रिक है, सब पर लागू होता है।

तथापि गोर्बाचोव के मुक्तता और पुनर्गठन के नारों के साथ अन्य नारों की ज़रूरत है अन्यथा अन्तर्राष्ट्रीय पूँजीवादी प्रभुत्व और उसके शोषण से तृतीय विश्व युद्ध बच नहीं सकता। ये नारे हैं:

(१) अन्तर्राष्ट्रीय पूँजीवादी प्रभुत्व के प्रति जनप्रतिरोध जारी रहे।

(२) मुक्तता और पुनर्गठन, पूँजीवाद के सम्मुख समर्पण और स्वीकृति के पर्याय नहीं हैं।

(३) लेनिन का "एकता और संघर्ष" की लाइन या कार्यनीति की जितनी आज आवश्यकता है, उतनी कभी नहीं थी अथवा सम्पूर्ण समाजवादी संगठन और उसकी पक्षधर शक्तियों में बिखराव आने से अन्तर्राष्ट्रीय बूर्ज्वा पुनः शेर हो जाएगा और हमें खा जाएगा।

ये आशंकाएं निराधार नहीं हैं। अमरीका में प्रवासी तथा सम्पादक– "मधु माधवी" डा. इन्दुकान्त शुक्ल ने अपने तीन दिसम्बर, १९८९ के पत्र में मुझे लिखा है:

"......गोर्वाचोफ की सदाशयता असंदिग्ध है किन्तु सांस्कृतिक एवं राजनैतिक दोनों दृष्टियों से सोवियत संघ के भीतर तथा विश्व स्तर पर, जिन पतनशील (Decadent Consumerist) उपभोक्तावादी प्रवृत्तियों का उदय हो रहा है, जो परिणाम प्रत्यक्ष हो रहे हैं, वे एक ओर तो साम्राज्यवादी एकाधिकार का प्रणयन कर रहे हैं, विश्व की संघर्षरत मुक्तिकामी जनता को निरुत्साह: निस्सहाय बना रहे हैं और दूसरी ओर ७० वर्ष की निर्माणविधि को "नवीनमानव" की आदर्श प्रवण, कान्ति चेतना को अग्निसात् कर रहे हैं......अस्थायी रूप से योरोप में इस नीति द्वारा, शान्ति खरीदा जा सकती है किन्तु तृतीय विश्व में, इसी समय सहस्रमुख रावण भारी विध्वंस अभियान चलाएगा जो वर्षों चलेगा। इसकी नयी संज्ञा है, Low Intesisve Warfare (मंद: गहरा शीत युद्ध)। इसमें आक्रामकों (अमेरिका और पश्चिमी बूर्ज्वा देश) की जनहानि न होगी। फलत: यह राजसूय निर्वाध चलेगा। जिस देश की जनता तबाह होगी, उसे तबाही (High Intensity of Warefare) भोगनी होगी, शस्त्रास्त्रों की वर्षा होगी। कोरिया-ताइवान-इंडोनेशिया-ईस्ट तिमोर, मध्य अमरीका, दक्षिण अमरीका, अफ्रीका की जनता से पूछना चाहिए कि वे कैसा अनुभव कर रहे हैं, अपने भविष्य के बार में? (सोवियत रूस द्वारा) एपीज़मेंट (तुष्टीकरण) रंग लाएगा। यह, (बूर्ज्वा) हेजेमनी या प्रभुता विषवर्षा से संसार को प्लावित करेगीं। यह मेरा भय है, यह मेरी धारणा है। चाहता हूँ कि यह भय, यह प्रकल्प, ग़लत सिद्ध हो किन्तु क्या कभी चीते (पूँजीवादी) ने रंग बदला है? क्या पूँजीवादी विषबेल और कुछ उगा सकती है, गुलामी, असहायता, दरिद्रता के सिवा?

......अफगानिस्तान के प्रसंग में......साम्राज्यवाद नंगा नच रहा है, वहीं अंगोला,

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मोजाम्बिक में......किस समझौते का उल्लंघन पूँजीवादी साम्राज्यवाद ने नहीं किया? वहाँ (पश्चिमी पूँजीवाद) तो श्रमिक वर्ग......तृतीय विश्व की जनता से उदासीन है। फ्रांस में "कम्युनिष्ट" मेयर विदेशियों को निकालने की माँग करते हैं, ये मज़दूर विवश, विपन्न, असहाय, कलर्ड या अश्नेत......जीवन मूल्य (Values) कौन निर्धारित करेगा, पश्चिम? ग़ोरे? जिनकी परम्परा रही है, उपनिवेश-उत्पीड़न-उत्पाटन-लूट की/परोक्षतः क्या कार्लमार्क्स ने पश्चिम की औद्योगिक सभ्यता का समर्थन करके क्या इन (गोरों की) उद्यमों-उद्यागों, की उद्भावनाओं की बली नहीं बनाया? ......मार्क्स में उपनिवेशोत्तर समाज का बहुत व्यापक अध्ययन नहीं मिलेगा (मिल सकता) साम्राज्यवाद अपने उपनिवेशों को किस तरह चंगुल में रखता है, क्या मार्क्स यह देख सोच सके थे?"[1]

ये वेधक यक्ष प्रश्न हैं, प्रासंगिक आशंकाएँ, इन पर सोचा जाना चाहिए। मार्क्सवाद अब एक मुक्त, खुला हुआ सिद्धान्त है, उसकी न्यूनताओं और अपर्याप्तताओं पर विचार होना चाहिए। कुत्सित समाजशास्त्रियों और जड़वादियों को लगेगा कि हम मार्क्स के बाहर जा रहे हैं किन्तु कार्ल मार्क्स, स्वयं अपने मत के प्रति वस्तुगत दृष्टि रखते थे जब उन्होंने कहा था कि "मैं मार्क्सवादी नहीं हूँ।" विश्व में कोई मत, कोई दर्शन, कोई विचार सरणि, मानव से बड़ी नहीं है और मनुष्य द्वारा आविष्कृत या निर्मित कोई फलसफा सम्पूर्ण नहीं है, उसे निरन्तर : मनन : सुधार : संशोधन अथवा बदलती परिस्थिति, तथ्यों और स्थितियों के अनुसार पुनः पुनः व्याख्यायित करना पड़ता है अन्यथा वह जड़ या अंधविश्वास या"धर्म" बन जाता है और कार्ल मार्क्स में तो इतना सामान्यीकरण (Generalization) या इतने सामान्यीकृत वाक्य या सूत्र हैं कि वे गर्भीकृत हैं और व्याख्या सापेक्ष हैं अतएव मुक्तता और मार्क्स के चिंतन के पुनः पुनः गठन (पेरेस्त्रायका) की ज़रूरत है उसी प्रकार, जिस प्रकार नए विकल्पों की खोज की।

अनुकरणशील-विचारशून्य-अंधानुगामिता, मार्क्सवाद या द्वन्द्वत्मकतावाद के लिए अधिक ख़तरनाक है क्योंकि वह अनुकरणीय की प्रतीक्षा करती है कि उनके लिए, उनके देश की व्यवस्था के लिए सोवियत रूस-चीन आदि के कामरेड सोचें और वे सिर्फ़ उस लाइन पर चल पड़ें, सोचने और अपने देश की विशिष्ट स्थितियों और परम्पराओं आदि के अनुरूप समाजवाद का अपना प्रारूप (नमूना) न गढ़ना पड़े अतएव इस देश में, अन्य पिछड़े हुए देशों में या तो पाश्चात्य आधुनिकता का अनुकरण हुआ अथवा पूर्व की प्रगतिवादिता या जनवादिता का। ये नक़्क़ाल अक्लें आजकल हैरान हैं, हाय अब क्या करें?

वस्तुतः "पुनर्गठन" के सिद्धान्त में यह निहित है कि क्रन्ति या परिवर्तन के आयात-निर्यात नहीं हो सकते। अफ़गानिस्तान में हस्तक्षेप का परिणाम क्या हुआ, यह जगजाहिर है अतएव किसी देश में समाजवादी व्यवस्था की स्थापना स्वतंत्र सोच के ही लोग कर सकते हैं क्योंकि उन्हें अपने लोकमानस को समाजवादी मोड़ देना पड़ेगा, जनता में इतिहास में, परम्परा में जनतांत्रिक जड़ों को खोजकर उन्हें अंकुरित करना पड़ेगा। उदाहरण के लिए भारत में पंचायती व्यवस्था लोक में प्रचलित मान्य व्यवस्था थी। जनतांत्रिकता का वही आधार बने, अन्यथा पराए प्रत्यय आरोपित लगेंगे, लग रहे हैं।

---

१. ३-१२-८९ का पत्र।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

नाट्यभाषा-निर्माता हिन्दी के आदि नाटककार नारायण प्रसाद "बेताब"

पारसी नाटक कम्पनियों के विषय में हिन्दी के शुद्धतावादियों ने यह धारणा फैला रखी है कि पारसीनाटक कम्पनियों के नाटक और प्रदर्शन असंस्कृत, अशालीन, कुत्सित और परम्परा के प्रति कलंककारी थे। किन्तु उनके निकटतम अध्ययन से ये आरोप प्रमाणित नहीं होते। व्यवसाय, जिन कम्पनियों का मुख्य ध्येय हो, वे मनोरंजन के विषय में जनरुचि को ध्यान में रखेंगी, उच्चभ्रू संस्कृति और साहित्य के विषय में शुद्धतावादियों के आग्रहों को नहीं। चूँकि जनरुचि का जो तब स्तर था, उसमें भला, बुरा, ऊँचाई और नीचाई आदि सब शामिल थे अतः पारसी नाटक में ऐसे पात्रों को डालते थे जो भद्दे मज़ाकों और नृत्यगान द्वारा हास्य और अश्लील शृंगार की चेष्टाएं किया करते थे।

किन्तु ऐसे स्थलों के बावजूद पारसी नाटक मंडलियों के नाटकों में सर्वदा असत्य पर सत्य की, अधर्म पर धर्म की, बुराई पर भलाई और असुरत्त्व पर सुरत्त्व की विजय दिखाई जाती थी।

तमाशा, यात्रा, रामलीला, रासलीला, नौटंकी, स्वांग और पंवाड़ों की परम्परा में, पारसीनाटक मंडलियों ने एक विशेष प्रकार के संपूर्णनाटक (Total Drama) का विकास किया था। जो नाटक पारसीनाटक मंचों पर प्रदर्शित होते थे, उनमें या तो शेक्सपियर जैसे नाटककारों के अनुवाद होते थे या अपने देश के परम्परागत विषयों-पुराण कथाओं, जनश्रुतियों और प्रेम कथाओं आदि पर लिखे जाते थे।

"सम्पूर्ण नाटक" में दर्शकों को सब कुछ मिले, रस, संगीत, नृत्य, गायन वादन, जादुई परिदृश्य, ललित अभिनय या वासना और हास्य का उत्तेजक किन्तु उसके साथ ही अंततोगत्वा मनोवृत्तियों का उदात्तीकरण। यह सब दर्शकों को प्राप्त हो, इसके लिए पारसी नाटक मंडलियों में विदेशी नाट्यगृहों की तरह, उन्हीं के अनुकरण पर आकर्षक और सजे बजे दृश्यों और परदों के सरन्जाम द्वारा एक ऐसा माहौल उपजाया गया था कि गाँवों, कस्बों, शहरों के हज़ारों दर्शक–खासो आम क़द्रदान दर्शक पारसीनाटकों के प्रदर्शन में खिंचे चले आते थे। वह एक तिलिस्म था जिसमें लोग मुग्ध होकर प्रवेश कर जाते थे और बार-बार उसे देखकर अधाते नहीं थे।

देखने में मज़ा आए, यानी रस आए"–यह लोकमंच और उससे प्रेरित पारसीनाटक मंच का मूलमंत्र था और ईसी आधार पर व्यावसायिक नाटकमंच बन सकता है। पारसीनाटकमंच प्रथम और अन्तिम व्यावसायिक रंगमंच था क्योंकि उसके बाद नाटक

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

में जन मनोरंजन की जगह प्रयोग, बौद्धिकीकरण, भाषा और अभिव्यक्ति की जटिलता आदि से नाटकमंच पढ़े लिखे दर्शकों तक सीमित हो गया और आज़ादी के बाद जो रवीन्द्र-रंगमंच बने, उनमें जन साधारण आतंकित हो जाता है क्योंकि रवीन्द्र रंगमंच मात्र शिक्षितों और उनमें भी अल्प समुदाय तक सीमित है। पारसीनाटक मंडलियों का लीला-स्थल जनविराट का हृदय और मन था, इसके विपरीत साहित्यिक और प्रयोगशील नाटकों का उद्देश्य मात्र कुछ शिक्षितों तक परिसीमित हो जाता है। अतएव पारसीनाटक मंडलियों को लोकमंच होने का गौरव दिया जाना चाहिए और लोकमंच की दृष्टि से ही उनका अध्ययन विश्लेषण होना चाहिए।

ऐसा नहीं है कि लोक में व्यावसायिक रंगमंच थे ही नहीं, रामलीला रासलीला की व्यावसायिक मंडलियां पहले से रही हैं, उनके पूर्व संस्कृत नाटक-मंडलियां भी होती थीं जो जगह-जगह जाकर प्रदर्शन करती थीं। लोक में इसी परम्परा में स्वांगों, तमाशों, नौटंकी, ख्यालों, लावनियों आदि की मंडलियाँ बनीं और अभी भी हैं और वे बनी रहेंगी क्योंकि वे सीधे सामान्य जन के मनोरंजन से जुड़ी हैं।

इस पृष्ठ-भूमि में पारसी रंगमंच को देखें तो उसे लोकमंच मानना ही पड़ेगा। व्यावसायिक होने से लोकमंच होने में कोई बाधा नहीं पड़ती, बाधा पड़ती है। बौद्धिकीकरण से, विषय के जटिलीकरण और प्रयोगशीलता से क्योंकि सामान्य जन की चित्तवृत्ति के प्रवाह के लिए चीज़ें अपरिचित और अजीब हो जाती हैं।

पारसीरंगमंच का अंतर्विरोध यह था कि उसने जो नाट्यभाषा अपनाई उसमें अरबी-फारसीपन था, उर्दू की प्रचलित सूरत की जगह उसमें उर्दू-ए-मुअल्ला का बोलबाला था और उसी में धार्मिक विषय भी प्रस्तुत किए जाते थे। अतः जब पौराणिक पात्रों से फारसी से लदी उर्दू बुलवाई जाती थी, तब धर्मप्राण जनमानस को आघात लगता था और शुद्धतावादियों को विरोध का आधार मिल जाता था।

पंडित नारायण प्रसाद ''बेताब'' ने इस अंतर्विरोध को पहचाना था। उन्होंने चालू पारसी रंमंचीय नाटकों के लेखन में फारसी से लदी उर्दू पर अपना अधिकार प्रदर्शित किया था और जमकर तारीफ़ पाई थी किन्तु वह जानते थे कि यह जो नाट्यभाषा है, बनावटी है, आरोपित है और पौराणिक प्रसंगों में धार्मिक विश्वासों तथा संस्कृति को बाज़ारू बनाने वाली है। ''बेताब'' जी ने ''लैला मजनूँ'', ''गुल बकावली'', ''मीठा जहर'', क़त्ले नज़ीर'' जैसे नाटकों की परम्परा को इस देश की बहुसंख्यक जनप्रयुक्त हिन्दुस्तानी नाट्य भाषा की देन दी।

इस गंगाजमुनी-मिलीजुली या खिचड़ी भाषा का आदर्श क्या था, यह बेताब के शब्दों में :

''न ठेठ हिन्दी, न खालिस उर्दू
जबान गोया मिलीजीली हो
अलग रहे दूध से न मिस्री
डली डली में घुली मिली हो।''

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

किन्तु इस गंगाजमुनी नाट्य भाषा में भी ''जबान'', ''गोया'', ''खालिस'' जैसे शब्द सामान्य किसानों–श्रमिका–गृहणियों आदि के लिए अजनबी से है क्योंकि उनका प्रयोग मात्र ''मुस्लिमइलीट'' और उनके सम्पर्क में रहने वालों के मध्य होता था। वस्तुतः फारसी-अरबी से विन्यस्त उर्दू शासक वर्ग की भाषा थी, दरबारों बज़ारों की भाषा, सामान्य कृषक श्रमिक या ग्रामीण जनता का भाषा संस्कार भिन्न था, उसमें संस्कृत के तद्‌भव शब्दों और, देशज शब्दों का बाहुल्य था।

इस तथ्य को श्री बेताब ने अपने सहज बोध से जान लिया था। अतः उन्होंने ''महाभारत'', ''रामायण'' जैसे नाटकों में खिचड़ीपन के बावजूद, तद्‌भव तथा तत्सम शब्दों को प्रमुखता दी है:

प्रथम ओइम् करो उच्चार!
जो है आनन्द रूप, सत्, चित् नित निर्विकार
रूप कोउ लेत नाहिं, अलग रहत सूत्रधार।

संवादों का स्वरूप देखिए:

शिशुपाल–नहीं तुम अज्ञानी हो, मूर्ख हो, खुशामदी हो

युधिष्ठर–शान्त, शान्त, चन्देरी के भूपाल, शिशुपाल जरा शान्त!

शिशुपाल–तुम्हारे यज्ञ में, तुम्हारी सभा में, तुम्हारे मकान में बैठने वाले पर लानत है।

युधिष्ठिर–तेजवान नरेश, जरा धीरज धारण करके इसका कारण......तो।''

शिशुपाल–तुमने क्या समझ कर उस छिछोरे छोरे कृष्ण को पहला तिलक चढ़ाया? क्या समझ कर इतने राजाओं में उसका रुतबा बढ़ाया?

यहाँ दृष्टव्य यह है कि तद्‌भव तथा तत्सम शब्दों के साथ-साथ ''खुशामदी'', ''जरा'', ''लानत'', ''रुतबा'' जैसे शब्द अटपटे लगते हैं। पौराणिक पात्र ऐसे शब्द बोल नहीं सकते थे किन्तु बेताब जां, फारसी से अलंकृत उर्दू को छोड़कर एकदम शुद्धतावादी तो हो नहीं सकते थे तथापि महाभारत का स्वागत हुआ था और सप्ताह में एक दिन यह नाटक स्त्री-समाज के लिए आरक्षित किया जाता था जिसमें कोई पुरुष नहीं बैठ सकता था।

महाभारत में हिन्दी के प्रयोग के बीच-बीच पारसी रंगमंच का असली रंग है। सत्यभामा, रुक्मिणी से इस भाषा में बोलती है–''

''मरीज़े नातवाँ तक चारागर
बे इस्तमास आया
ज़हे किस्मत ज़हे क़िस्मत कुआँ प्यासे के पास आया!''

इस तरह की फारसीमय उर्दू से पौराणिक गौरव, बाज़ारूपन से कलंकित होता था और यही चीज़ पारसीरंग मंच के चलन के विरुद्ध गई थी अन्यथावे आज तक प्रासंगिक रह सकते थे।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पंडित नारायण प्रसाद बेताब ने सर्वप्रथम पारसी रंगमंच में "महाभारत" और "रामायण" जैसे नाटकों द्वारा हिन्दी को नाट्यभाषा के लिए ढाला। इसे वह समझते थे कि उन्होंने यह किया है यों वह पश्चातापग्रस्त भी थे कि उन्हें पारसी रंगमंच की नौकरी के कारण ऐसी भाषा में लिखना पड़ा जो ज़नसामान्य की भाषा नहीं थी, हिन्दू-मुस्लिम ईलीट" की भाषा थी जो दरबार और बाज़ार की भाषा के सिवा, ग्रामीण जन की भाषा को देहाती ग्राम्य" या गंवारों की बोली मानता था। तब गंवारों की भाषा हिन्दी और रईसों–हाकिमों–अदीबों–दरबारियों सभ्यों–तमीज़दारों की भाषा उर्दू–ए–मुअल्ला कहलाती थी। आगे चलकर इसी के आधार पर हिन्दी और उर्दू का विग्रह चला जो आज तक जारी है।

उच्च उर्दू के प्रचलित रूप में भी बेताब जी ने अपने को बाकमाल साबित किया। उनमें स्वाभाविक प्रतिभा थी। वह जिला बुलन्दशहर के औरंगाबाद कस्बे में एक हलवाई पंडित दुल्लाराय के पुत्र थे। ब्रह्मभट्ट वंश में कविता करना पारम्परिक करतब माना जाता है। वह करतब अपढ़ दुल्लाराय में भी था और बेताब में भी।

श्री बेताब ने विधिवत् शिक्षा नहीं पाई। वह स्वयंपाठी थे किन्तु उर्दू के जानकारों की सोहबत में सब सीख लिया और साहित्य तथा संगीत का भी कुछ ज्ञान प्राप्त कर लिया। वह लगन और प्रतिभा के बल पर पारसी नाटक मंडलियों के अधिकृत नाटककार बन गए। इस सम्मानित स्थान तक पहुँचने में बेताब ने जो अभाव, अकिंचनता झेली, अपमान सहा, छोटे-मोटे काम किए, यह सब उन्होंने बेताब चरित्र" में लिखा है और उनकी पुत्री डॉ. विद्यावती लक्ष्मणराव नम्र ने अपने शोध प्रबन्ध "हिन्दी रंगमंच और पण्डित नारायण प्रसाद बेताब" में सविस्तार बेताब जी के योगदान की चर्चा की है।

यहाँ बिन्दु यह है कि श्री बेताब ने मामूली शिक्षा के बावजूद उर्दू पर असाधारण अधिकार पा लिया और अपने नाटकों में उर्दू की शायरी, संवादों और पद्य (नज़्म) में अपने चमत्कार दिखाए।

उर्दू के पद्यलेखन मे बेताब जी के तीन कमाल प्रशंसनीय हैं, शब्द विन्यास का कौशल, प्रवाह और मुहावरादानी। इसी के बल पर उन्होंने पारसी रंगमंच के दूसरे बड़े लेखक आग़ा हश्र कश्मीरी की बराबरी की और अपनी प्रतिभा का लोहा उनसे मनवा लिया।

पारसी रंमंच में संवाद पद्यों में बोले जाते थे। ऐसे संवादों मे वाग्विदग्धता या वाणी की चतुराई के बिना काम नहीं चल सकता और कथन में आकर्षण पैदा करने में बेताब अद्वितीय थे। वर्ण्यविषय का दृश्य या बिम्ब खड़ा करना, जो कहना, चातुर्य या कला के साथ कहना और रवानी तथा मुहावरों का ध्यान रखना। तीन गुणों से बेताब का हुनर लाजवाब बनता था :

"आपकी यह रोशनी, बरकी मुबारक आपको, हम तो हैं ममनून अपने कागजी कन्दील के, ग़ैर की दौलत बड़ी भी हो तो इससे फायदा? काम में चिड़िया के आ सकते हैं क्या पर चील के?

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

 Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मुहावरे को किस तरह यहाँ पैबस्त किया गया है, किस तरह बेताब ने पदविन्यास में शिथिलता नहीं आने दी है, सब कुछ चुस्त और दुरुस्त, यह कमाल सर्वत्र है। उर्दू की शायरी की दृष्टि से भी बेताब ने कई स्थलों पर अपने करतब दिखाए हैं:

"इक ऐब को बाबस्ता हुनर से देखा
उलझा हुआ काँटा, गुलेतर से देखा
सच कि धुआँ होता है शोले के क़रीब
जो कान से सुनते थे, नज़र से देखा!

इस तरह के तराशे हुए कटे-छँटे जुमलों की बेताब के नाटकों में बहार है, विशेषकर संवादों में एक-दूसरे के साथ स्पर्धा मे जो पद्यमय संवाद विन्यस्त किए गए हैं, उनमें कहीं भी मन्दता नहीं है, सर्वत्र एक फड़क है।

लीलाभाव या क्रीड़ाशीलता के साथ विनोदप्रियता और सभ्य छेड़छाड़ के अनगिनत रंग बेताब के कथोपकथनों में है। उनमें तबीयत की इतनी रंगीनी और खुश पसन्दगी है कि वेदना, संकट और साँसत के अवसरों पर भी वह अपना विनोद का भाव नहीं भूलते। अतः उनके लेखन में स्वदेशी जीवनप्रियता मिलती है। बुलन्दशहर, उत्तर प्रदेश में बेताब जी बचपन में लावनीबाज़ी करते थे, आमने-सामने सवाल जवाब में उन्हें महारत हासिल थी। उनके नाटकों में कसे हुए, शंकुभूत (Pointed) और कथन कौशल से सजे प्रतिस्पर्धी के छक्के छुड़ा देने वाले संवादों में यह गुण जमकर भरा गया है। आज के आधुनिक नाटककार भी उनसे यह हुनर सीख सकते हैं:

अन्टोनियो रूमी : "आप भी झुकते हैं और झुकता हूँ मैं भी बार-बार, फर्क है दोनों के झुकने में मगर यह आशवार। आप झुकते हैं तौ अपनी खूबियों के बोझ से, मैं जो झुकता हूँ झुकाता है मुझे एहसाँ का बार।

बालथेजर : "क्या सलूक ऐसा किया है
मैंने क्या एहसाँ किया?
इक ज़रासी बात कहदी तो बड़ा अहसाँ किया?
मुफ्त के झगड़े को जाने दो, चलो अब यों सही
तुम मुझे अच्छा कहो और मैं तुम्हें अच्छा कहूँ।

कनीज़ एक : मैं हंसती हूँ बहन तेरी इस ज़िद्दे नागहानी पर
कमर बांधी है तूने किसलिए नाक़द्रदानी पर
अगर तेरी तरह मैं शह की मंज़ूरे नज़र होती
हुकूमत के मज़े लेती हर एक की ताजे सर होती!

खुरशीद : हुकूमत के मज़े लेना मुकद्दर में अगर होता
फ़लक आमादए सरगश्तगी क्यूं इस क़दर होता
मुझे इक आँख भी भाते नहीं ये ठाठ शाही के
कि हैं इस ठाठ में सामान मेरी सियाही के।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

घटना की नाटकीयता दृश्यों की दिलचस्पी और संगीत की लहर के बावजूद रंगमंच पर ऐसे तुर्की-ब-तुर्की जवाब सवाल वाले, कसे हुए, प्रवाही और मन पसन्द संवादों के कारण ही दर्शकों को आनन्द आता था। पारसी रंगमंच ने इस रहस्य को समझ लिया था और इसीलिए बेताब के नाटकों में नाटकीय संवादों का शानदार सरन्जाम किया गया है।

स्थितियों के वर्णन में भी बेताब जादू पैदा कर देते थे। उनमें तटस्थ होकर हालात (अपने और विराने) को देखने और पुरमज़ाक लहज़े में उन्हें कहने का कौशल था:

"कलेजा चीरती है चुपके- चुपके गुप्त कंगाली
कि है गूंगे के दिल का दर्द, मुंह चिकना, शिकम खाली"

जनाब आग़ा हश्र श्री बेताब के इस फ़न पर मुग्ध हो गए थे। वे कहते थे कि बेताब गाली को भी इस तरह कहता है कि पता नहीं चलता कि गाली दी जा रही है। बेताब का एक शेर है जिसमें सीधे "हरामज़ादा" न कहकर, उसे तहज़ीब के साथ इस तरह कहा गया है:

"घड़ी नापाक और क़िस्मत गुलामों की लड़ी होगी
तुम्हारे जिस्म की बुनियाद– छुप -छुप कर पड़ी होगी!"

पारसी रंगमंच के विकास के संदर्भ में बेताब जी की भूमिका भव्य थी। उनके नाटकों में १८५७ के बाद की सामाजिक-जागरूकता को वाणी मिली है। पारसी रंगमंच का शुभारम्भ ईसवी १८५३ में हुआ था और दादाभाई नौरोजी तथा एदला नसरवान जैसे देशभक्तों और समाज-सुधारकों का उसे सहयोग मिला था। उस वक़्त पारसी समाज में जादूमंतर, टोटका, परदा प्रथा अशिक्षा का पूरा साम्राज्य था। उसे संगीत, कला से घृणा थी और यदि कोई जलसे आदि में गाता था, तो उसे आवारा समझा जाता था।[1]

पारसी रंगमंच ने इस पिछड़ेपन और रूढ़िवाद के विरुद्ध संघर्ष किया। बेताब के नाटकों को भी रूढ़िवाद के विरुद्ध संघर्षशील सृजन के रूप में देखा जाना चाहिए। १८५७ की क्रान्ति के बाद भारतीयों ने महसूस किया था कि अपने समाज के जागरण के बिना स्वंतत्रता नहीं मिल सकती, मिल गई तो टिक नहीं सकती। अतएव सुधारवादी आन्दोलन और संगठन खड़े हुए, पुनर्जागरण ज़ोर-शोर से हुआ। बेताब के नाटकों ने इस प्रसंग में सुधारवादी भूमिका अदा की है। स्वयं बेताब जी आर्य समाजी थे, यह एक तथ्य है और उन्होंने एक ओर हिन्दू-मुस्लिम संस्कृतियों को एक करने में सहयोग दिया तो दूसरी ओर सुधारों का साथ दिया।

श्री बेताब के २६ नाटकों में सामाजिक, राष्ट्रीय सामाजिक तथा पौराणिक नाटकों की प्रधानता है। यह सर्वज्ञात है कि उन्नीसवीं शतीब्दी के उत्तरार्ध में भारतीयों का हीन भाव दूर करने के लिए तथा पाश्चात्य सभ्यता की तुलना में भारतीय अतीत की महत्ता को स्थापित कर विदेशी साम्राज्य वादियों के सम्मुख गर्व से खड़े होने के लिए भारतेन्दु से लेकर महावीर प्रसाद द्विवेद्वी युग के सभी कवियों-लेखकों ने अतीत के गौरव का गायन

१. हिन्दी रंगमंच और बेताब, डॉ. विद्यावती, पृ. ४५।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

किया। इसी प्रसंग में बेताब के महाभारत (१९१३) रामायण (१९१५ ई.) पत्नी प्रताप या सती अनुसूया, कृष्ण सुदामा (१९२० ई.) शंख की शरारत (१९२० ई.) धौम्य ऋषि की कथा) कुमारी किन्नरी (१९२८ ई.) का महत्त्व है। कुमारी किन्नरी'' में तो बेताब जी ने ''मदर-इण्डिया'' की लेखिका मिस मेयो को मुंहतोड़ जवाब दिया है।

१९२८ ई. में कलकत्ता में कांग्रेस का अधिवेशन हुआ (पं. मोतीलाल नेहरू अध्यक्ष थे)। इस अवसर पर बेताब के ''कुमारी किन्नरी'' नाटक का मंचन हुआ। जनता ने इसका अभूतपूर्व स्वागत किया।

बेताब ने आगा हश्र के साथ ''सीता बनवास'' लिखा। प्रकारान्तर से इसमें नारी की स्थिति की ओर ध्यानाकर्षण है।

बेताब ने ''समाज'' शीर्षक नाटक में रूढ़िवाद पर प्रहार किया ''हमारी भूल'' (१९३७) में भी यही है:

''देश का सेवक, समाजादर्श उन्नतिमूल है
इसको हम नाटक कहें तो ये हमारी भूल है।''

आश्चर्य यह है कि पारसी रंगमंच को, मात्र मनोरंजन मानने वालों ने बेताब जी तथा अन्य नाटककारों की पुनर्जागरण की भूमिका को हिन्दी इतिहास में शामिल नहीं किया। भारतेन्दु युग और द्विवेदी युग का इतिहास बेताब के योगदान के उल्लेख के बिना अधूरा है।

श्री बेताब ने शेक्सपियर के नाटकों का भी अनुवाद किया है। उनके मंचन से भारत में जागरूकता आई है। ''जहरी साँप'' (१९०६ ई.) में अत्याचारी शासक के विरुद्ध संघर्ष का वर्णन है जो प्रकारान्तर से तत्कालीन ब्रिटिश शासन पर कटाक्ष-सा प्रतीत होता है यों प्रत्यक्षः बेताब ने कहीं अंगरेजों पर हमला नहीं किया है। यह भारतेंदु युग की सामान्य कार्यनीति थी, सीधे आक्रमण मत करो, स्वदेशी पात्रों और प्रसंगों के माध्यम से विदेशी शासन पर कटाक्ष करो।

अभी तक पारसी रंगमंच और बेताब, आगा हश्र आदि नाटककारों के विषय में उनकी सामाजिक भूमिका के लिए सही राय नहीं बनी है। किन्तु पारसीरंग मंच मनोरंजन के माध्यम से सामाजिक और शिक्षा का कार्य भी कर रहा था।

''विक्टोरिया नाटक मंडली'' जैसी पारसी रंगमंच की प्रवर्त्तक कम्पनी जहाँ एक ओर 'चौं चौं का मुरब्बा' जैसा मात्र मनोरंजक नाटक करती थीं वहीं वह राजा हरिश्चन्द्र'' जैसा नाटक भी पेश करती थीं। इस नाटक में दर्शक आदर्श पाते थे और यह नाटक ब्रिटिश शासन पर व्यंग्य था।

विक्टोरियां नाटक कम्पनी, द पारसी स्टेज प्लेयर्स (१८६५ ई.) एलफिन्स्टन क्लब (१८६३ ई.), द इंडियन थियेट्रीकल क्लब (१८६८ ई.) परशियन क्लब (१८७० ई.) परशियन ज़ोरास्थ्रियन नाटक मंडली (१८७१) अल्फ्रेड नाटक मंडली (१८७१-१९२०), नाटक उत्तेजक मंडली (१८७४-१८९१) शेक्सपीयर नाटक मंडली (१८७०-७८)

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ओरीजनल विक्टोरिया नाटक मंडली (१८७५ ई.) एम्प्रैस विक्टोरिया थियेट्रिकल कम्पनी (१८७७-७८) द पारसी एक्सप्रेस नाटक मंडली (१८७१) जोरास्टियन ड्रामेटिक सोसायटी (१८७८-८०) न्यू अल्फ्रेड थियेट्रीकल कम्पनी (१८८२-१९३८ ई.) आदि।

इनमें अल्फ्रेड कम्पनी से बेताब जी का स्थायी सम्बन्ध रहा। न्यू अल्फ्रेड कम्पनी ने ही पंडित राधेश्याम कथावायक के नाटक मंचित किए थे, वीर अभिमन्यु (१९१६ में मंचित) प्रह्लाद (१९२१ में मंचित) कृष्णावतार (१९२६) श्रवणकुमार (१९२७) द्रौपदी स्वयंवर (१९२९) आदि।

हिन्दी प्रदेश के कानपुर नगर में नरसी थियेट्रीकल कम्पनी बनी थी, कलकत्ता में द पारसी कौरोनेशन थियेट्रीकल कम्पनी खड़ी की गई और इसी सिलसिले मे पृथ्वीराज कपूर का पृथ्वी थियेटर (१९४४-६०) का विकास हुआ जिसमें बेताब जी का "शंकुतला" नाटक खेला गया था (१९४५)

पारसी नाटक मंडलियों में से एक विक्टोरिया नाटक मंडली के दादाभाई ठूँठी की प्रेरणा से जयपुर नरेश रामसिंह ने "प्रेम प्रकाश" नामक नाट्यगृह बनवाया जो उस समय सर्वोत्तम था। रामसिंह ने ठूँठी दादाभाई को सवेतन सेवा में रखा था और प्रेमप्रकाश नाट्यगृह में अनेक नाटकों का प्रदर्शन हुआ था। आज इसी नाम से वह सिनेमा भवन बन गया है।

इस तरह पारसरंगमंच ने कई स्थानों पर नाटक चेतना और मंचीय गतिविधियों को अग्रसारित किया था।

पंडित नारायण प्रसाद बेताब का इस नाट्य गतिविधि प्रसारण में अपना योगदान था। उन्होंने १९०९ में कलकत्ता में अल्फ्रेड कम्पनी में काम किया। वह करांची, क्वेटा तक गए और वहां "गोरखधंधा" (कामेडी ऑफ एरर्र्स, का अनुलद) पेश कर कम्पनी को आर्थिक कष्ट से उबारा और बहुत वाहवाही प्राप्त की।

बेताब के समकालीन लेखकों मे मुंशी विनायक प्रसाद "तालिब" बनारसी का "हरिशचन्द्र", बेताब के "महाभारत" जैसा ही प्रसिद्ध हुआ और तालिब बनारसी ने भी बेताब की तरह ऐसी उर्दू का प्रयोग किया जो उसका प्रचलित रूप था और उसमें हिन्दी शब्दों का भी प्रयोग होता था:

हरिश्चन्द्र : "अय प्यारी तारा, आखिरी वक्त संतोख कर कि तेरा पुत्र धर्म और सच्चाई में मरा, तू सच्चाई में मरती हैं और तेरा, यह बदनसीब पति जो इससे भी लाख दुःख पायेगा, तो भी सच्चाई में मरेगा। यह पथरीली ज़मीन फट जाये, गर बुलन्द पहाड़ जगह से हट जाए, समुन्द्र जल के बदले खाक से पट जाए तो भी ओ सत्यता, ओ दो जहान की रहनुमा सत्यता, तेरी आन में कभी बल न आये।"

श्री बेताब ने आगा हश्र और सैयद मेंहदी हसन साहब "अहसान" की बड़ी प्रशंसा की है और इन्हें रंगमंच का प्रतिनिधि लेखक माना है। हसन साहब ने शेक्सपियर के नाटकों का अनुवाद किया और "वाक़यात अनीस" नामक मीर अनीस की जीवनी भी लिखी, चन्द्रावली' नाटिका लिखी जो भारतेन्दु ने भीं लिखी थी।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इसी तरह रौनक लखनवी, मीर गुलाम अब्बास, मौहम्मद अली मुराद लखनवी आदि के अतिरिक्त आगा हश्र काश्मीरी को बेताब जी परसी रंगमंच का शेक्सपियर मानते थे।

१९१२ ई. में जब बेताब ने महाभारत लिखा था तब उन्होंने हश्र आगा को चुनौती दी थी कि "उर्दू आगा साहब की मातृभाषा है। वो अगर उर्दू में लिखते हैं तो क्या कमाल करते हैं। अगर हिन्दी में लिखें तो हम भी दाद दें।" (दिन्दी रंगमंच और बेताब पृष्ठ १३३)

आगा हश्र भड़क उठे, बोले, उस नन्हें बच्चे से कह देना कि अब हम भी हिन्दी में ड्रामे लिखेंगे।" हश्र ने "वनदेवी" हिन्दी में लिखा जो "भारतरमणी" के नाम से खेला गया।

वस्तुतः बेताब और आगा हश्र पारसी रंगमंच के सूर्य-चन्द्र थे। आगा हश्र को तो "भारतीय मॉरलो" कहा जाता है। बेताब हश्र को अपने से अधिक उत्कृष्ट लेखक मानते थे (लिखने में तो था ही तू मुझसे आगे, मरने में भी बेताब से पीछे न रहा)। हश्र ने लगभग ३२ नाटक लिखे जिनमें बिल्व मंगल, भारतरमणी, मातृभक्ति, भागीरथ, हिन्दुस्तान, पहला प्यार, सीता वनवास, भारती बालक, भीष्मप्रतिज्ञा, प्रेमी बालक, मधुर-मुरली, दिल की प्यास और रुस्तम शोहराब में हिन्दी भाषा का प्रयोग किया गया है। वे प्रान्तीय भाषाओं (गुजराती, मराठी) में भी लिखते थे और हिन्दी में भी। इससे पारसी रंगमंच के नाटककारों की भाषा सम्बन्धी उदारता और पारस्परिक सहृदयता तथा जिन्दादिली का परिचय मिलता है। यह सुखद आश्चर्य की बात है कि हमारे ये नाटककार मुक्त हृदय और भाखागत जड़ता तथा संकीर्णता परे थे।

इस नक्षत्रमंडल में अन्तिम नक्षत्र थे श्री राधेश्याम कथावाचक। उनके "वीर अभिमन्यु" (१९१४ ई.) श्रवण कुमार (१९१६) भारत माता (१९१९) बाल कृष्ण "१९१८) भक्त प्रह्लाद (१९२०) रुक्मिणी मंगल (१९२७) उधा अनिरूद्ध (१९२८) ईश्वर भक्ति (१२२९) महर्षि वाल्मीकि (१९३२) सती पार्वती (१९४४) नाटक थे। पंडित राधेश्याम कथावाचक में बेताब के "महाभारत" वाली हिन्दी कुछ और सौष्ठव के साथ प्रयुक्त हुई है और उसमें उर्दू-फारसी के शब्दों के स्थान पर तद्भव शब्दों का प्रिय प्रचलन है।

श्री विश्वम्भर सहाय "व्याकुल" के "सत्य हरिश्चन्द्र" तथा "बुद्ध" शीर्षक नाटकों को साहित्यकारों की भी प्रशंसा मिली। पंडित रामचन्द्र शुक्ल ने "व्याकुल" जी की शुद्ध हिन्दी की बड़ाई की है:

"इसे (बुद्धदेव) पढ़ते ही यह स्पष्ट हो जाएगा कि व्यवसायी कम्पनियों द्वारा खेले जाने वाले और नाटकों से यह कितना समुन्नत है।"

किन्तु आचार्य शुक्ल ने यह नहीं देखा कि भारतेन्दु की "चन्द्रावली" का पूर्वाधार जनाब अहसन ने प्रस्तुत किया था और नीलदेवी को "भारत-रमणी" (आगाहश्र को ध्यान में रखे बिना नहीं समझा जा सकता, उसी तरह जिस तरह शुद्ध और परिष्कृत हिन्दी के विकास को, नाटकों में उसके प्रयोग को, बेताब के "महाभारत" और "रामायण" में प्रयुक्त हिन्दी के बिना नहीं समझा जा सकता।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

लोक, जन, जनवाद, प्रगतिशीलता और जनसाधारण को कला सम्प्रेषित हो, यह रटने वाले प्रगतिशील दृष्टि के लेखकों, आलोचकों ने भी पारसी रंगमंच और "बेताब" जैसे नाटककारों के योगदान को मूल्यांकित नहीं किया। सीमित साहित्यिकता और भाषागत शुद्धतावाद के चक्कर में यह नहीं देखा गया कि किस तरह हिन्दी नाट्य भाषा के रूप में पारसी रंगमंच के द्वारा विकसित हो रही थी और उसमें सामाजिक सुधार और देश के अतीत पर स्वाभिमान था। वस्तुतः पारसी रंगमंच स्वदेशीकरण का आन्दोलन था।

फ़ारसी मिश्रित उर्दू का बाहुल्य पारसी रंगमंच में फारसी पृष्ठ भूमि के मालिकों के कारण था। नाटककार उनकी मर्ज़ी से लिखते थे। तथा पारसी रंमंच के उक्त विकास से स्पष्ट है कि धीरे-धीरे नाटककारों को यह अनुभव होने लगा था कि उर्दू-ए-मोअल्ला या ऊँची उर्दू इस देश की जनता की भाषा नहीं है, वह एक विशेष शिक्षित समुदाय तब सीमित है और यह कि उसके द्वारा इस देश के मिथकों या पुराणों के पात्रों के साथ न्याय संभव नहीं है। राम को "बादशाह" और सीता को "बेगम" कहने में अजीब अपसंस्कृति महसूस होती है अतएव मुसलमान होने पर भी आगा हश्र जैसे नाटककारों ने हिन्दी में लिखने का प्रयत्न किया, बेताब ने महाभारत में सफल प्रयोग किया, राधेश्याम कथावचक ने किया। किन्तु खेद है कि पारसी रंगमंच के इस कार्य को हिन्दी साहित्य के इतिहासों में उचित महत्त्व नहीं मिला।

इस संदर्भ में मुझे यह भी कहना है कि जिसे "लोकप्रिय नाटक मंच" कहा जाता है, वह पारसी रंगमंच ही प्रस्तुत कर सका। राधेहयाम कथावचक का "वीर अभिमन्यु" अभी तक लोक मंचों पर ग्रामांचलों में भी खेला जाता है। मैंने स्वयं अपने ग्राम, अधासी, जिला-इटावा, उत्तर प्रदेश में इसे खेला था और मैंने "साहब बहादुर" का पाठ भी किया था। अब ध्यान में आता है कि पारसी रंगमंच" के सम्पूर्ण नाटकों में ऐसे पात्र और प्रसंग होते हैं जो तत्कालीन राजनैतिक सामाजिक स्थितियों पर व्यंग्य करते थे। "वीर अभिमन्यु" में "साहब बहादुर" नामक पात्र द्वारा अंगरेज़ साहबों की कायरता, प्रदर्शनप्रियता, शेखचिल्लीपन का उपहास किया गया है। इससे पारसी रंगमंच की राजनैतिक जागरूकता का भी पता चलता है।

पारसी रंगमंच के नाटकों में धर्मया मिथक या पुराणों को तात्कालिक यथार्थबोध और स्वदेशी-चेतना का माध्यम बनाया गया था। पारसी रंगमंच के नाटककार धार्मिक व्यक्ति नहीं थे, न पौराणिक थे, वे वस्तुतः मिथक का सामाजिक जागरण के लिए सचेत प्रयोग कर रहे थे।

जहां तक बेताब जी का प्रश्न है, मुझे याद है, बचपन में (१९३०-३५ ई.) हमसे प्राथमिक पाठशालाओं में बेताब जी का गीत गवाया जाता था–अजब हैरान हूँ भगवन, तुम्हें कैसे रिझाऊँ मैं ?" इसके बोल इतने स्पष्ट, कटे छँटे और तर्क इतने रोचक थे कि हममें से किसी का ध्यान इस तथ्य पर नहीं गया कि बेताब जी ने यह प्रसिद्ध गीत, आर्य समाजी प्रभाव मे लिखा है। इस गीत का प्रभाव मेरे बालमन पर इतना पड़ा कि मैं उसके प्रभाव का कारण खोजता रहा। अब श्री नानूभाई सेठ के अभिमत को पढ़ कर लगा कि

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

 Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

श्री सेठ ने बेताब की रचना का रहस्य खोज लिया था। वह लिखते हैं:

"पंडित जी, तुम्हारे अन्दर दो गुण उन्नत है, एक सूक्ष्म से सूक्ष्म भाव को सादा शब्दों में खोल देने का अभ्यास और दूसरा, "आनेस्टी" (ईमानदारी) या सत्यनिष्ठा (बेताब चरित्र, पृष्ठ १४७)।

अजब हैरान हूँ भगवन, तुम्हें क्यों कर रिझाऊँ मैं?
कोई है वस्तु ना ऐसी, जिसे सेवा में लाऊँ मैं।
करूँ किस तरह आवाहन कि तुम मौजूद हो हर जा
निरादर है बुलाने में अगर घंटी बजाऊँ
तुम्ही हो मूर्ति में भी, तुम्ही व्यापक हो फूलों में
भला भगवान को, भगवान पर क्यों कर चढ़ाऊँ मैं?
लगाना भोग कुछ तुमको, यह इक अपमान करना है
खिलाता है जो सब संसार को, उसको खिलाऊँ मैं?
तुम्हारी ज्योति से रोशन है सूरज चन्द्र और तारे
यहाँ अंधेर है तुमको अगर दीपक दिखाऊँ मैं
भुजाएँ हैं, न सीना है, न गर्दन है, न पेशानी
कि है निर्लेप नारायण, कहाँ चन्दन लगाऊँ मैं?

यह गीत वस्तुतः राष्ट्रीय महत्त्व का है क्योंकि यह अभी आरती-अर्चना में अगणित स्थानों में गाया जाता है।

पंडित नारायण प्रसाद बेताबी मात्र नाटककार ही नहीं थे। उन्होंने अपनी जाति और समाज सुधार के लिए अनेक कार्य किए। उन्होंने प्रेस खोला। दूर-दूर के विद्यार्थियों के अपने खर्च पर डाक द्वारा पिंगल पढ़ाया–उन्होंने दिल्ली में "अथर्वा ब्राह्मण सभा" स्थापित की। बेताब जी ब्रह्मभट्ट थे सो ब्रह्मभट्टों को ब्राह्मण जाति में पंक्ति दिलाना तथा स्वजाति बंधुओं की कुटेंव छुड़ाकर उनमें यह भाव भरना था कि ब्रह्मभट्ट ब्राह्मण होते हैं। इसके लिए बेताब जी ने, मिश्रबंधुओं के इस मत का खंडन किया कि सूरदास, बिहारी और भूषण कवि ब्रह्मभट्ट नहीं थे। इस किताब का नाम है "मिश्रबंधु प्रलाप", जिसे बेताब ने स्वयं प्रकाशित किया। उन्होंने "उत्थान" नामक पत्रिका का प्रकाशन भी किया था।

श्री बेताब ने जिस हिन्दी को नाट्य-भाषा बनाया, उसके साथ उसमें भजन, गीत आदि के साथ दोहे, सवैये और कवित्त भी लिखे जिनमें कुछ तो अपने विन्यास वैभव से आज भी मन मोह लेते हैं:

सिंह करत निज नखन सौं कंघी जाके केश
काह न ताको तप-विपिन फूले फले हमेश।

कवि सेनापति से होड़ लगाकर बेताब ने प्रसिद्ध कवित्त लिखा जो सचमुच सेनापति के कवित्त (नारी बीच सारी है......) के समकक्ष लगता है:

बाला बीच ज्वाला है
कि ज्वाला बीच बाला है

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कि बाला ही की ज्वाला है
कि ज्वाला ही की बाला है।

इसका अर्थ यह है कि श्री बेताब पारसी रंगमंच के फारसी उर्दू के प्रति पूर्वाग्रह के दबाव से उर्दू-ए-मुअल्ला में अपने जलवे दिखा रहे थे, जबकि उनके अंतःकरण में हिन्दी साहित्य और भाषा का संस्कार सक्रिय था जो उनके नाटकों के भीतर स्थान-सथान पर प्रकट होता था। बेताब जी जानते थे कि उन्होंने, हिन्दी में नाटक लिख कर, हिन्दी की नाट्यभाषा के रूप में नींव डाली है, इसलिए वह अपनी स्वाभाविक नम्रता के साथ कहते हैं :

''हाँ, नाटकों की कायापलट करने में, 'मगर' और 'खैर' का स्थान ''परन्तु'' और ''अस्तु'' को दिलाने में, अश्लील नाटकों की जड़ काटने में, ऐतिहासिक तथा सामाजिक नाटकों की नींव जमाने में इस (महाभारत) नाटक ने कुछ काम किया है तथा हिन्दी प्रचार में कुछ मदद अवश्य मिली है'' (महाभारत की भूमिका)

''मैंने हिन्दी में है साहित्य को बदनाम किया
फिर भी कुछ सोच के खुश हूँ कि कोई काम किया।''

''जब यह नाटक रंगमंच पर आया तो सत्य के गुप्त बल ने असत्य के प्रकटाडम्बर पर विजय प्राप्त की। इसके प्रकाश ने सब्ज़परी को अंधकार की तरह भगा दिया, गुलफाम को चोर की तरह छुपा दिया, ताजुल्मलूक गुलबकावली की कल्पित कहानियों के दिए ठंडे कर दिए। इसकी अपूर्व सफलता देखकर नाटक कम्पनियों ने अपना रुख बदल दिया, लेखकों ने इसका अनुकरण कल्याण कारक समझा......अश्लील नाटकों से घृणा करके जिन सुशील सज्जनों ने नाटक न देखने की प्रतिज्ञा कर रक्खी थी, उनकी प्रतिक्षा टूट गई। जो लोग अपने कुटुम्ब की स्त्रियों को नाटक दिखाना पाप समझते थे वो बेधड़क साथ ला-ला कर दिखाने लगे'' (महाभारत की भूमिका)।

यही नहीं, महाभारत नाटक में बेताब ने ''चेता चमार'' तथा सती गोपी जैसे पात्र डाल कर रूढ़िवादी हिन्दुओं की जड़ता पर सीधा प्रहार किया, भेदभाव तथा जातिवाद पर यह प्रत्यक्ष चोट की और इसके लिए बेताब जी को बहुत कुछ सहना सुनना पड़ा।

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि बेताब ने हिन्दी की नाट्यभाषा की नींव डाली और यह कार्य बेताब जी ने घोर फारसी से लादी उर्दू के घटाटोप वातावरण के बीच बड़ी वीरता और होशियारी से किया, इतनी चतुराई से कि पारसी रंगमंच हिन्दी नाटक करने को प्रवृत्त हो गया जो पहले असम्भव लग रहा था। मराठी भाषा में कहें तो कहा जा सकता है, ,पंडित नारायण प्रसाद ''बेताब रचिला पाया।''

मैं समझता हूँ कि अब आगे जो हिन्दी साहित्य के इतिहास लिखे जाएँ उनमें हिन्दी नाटक के मूल पारसी नाटक रंगमंच में खोजे जाएँ, बेताब के नाटकों में।

पारसी रंगमंच ने एक सम्मोहक जादुई हिन्दी या हिन्दुस्तानी रंगमंच रचा था जो जन साधारण को आकर्षित कर सका और उसने व्यावसायिक रूप में भी सफलता प्राप्त की।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पारसी रंगमंच में हमें यह राह दिखाई कि हम यदि हिन्दी का व्यावसायिक रंगमंच पुनः स्थापित करना चाहते हैं तो हमें पारसी रंगमंच में गुरु-सूत्र सीखने पड़ेंगे, उसका पुनः - पुनः अध्ययन करना पड़ेगा कि अंततः उसमें ऐसा क्या था जिसने लाखों करोड़ों लोगों को अपनी ओर खींचा और वह भी समूचे अखण्ड भारत में, कलकत्ता से क्वेटा तक और काश्मीर से मद्रास तक, सारे मुल्क में पारसी रंग मंच ने जो धूम मचाई वह आज तक एक रिकार्ड है, एक प्रेरणा है, एक चुनौती है।

शौकिया (अमेच्योर) नाटक मंच और फोरम अनेक बने हैं, जिनमें कुछ निकृष्ट अर्थ में व्यावसायिक भी हैं, जो सरकार से पैसा लूटते हैं और नाटक के नाम पर खानापूरी कर जेब गरम करते रहते हैं। सरकारी संस्थाओं में जो नाटक होते हैं, वे मात्र बड़े और पढ़े लोगों तक सीमित हैं। जनता के मध्य शून्य है और वह विवशता में अपना शून्य उसी परम्परागत रामलीला, रासलीला, नौटंकी, स्वांग, यात्रा, तमाशा आदि से भरती रहती है अतएव पारसीरंगमंच की तरह का व्यावसायिक रंगमंच बने और वह सीधे जनता को मोहित, आकर्षित करे, उसी के बल पर खड़ा हो, चले और उचित लाभ कमाते हुए जनाधारित नाटक मंच के रूप में नैरन्तर्य पाए, यही एक विकल्प है।

यदि ऐसा व्यावसायिक हिन्दी रंगमंच बनेगा तो पंडित नारायण प्रसाद 'बेताब' जैसे नाटककारों का पुनः अवतरण होगा, जिन्होंने हिन्दी नाट्यभाषा की नींव रखी। श्री बेताब रचिला पाया!!

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हिन्दी नवजागरण और महामति महावीर प्रसाद द्विवेदी

"नवजागरण" से अर्थ लिया जाता है, किसी व्यक्ति का समुदाय की जड़ता के प्रति स्वचेतना, यह आत्म जागरूकता कि मैं (हम) अधोगति। पतन। पराधीनता और प्रमाद की दशा में हूँ और यह जो निम्नोन्मुखी गति या चेतना की सुषुप्तावस्था है, वह दूर होनी चाहिए। अजागुण या जड़ता, इस प्रकार आत्म-निषेध या निष्क्रियता तथा आत्मसंतुष्टि (स्मगनैस) की दशा होती है और ऐसी नकारात्मक अवस्था, किसी व्यक्ति और समूह, समुदाय या राष्ट्र के जीवन में आती है, कभी किंचित काल के लिए, कभी दीर्घकालावधि के लिए।

दार्शनिक--विचारक--कवि--लेखक--समाज सुधारक--क्रांतिकारी मनीषी और मनस्वी व्यक्ति इस जनजड़ता को दूर करने, जातीय या राष्ट्रीय गौरव जगाने, समुदाय विशेष की वैयक्तिक-सामूहिक संवेदना को व्यापक बनाने, उसे उकसाने, उत्तेजित करने, शिव-अशिव या बुराई-भलाई का बोध उपजाने, स्वालम्बन, अस्मिता-गरिमा पनपाने और समूचे समूह या राष्ट्र या राष्ट्रों को महान् कार्यों-पराक्रमों और परोपकारों के लिए खड़ा कर देने के वैचारिक अभियान को नवजागरण या पुनर्जागरण (रिनेसां) कहा जाता है।

पुनर्जागरण के जातीय-राष्ट्रीय, वैश्विक अनेक रूप हो सकते हैं। पृथक् रूप में, योरोप में पुनर्जागरण १४वीं शताब्दी से माना जाता है। उसके पूर्व वहां "अंधकाल" (रोमन साम्राज्य के बाद से १४वीं शताब्दी तक (डार्क "एज") कहा जाता है क्योंकि छठी-सातवीं शताब्दी से १४वीं शताब्दी तक पश्चिमी योरोप में, मानव मस्तिष्क पर अंध-विश्वास का राज था, 'आत्मचेतना' सेल्फ अवेयरनैस– कि मैं (हम) हूँ (हैं), मेरी। हमारी स्वतंत्र सत्ता है और मैं स्वतन्त्र रूपेण सोच सकता हूँ, निर्णय ले सकता हूँ। इसके विपरीत, तब, पश्चिमी योरोप में ईसाई मत का लोगों की बुद्धि पर इतना प्रभाव था कि बाईबिल में जो लिखा है, उसे अखण्ड सत्य माना जाता था और इसी अंध-विश्वास की मनोदशा में, धर्म बनाम विज्ञान की टकराहट में गैलेलियो तथा अन्य वैज्ञानिकों को चर्च के दमन का शिकार होना पड़ा था।

अतएव पुनर्जागरण युग का मूल लक्षण यह था कि सत्य के निकष का आधार मनुष्य का विवेक है, धार्मिक पवित्र ग्रन्थों के वक्तव्य को भी, मानव विवेक के आधार पर ही मान्य या अमान्य किया जा सकता है।

भारतवर्ष में यह विवेकशील (रेशनलिस्ट) और वैज्ञानिक दृष्टि, यहां की दर्शन परम्परा में प्राचीन काल से ही मिलती है। आत्मा, परमात्मा और वर्णजाति को मानने लली

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

 Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

धर्माचारप्रधान (यज्ञ आदि) वैदिक परम्परा में, औपनिषदिक चिन्तन में परम सत्ता को मानकर भी, विवेकवाद के परे जा कर भी, धर्म क्रियाओं के अंधानुगमन का विरोध किया गया था और कर्मकाण्ड से ज्ञानकाण्ड की श्रेष्ठता स्थापित की गई थी। प्रत्येक ऋषि की मति और मान्यता के स्वातन्त्र्य का आदर था और आरण्यकों ने सर्वजीव समभाव की स्थापना अद्वैत सत्ता के एकत्व के आधार पर की थी।

अद्वैत वेदान्त ने सिद्धान्ततः समदर्शिता का प्रचार किया था किन्तु व्यवहार में वर्णवादी प्राचीन समाज यशयाग में हिंसादि का प्रयोग करता रहा अतः इस देश में जैन, बौद्ध, आजीवक आदि विवेकवादियों ने पूरी वैदिक परम्परा या ब्राह्मणवाद को चुनौती दी थी और इनके जो संघ या समाज बने, उनमें वर्ण या जाति का भेदभाव नहीं था। यहां लोकायतों और पकुद काच्यायन जैसे दार्शनिकों ने, ईश्वरवाद, यज्ञवाद और वर्णवाद को असत्य और पाखण्ड घोषित किया और "स्वभाववाद" का प्रवर्त्तन किया। माधवाचार्य के सर्वदर्शन संग्रह में 'स्वभाववाद का परिचय दिया गया है। जहां ईश्वर आत्मवाद, दृष्टि के मूल में किसी अलक्षित सत्ता को नैर्मित्तक-उपादान कारण मानता है, वहां स्वभाववाद प्रकृति या सृष्टि की सत्ता को स्वभावतः मानता है, यानी वह दृष्टि आधुनिक वैज्ञानिक दृष्टि से समान थी जिसमें प्रकृति को अनादि-अनन्त और प्राकृतिक प्रक्रिया का परिणाम माना जाता है, किसी दैवी सत्ता की कल्पना नहीं की जाती क्योंकि प्रकृति की व्याख्या प्रकृति की प्रक्रियाओं में निहित है, किसी ब्रह्म, ईश्वर या बाह्य शक्ति में नहीं, अतएव स्वभाववाद के अनुसार ब्रह्म–ईश्वर–आत्मा–स्वर्गनरक आदि की सत्ता काल्पनिक या पौराणिक (मिथकीय) है, वास्तविक नहीं।

"भारत में नास्तिकवाद"[1] और लोकायत[2] जैसी पुस्तकों में भारतीय विवेकवाद का पूरा विवरण दिया गया है। इस विवेकवाद में सांख्य-न्याय और वैशेषिक दर्शन भी आ जाते हैं क्योंकि सांख्य में प्रकृति और चेतना (पुरुष) को ही माना जाता है और वैशेषिक-दर्शन में सृष्टि की व्याख्या मूल द्रव्य/कण या परमाणु द्वारा की गई है और तर्कशास्त्र (न्याय) में "ईश्वर" को केवल तार्किक आवश्यकता (लाजीकल-नैसेसिटी) के रूप में माना गया है, विश्वास के रूप में नहीं।

इसका अर्थ यह है कि भारत वर्ष में नवजागरण के प्रवाह आते जाते रहे हैं। रूढ़िवाद और तज्जन्य क्रूरता बढ़ने पर यहां विवेकवाद उभरता रहा है, नवजागरण के इस धाराक्रम को, मोटे रूप में इस प्रकार देख सकते हैं–

१. प्रथमजागरण–कर्मकाण्ड के अतिवाद या रूढ़ि के विरुद्ध आरण्यक तत्त्ववादियों का औनिषदिक चिन्तन।

२. संपूर्ण वैदिक कर्मकाण्ड–वर्णवाद और ब्रह्म–आत्मा–देवतावाद के विरुद्ध योगियों का विवेकवाद (स्यात्‌वाद/अनेकान्तवाद/प्रतीत्य समुत्पादवाद आदि) तथा नास्तिकों का स्वभाववाद। निगम-आगमों की इस टक्कर के बाद इनका समन्वय होता रहा, संघर्ष भी।

---

१. "इंडियन एथीसिज़्म"–देवीप्रसाद चट्टोपाध्याय, पी.पी.एच., नई दिल्ली १९८० ई.

२. लोकायत (अंग्रेजी में) देवीप्रसाद चट्टोपाध्याय, पी.पी.एच. नई दिल्ली।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

३. भक्ति-आन्दोलन। इसमें स्मार्तपरम्परा में निगमागमों की संगति तथा गैर स्मार्त्त या शास्त्र निरपेक्ष योगियों-सन्तों और भक्तों में आगम परम्परा का प्रभाव अधिक रहा।

४. आधुनिक-पुनर्जागरण।

सोवियत रूस की मास्को विश्व विद्यालय की भारतीय भाषा विभाग की आचार्य सज्ज़ानोवा यह मानती हैं कि भक्तिकाल, भारतीय पुनर्जागरण का काल था। डॉ. रामविलास शर्मा भी यही मानते हैं, अन्य अनेक विचारक भी। मैं भी मानता हूँ किन्तु तुलनात्मक दृष्टि से देखें तो मध्यकालीन भारतीय पुनर्जागरण में "विवेकवाद" दुर्बल रहा। यहां अधिदार्शनिकता, परासत्ता में विश्वास और उसके प्रति भक्ति या प्रेम प्रधान रहा। दूसरे, यहां विज्ञान और तकनीक (टेक्नोलोजी) का विकास नहीं हुआ, न धर्म निरपेक्ष शास्त्रों का जैसा कि प्राचीनकाल में हुआ था, अतः मध्यकाल में कोई आर्यभट, कोई कौटिल्य (अर्थशास्त्र) और कोई नागार्जुन (रसायनशास्त्री) नहीं जन्मा, सन्तों और भक्तों का ही बाहुल्य रहा।

आधुनिक पुनर्जागरण हिन्दी नवजागरण, जिसका एक भाग है, की विशेषता यह है कि उसमें मध्यकालीन अंधविश्वास के स्थान पर धर्म को विवेक के साथ स्वीकार करने की प्रवृत्ति है, यद्यपि यह सच है कि अत्यन्तिक विश्वासों को सीधी चुनौती नहीं दी जा सकी तथापि आधुनिक पुनर्जागरण में धर्म के प्रति एक सोचता हुआ मस्तिष्क है जो अंधविश्वासों के विरुद्ध लड़ता है, स्वामी दयानन्द इसके सबसे प्रबल प्रमाण हैं। उन्होंने पूर्ण निर्द्वन्द्व, निर्भय और साहसी बौद्धिक के रूप में पौराणिकता (मिथ) को चुनौती दी और वेदिक धर्म के पक्ष में अन्य सारे धर्मों के अंध-विश्वासों पर प्रचण्ड प्रहार किया। स्वामी जी वेद और वैदिक आस्थाओं को निस्संग समाज वैज्ञानिक के सदृश तो देख नहीं सकते थे तथापि उन्होंने तथा उनके आर्य समाज ने सनातन धर्म सहित, सभी धर्मों में सन्निविष्ट अंध-विश्वासों को ललकारा और मुक्त शास्त्रार्थों द्वारा समाज की अंधश्रद्धाजन्य जड़ता को तोड़ा, बुद्धिवाद को जगाया।

यह स्मरणीय है कि आधुनिक नवजागरण 'तथा हिन्दी नवजागरण १८५७ की राजक्रान्ति या विद्रोह के बाद प्रबल हुआ। क्रान्तिकी असफलता के बाद, भारतीय समाज और साहित्य में दर्शन और सुधार-आन्दोलनों में, दो प्रवृत्तियां दिखाई पड़ती है, प्रथम, संकटकाल में, साम्राज्यवाद के जुए में जुती पराधीन जनता के मनोबलवर्धन हेतु इतिहास में अपने मूल (रूट्स) की खोज, अतीत की उपलब्धियों का गौरवानुसन्धान तथा अपने समाज की बुराइयों-विकृतियों के विरुद्ध असंतोष तथा सुधार का विराट आयोजन एवम् आन्दोलन।

बंगाल, महाराष्ट्र, गुजरात और मद्रास के अंचलों में सर्वप्रथम सुधारचेतना सक्रिय हुई, विशेषकर बंगाल में राजा राममोहन राय, देवेन्द्र-केशवचन्द्र सेन, विद्यासागर आदि महानुभावों के वैचारिक अभियान से भारतवर्ष में आत्मचेतना का संचार हुआ। हिंदी प्रदेश में स्वामी दयानन्द, श्रद्धाराम फिल्लौरी, भारतेन्दु और उनके बाद महामति महावीर प्रसाद

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

द्विवेदी ने ''हिन्दीजाति'' या हिन्दी प्रदेश के समाज की मुख्य मूढ़ताओं पर प्रकार किया, और आधुनिक बौद्धिक सुधारवादी-सामाजिक-चैतन्य की अग्नि का प्रज्ज्वलन किया।

ध्यानतव्य यह है कि भारतेन्दु युग में हिन्दी में परम्परा के रूढ़िगत रूपों का विरोध प्रबल नहीं हो सका। भारतेन्दु एक ओर ''चन्द्रावली'' लिखते हैं, दूसरी ओर ''नीलदेवी'', भारतदुर्दशा, ''अंधेरनगरी'' और ''विषस्य विष औषधम्''। रीतिकालीन काव्य रूढ़ियों का वह तिरस्कार नहीं करते अपितु वह देव, बिहारी, पद्माकर आदि से रचनात्मकता में होड़ लगाते हैं। भारतेन्दु ने आधुनिक गद्य-विधाओं की नींव डाली, किन्तु कविता में वह गतानुगतिक रहे जबकि महामति महावीर प्रसाद द्विवेदी अधिक स्वतन्त्र चेता थे। उन्होंने नायिकाभेद के स्थान पर दृढ़ता से साहित्य के केन्द्र में सामाजिक चेतना को प्रतिष्ठित कर दिया और सामाजिक पुनर्जागरण, उपदेश प्रेरणा, ऐतिहासिक इतिवृत्तों के वर्णन द्वारा गौरवगायन और महापुरुषों के चरित्रों से युवाशक्ति के उत्तेजन को कविता तथा लेखन का मुख्य उद्देश्य घोषित किया। प्रायः सभी कवियों ने महामति महावीर के इस उन्नयनशील मार्ग को अपना लिया।

श्री कृष्ण ने 'गीता' में कहा है कि जब पतन होता है, हताशा फैलती है, धर्म या मानव मूल्यों की दुर्गति होती है, तब तब मैं अवतार लेता हूँ। वस्तुतः यह मात्र धर्मोक्ति नहीं, इतिहासोक्ति है। इसका प्रयोजन यही है कि समाज की अधोगति में कोई महापुरुष नवजागरणकारी भूमिका अदा करते हैं। इसी प्रक्रिया को, इस अनिवार्य इतिहास क्रम को गीता में बताया गया है। श्रीकृष्ण के शब्दों में महामति महावीर प्रसाद द्विवेदी कम से कम, हिन्दी साहित्य में अधिकतर रचनाकारों को अपनी सामयिक भव्य भावना तथा चेतना से चलाते प्रतीत होते हैं। इन्हीं प्रेरणा-पुरुषों में, कृतज्ञ व्यक्ति, दिव्य छवि देखते हैं। ''भ्रामयन् सर्वभूतानाम् यंत्रारूढानि मायया''–यहां मायया के स्थान पर ''सरस्वती शक्ति'' रख सकते हैं किन्तु यह सत्य है कि महामति महावीर की ''सरस्वती'' ने महावीर की गदा की तरह जातीय जाड्य, नायिकाभेदी नखशिख वर्णनवाली श्रृंगारिकता आदि पर प्रचण्ड प्रहार किया और शुद्ध साहित्यिकता, कला और कौशल की परवाह न कर लेखन को कथ्यप्रधान बनाया।

महावीर प्रसाद द्विवेदी का महामतित्व इससे सिद्ध होता है कि उन्होंने साहित्यिक चेतना को सुधारात्मक बनाने के सिवा सामान्य बौद्धिकता और प्रबुद्धता के लिए साहित्य के क्षेत्र में विविध ज्ञान-शाखाओं के प्रति उन्मुखता उत्पन्न की। उनकी सामाजिक ऐतिहासिक टिप्पणियों-निबन्धों के सिवा, उन्होंने अंगरेजी साम्राज्यवाद के शोषण को अनावृत्त करने और इस प्रकार अंगरेजों को भारतदुर्दशा का मूल कारण प्रमाणित करने के लिए, अर्थशास्त्र लिखा जो ''सम्पत्तिशास्त्र'' के नाम से छपा। द्विवेदी जी की ''सरस्वती'' में डार्विन के विकासवाद पर कई निबन्ध प्रकाशित कराए गए थे। स्वयं द्विवेदी जी ने एक ओर तो ''कुमारसंभव'' और ''रघुवंश'' के अनुवाद किए, हिन्दी में महाभारत लिखा तो दूसरी ओर बेकनविचार-रचनावली'' में बेकन के आधुनिक जागरण से शुभारम्भ हुआ, अन्यथा

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

साहित्य की बौद्धिक पृष्ठभूमि दुर्बल रहती, साहित्य, स्वाधीनता संग्राम तथा सुधारों की तीव्रता से नहीं जुड़ पाता।

द्विवेदी जी का महामतित्व इसी ज्ञानकाण्ड से सिद्ध होता है। डा. रामविलास शर्मा ने यह सही लिखा है कि द्विवेदी युग, साहित्य का ज्ञानकाण्ड था। किन्तु द्विवेदी जी के इस बौद्धिक नेतृत्व की उपेक्षा कर उनकी भूमिका को मात्र खड़ी बोली हिन्दी भाषा के परिष्कार तक ही सीमित कर दिया जाता है। यक़ीनन् उन्होंने और उस समय केवल उन्होंने ही भाषा संस्कार कर्ता का कार्य किया पर उन्होंने हिन्दी जाति के मस्तिष्क क्षेत्र का भी नया संस्कार किया। इस बौद्धिक जुताई-गुड़ाई के बिना, हिन्दी में आधुनिक ज्ञान-विज्ञान के प्रति जिज्ञासा बढ़ नहीं सकती थी और ज्ञान-विज्ञान ही नवजागरण का मुख्य आधार होता है। अतीत-गौरव से मात्र मनोबल बढ़ता है किन्तु बुद्धि-विज्ञान-बल के बिना मनुष्य के सृजन-चिंचन में मात्र भावुकता रहेगी, अंधविश्वास रहेगा और वह मात्र परम्परा या रूढ़ि को दुहराता रहेगा।

महामति महावीर प्रसाद द्विवेदी के महामतित्व या बौद्धिकता के कारण ही उनमें इतनी रुक्षता, अनुशासनप्रियता और नीरसता सी है, उनमें तरलता के स्थान पर ज्ञानी की दृढ़ता है। उनके रोम रोम में देशभक्ति थी किन्तु उसके लिए उन्होंने तात्कालिकता के स्थान पर भारतीयों को ज्ञानी बनाना चाहा ताकि उनके सिरों में जो अज्ञान-अंधकार या विचारशून्यता भरी है, वह आधुनिक ज्ञान विज्ञान के आलोक से दूर हो जाए अतः यह आकस्मिक नहीं है कि उस युग के प्रवर्तक आचार्य द्विवेदी विकासवाद और बेकन पर लिखते-लिखवाते हैं तो उन्हीं की चेतना के ध्वजवाहक आचार्य रामचन्द्र शुक्ल हेकल के 'रिडिल ऑफ यूनीवर्स' के आधार पर 'विश्वप्रपंच' लिखते हैं। हिन्दी नवजागरण की यह गौरवमयी झांकी है।

महामति महावीर प्रसाद द्विवेदी ने 'सम्पत्तिशास्त्र' में विदेशी साम्राज्यवाद की भयंकर लूटखसोट का वर्णन किया है। कई स्थानों पर इसे बढ़कर हमारा ध्यान आज की स्थिति की ओर भी जाता है।

द्विवेदी जी ने लिखा है कि प्राचीन राजा जनता से भूमि का कर लेते थे, लगान नहीं, और भूमि का स्वामी राजा नहीं, प्रजा थी यानी किसान थे।[1] अब आज की स्थिति देखें। जमींदारीप्रथा, किसानों के शोषण के लिए अंगरेजों ने चलाई थी। उसका उन्मूलन स्वाधीनता के बाद वर्तमान शासक वर्ग ने किया परन्तु आधे-अधूरे ढंग से फलतः बिहार और बंगाल में तथा अन्यत्र भी उत्तर प्रदेश, राजस्थान, म. प्रदेश आदि में भी, भूमिहीन किसान (शिकमी) भूमिधरों की जमीन अधबटाई / तिहाई पर जोतते है और बड़े भूमिधर मोज करते हैं या राजनैतिक व्यवसाय करते हैं। भूमि पर "लगान" लग रहा है, बढ़ रहा है, कर नहीं यानी अंगरेजी परम्पराकायम है। अतएव द्विवेदी जी का सम्पत्तिशास्त्र अब भी प्रासंगिक है, बस अंगरेजों की जगह, स्वदेशी स्वामी आ गए हैं जो देश को लूट रहे

१. "महावीर प्रसाद द्विवेदी और हिन्दी नवजागरण" राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, १९७७ ई.पृ. २२

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हैं और भूमिहीन कृषक, श्रमिक, पूर्ववत् शोषित है। नवधनायड्य लोग, गरीब किसानों की ज़मीनें खरीद रहे हैं।

'सम्पत्तिशास्त्र' में द्विवेदी जी ने, भारतीयों पर ऋण की समस्या उठाई है। लिखा है कि शासकों ने साढ़े चार अरब का क़र्ज़ लिया है जिसका ब्याज १४ करोड़ बैठता है। क़र्ज़ लेकर विकास करने और भ्रष्टाचार द्वारा घर भरने की प्रवृत्ति अंगरेजों के जमाने में शुरु हुई थी जो अब अंगरेज़ों शिक्षा और उनकी राजनीति से शिक्षित् और उन्हीं के नमूने (मॉडल) पर भारत में शासन का ढांचा खड़ा करने वाले वर्तमान शासक वर्ग ने पिछले ४७ वर्षों में लगभग एक लाख करोड़ रुपये के क़र्ज़ का भार देश पर लाद दिया है, जिसका ब्याज सकल राष्ट्रीयआय का एक तिहाई होता है और यह जो विराट वित्त विनियोग हुआ है उसमें से भारी हिस्सा भ्रष्टाचार द्वारा नेता-अधिकारी ठेकेदार-दलाल, तस्कर व्यापारी श्रेणी के घर पहुँचा है और जो निर्माण कार्य होते हैं उनमें इतनी मिलावट होती है कि नहर-सड़क भवन, बांध आदि में मजबूती न होने से पुनः पुनः निर्माण कार्य होते हैं और पुनः-पुनः लुटेरे वर्ग का घर भरता है। जनता विपन्न से विपन्नतर और समाज के ऊपर के वर्ग समृद्ध से समृद्धतर होते चले जा रहे हैं। महामति महावीर प्रसाद द्विवेदी का ''सम्पत्तिशास्त्र'' इसलिए, आज भी आंखें खोलने वाला है क्योंकि उस युग के शासन वर्ग का अनुकरण ही देशी साहब तथा सेठ वर्ग कर रहा है।

द्विवेदी जी ने, विश्व साम्राज्यवादी व्यवस्था का ''सम्पत्तिशास्त्र'' में भंडाफोड़ किया है। मार्च १९०८ की सरस्वती में द्विवेदी जी ने ''गुलामों का व्यापार'' पर लिखा क्योंकि वह जानते थे कि दुनिया को सभ्य बनाने का दावा करने वाले गोरे लोग दासों के व्यापारी थे। ''पुराने जमाने में यूनान के व्यापारी गुलामों का व्यापार करते थे उनसे उत्पादन कराते थे, यूनानियों के बाद यही काम रोम के सौदागरों और भूस्वामियों ने किया। औद्योगिक क्रांति से पूर्व योरोप और ब्रिटेन के व्यापारी उन्हीं यूनानियों और रोमनों के चरण चिन्हों पर चल रहे थे।''[1]

ईसाई धर्म को सभी धर्मों में श्रेष्ठ मानने वाले विदेशियों की अमानवीय क्रूरता का लोमहर्षक वर्णन द्विवेदी जी ने ''गुलामों का व्यापार'' में किया है। पुर्तगालियों ने तो अंगोला देश में हद कर दी थी। द्विवेदी जी ने लिखा है......''नए गुलाम बुरी तरह पीटे जाते हैं......कुछ लोग गुलामों के व्यापार की ही बदौलत अमीर हो गए हैं, उनके यहां गुलामों के गोदाम हैं......लड़के की उम्र १५० रुपए, जवानी की ३०० रुपये और नौजवान लड़की की ३७५ रुपये पड़ते हैं।''

यह सर्वज्ञात है कि ईसाई धर्म पर गर्वकर्ता अंगरेजों ने भारत से ''गिरमिटिया'' मजदूरों को बलपूर्वक दूर सागर के द्वीप देशों (मारीशस, सूर्यनाम आदि) में भेजा और उनका जमकर शोषण किया। पादरी लोग दासत्व के इस घृणित रिवाज़ का समर्थन, बाइबिल के आधार पर करते थे......१८८३ में स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद भी सौ वर्ष तक गोरे अमरीकियों ने अमरीका में दासप्रथा कायम रखी।

१. ''महावीर प्रसाद द्विवेदी और हिन्दी नवजागरण'' राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, १९७७, पृ. ३६

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

द्विवेदी जी ने अंगरेजी साम्राज्यवाद द्वारा भारत में जमींदारी प्रथा का प्रचलन उन्हे अपना अभिकर्ता (दलाल) बनाने किसानों-मजदूरों का रक्त पीने, उन्हें दबाकर रखने, भूमि की मालगुजारी बढ़ाते जाने, भारतीय विक्रय योग्य वस्तुओं के इंग्लैण्ड में प्रवेश पर भारी टैक्स लगाने और अंगरेजी वस्त्र आदि सामान को शुल्कमुक्त रखने से भारतीय दस्तकारों की बर्बादी पर जम कर लिखा है जो आज भी पठनीय है। जो अंगरेजों को सभ्यता सिखाने वाले, देश में नयी चेतना, नयी तकनीक, नया शासन, नयी न्याय पद्धति आदि लाने वाले माने जाते हैं उनकी पोल, "सम्पत्तिशास्त्र" में खुलती है। महामति महावीर प्रसाद द्विवेदी अंगरेजी राज की भूमिका को सबसे अच्छी तरह समझाते थे।

द्विवेदी जी ने हिन्दी नवजागरण के लिए एसिया के नवजागरण को ध्यान से समझा था। उन्होंने १९७१ की सरस्वती में सिद्धेश्वर वर्मा का लेख "जापानी साहित्य" पर छापा। १९०५ मे रूस पर जापान की जीत पर लिखवाया। उनका विचार था कि हमें जापानियों से सीखना चाहिए। जापान में जातिवाद नहीं था। वहां के हजारों छात्र, विदेश में पढ़ने जाते हैं। उनमें उत्कृष्ट देशभक्ति और कार्यनिष्ठा होती है। सरस्वती में छपे लेख में कहा गया है–"जापान ने विज्ञान को अपने देश में प्रधानता दी है" (वही, ५१) द्विवेदी जी जानते थे कि भारत में लोगों पर अभी भी जितना प्रभाव धर्म या विश्वास का है, उतना विज्ञान का नहीं, अतः वह जापान की विज्ञानप्रियता को उसकी उन्नति का मूल मानते हैं।

जापान के सिवा, सरस्वती में द्विवेदी जी ने 'चीन के अखबार' (१९०९) 'चीन जागृति', चीन में सामाजिक परिवर्तन (१९१५) लेख छापे और स्वयं १९१८ में 'चीन और भारत के सामाजिक जीवन में साम्य" पर आलेख लिखा। १९०९ में काशीप्रसाद जायसवाल के द्वारा चीनी भाषा सीखने पर प्रशंसात्मक टिप्पणी लिखी जैसे वह व्यंजना से यह संदेश दे रहे हो, मात्र अंगरेजी से काम नहीं चलेगा, अन्य भाषाएं सीखो, विशेषकर अपनी महाद्वीप की भाषाएं। उन्होंने १९११ में 'लंकाद्वीप', १९१८ में 'तिब्बत', १९०८ में रूस, आदि पर लेख प्रकाशित कराए, ताकि हिन्दी के पाठकों की जानकारी : जागरूकता बढ़े।

द्विवेदी जी ने प्रथम विश्व युद्ध की तैयारियों का विरोध किया था। १९१५ में उन्होंने टिप्पणी लिखी और लड़ने वाली फौज का खर्च जोड़ा। कहा कि दोनों पक्षों के ४० लाख से अधिक लोग लड़ रहे हैं। अगर कलकत्ते से कुरुक्षेत्र को १० लाख सेना ले जाना हो, तो ५ लाख २८ हजार घोड़े दरकार होंगे। एक घोडा कम से कम १२ सेर घास और दाना रोज खाता है। इस हिसाब से कोई ६२ लाख सेर घास और दाना प्रति दिन खर्च होगा। (वही, पृ. ६५)

द्विवेदी जी बड़े धैर्य से विश्वयुद्ध में सैनिकों के वेतन वस्त्र, मालवी ढुलाई, बरबादी आदि का हिसाब लगाते हैं और युद्ध को जनविरोधी सिद्ध करते हैं। कहते हैं कि अकेले इंग्लैण्ड का १९१५ ई. तक ५ अरब और ४० करोड़ रुपया खर्च हो चुका है। "अभी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

तक (१९१६) इसमें लाखों आदमी प्राण खो चुके और अरबों रुपये ख़र्च हो गए (वही, पृ. ६६)।

द्विवेदी जी ने ज़ाना था कि विश्व साम्राज्यवाद को सोवियत रूस ने झटका दिया था। उन्होंने 'रूस का राष्ट्र विप्लव' पर लेख लिखवाया था—

"प्रत्येक ग्राम में एक सोवियत (पंचायत) सभा स्थापित की गई। उस सभा में प्रत्येक मनुष्य को प्रतिनिधि चुनकर भेजने का अधिकार दिया गया परन्तु दूसरों की मेहनत पर लाभ उठाने वाले ब्याज पर निर्वाह करने वाले, और राजघराने के मनुष्य इस मत देने के अधिकार से वंचित किए गए......।"

सरस्वती में द्विवेदी जी ने बोल्शेविक क्रांतिकारियों के पक्ष में लेख छापे जबकि योरोपीय अखबार सोवियत रूस के विरुद्ध विषवमन कर रहे थे, प्रवाद फैला रहे थे। हिन्दी नवजागरण की शक्ति यह थी कि हिन्दी के पत्रकारों ने सोवियत रूस की क्रांति का समर्थन किया क्योंकि वह गरीबों के पक्ष में अमीरों के विरुद्ध हुई थी। सरस्वती, मर्यादा, सुधा, 'प्रताप' और 'हंस' आदि हिन्दी पत्रिकाओं में क्रांति के प्रति पक्षधर दृष्टिकोण व्यक्त हुआ। सर्वाधिक क्रांति-समर्थन श्री गणेशंकर विद्यार्थी के 'प्रताप' में हुआ जिसे पढ़कर आज खद अश्चर्य होता है कि हमारे हिन्दी नवजागरण का रुख कितना प्रगतिशील : प्रबुद्ध और इन्क़लाबी था।

द्विवेदी जी ने शायद क्रंति से प्रेरित होकर किसान-मजदूरों के संगठन पर बल दिया। 'सम्पत्तिशास्त्र' में उन्होंने रेलवे तारघरों, डाक कर्मचारियों, रेलवे के ड्राइवरों-गार्डों की हड़तालों का समर्थन किया था।

डॉ. रामविलास शर्मा के अनुसार द्विवेदी जी कल्पित मनोराज्यपरक समाजवाद (युटोपियन सोशलिज्म) से परिचित थे (वही, पृ. ८२)। मिल की पुस्तक 'लिबर्टी' का अनुवाद हिन्दी में कराया गया था और उसमें समाजवाद के स्वप्नदर्शी सेंट साइमन की चर्चा आई है:

"समाज के जुदा पेशा करने वाले लोगों को अपनी पूँजी एकत्र करके संयुक्त श्रम करना चाहिए और उससे जो मुनाफा हो, उसे बांट लेना चाहिए।"

१९०७ में 'सम्पत्तिशात्र' की रचना हुई थी। १९२६ में द्विवेदी जी ने किसान संगठन पर लिखा था, क्रांतिकारी संगठन पर रामप्रसाद बिस्मिल ने। द्विवेदी जी, प्रत्यक्षतः अंगरेजों के विरुद्ध नहीं लिख सकते थे किन्तु ऐसी विचारधारा का पक्ष ले रहे थे जिससे साम्राज्यवाद विरोधी चेतना का प्रचार-प्रसार हो। छायावाद में विशेषकर निराला में यही प्रवृत्ति थी यानी छायावाद में द्विवेदी युग के नवजागरण का ही नैरन्तर्य है। छायावाद द्विवेदी युग की भस्म पर नहीं, उसकी नींव पर खड़ा हुआ था। वह मूलतः स्वच्छन्दता का आन्दोलन था, राजनीति, मानव सम्बन्ध अथवा नर-नारी प्रेम आदि सर्वत्र छायावादी लेखक स्वतन्त्रता चाहते थे। इस स्वतन्त्रता का सिलसिला भारतेन्दु युग से शुरू हुआ, द्विवेदी युग में यह बढ़ा और स्वच्छन्दतावाद या छायावाद में यह चरम सीमा पर पहुँचा।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

छायावादी या स्वच्छन्दतावादी कालावधि १९२० से १९३६ में द्विवेदी युगीन सुधारवादी जनवाद का एक प्रवाह प्रेमचन्द के कथा साहित्य में फूटा था। इसी तरह प्रेमचन्द तथा निराला के यथार्थवाद और छायावादियों की स्वच्छन्दतावाद की जड़ें द्विवेदी युग में धंसी हुई थी, वहीं से वे बढ़ीं, फलीं-फूलीं।

यह सत्य है कि स्वच्छन्दतावादी कविता में इतिवृत्तता तथा उपदेशों-सुधारात्मक प्रेरणाओं की स्थूलता के विरुद्ध मनोवैज्ञानिक सूक्ष्मता आई थी, यह भी सत्य है कि छायावाद में द्विवेदी युगीन प्रेम सम्बन्धों की स्वच्छन्दता की मांग हुई, उसके आकर्षणों और सौन्दर्य के मनमोहक वर्णन हुए, द्विवेदी युगीन रुक्षता और नसीहत पसन्दगी की जगह मनुष्य की मनोदशाओं, प्रकृति के रमणीय दृश्यों को लाक्षणिक मूर्त्तविधान द्वारा मनोहर बनाया गया और इसीलिए साहित्य में युग बदला। छायावाद इस दृष्टि से यक़ीनन् द्विवेदी युगीन रुक्षता के विरुद्ध स्निग्धता की प्रतिक्रिया थी, इसीलिए द्विवेदी युगीन कविता, आज सपाटबयानी-सी लगती है अथवा उसमें परिष्कृत काव्य भाषा नहीं प्रतीत होती, मैथिलीशरण गुप्त, हरिऔध, आदि इसीलिए छायावादियों के सम्मुख पुराने लगने लगे तथापि गद्य के क्षेत्र में जहां विचारों और जीवन की वास्तविकताओं को वर्ण्य विषय बनाया जाता है, वहाँ द्विवेदीयुगीन नवजागरण और छायावादी चेतना में अंतर नहीं प्रतीत होता। प्रेमचन्द के उपन्यासों-कहानियों, निराला के चतुरीचमार 'बिल्लेसुर बकरिहा'—जयशंकर प्रसाद के उपन्यास (कंकाल) महादेवी के रेखाचित्र, माखनलाल चतुर्वेदी के निबन्धों-टिप्पणियों और कई कविताओं में द्विवेदी युगीन नवजागरण की ही मूल चेतना व्यक्त हुई है।

यह जो कहीं-कहीं लिखा गया है कि छायावाद में रीतिकालीन शृंगारिकता ही है, वह इसलिए ग़लत है क्योंकि द्विवेदी युग में नारी की महत्ता की स्थापना की गई थी। द्विवेदी जी के 'उर्मिला विषयक उदासीनता' निबन्ध तथा मैथिलीशरण गुप्त तथा हरिऔध आदि ने उर्मिला, सीता, कैकेयी और राधा को मानवीय गरिमा से अभिमंडित किया था। नारी को प्रेम सम्बन्धों में स्वतन्त्रता देने का समर्थन करते हुए तथा नर-नारी के परस्पर आकर्षणों को, गीतात्मक मनोदशा में अतिशय महत्त्व देते हुए भी, छायावाद में नारी को भोग की दृष्टि से नहीं देखा गया। 'जुही की कली' (निराला) को संयोग शृंगार की स्फुटता के कारण महामति महावीर प्रसाद द्विवेदी ने उसे सरस्वती में नहीं छापा था परन्तु संयोग की स्पष्टता के बावजूद 'जूही की कली' में एक तल्लीनता है और प्रकृति के प्रति मुग्ध अनुरागी दृष्टि है। निराला के गीतों में भी मानव-प्रेम की निविड़ता और मुग्धता है, कहीं प्रेम पात्र को मात्र वासना में प्रयुक्त करने का भाव नहीं है और जयशंकर प्रसाद में तो कामायनी में नारी को नर की मुक्ति या मोक्ष या उदात्तीकरण का कारण माना गया है और कामवासना को मंगल से मंडित श्रेय कहा गया है क्योंकि सर्ग-इच्छा-सृष्टि उसका प्रयोजन होता है। महादेवी और पन्त जी में भी नारी-नर के मध्य आसक्ति और गुरुत्वाकर्षण उच्च स्तरीय है बल्कि महादेवी में तो संयोग की इच्छा का विरोध है "चलते चलते मिट जाऊँ, पाऊँ न पंथ की सीमा" वाला मनोभाव है जो रीतिकाल में अलभ्य है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सारांश यह है कि छायावादी सृजन में नारी को जो उदात्तता और गरिमा मिली है, उसके मूल में द्विवेदी युगीन नारी के प्रति आदर-संभ्रम और महिमा मंडन है। छायावादी, द्विवेदी-युगीन कसावट या मर्यादावाद के विरुद्ध थे परन्तु प्रेम में उन्होंने नारी की मर्यादा की रक्षा की।

परन्तु एक अर्थ में छायावादी द्विवेदी जी से पिछड़े हुए थे। द्विवेदी जी, देश और समाज की समस्याओं को अध्यात्मवाद से अधिक महत्त्व देते थे। उन्होंने ईश्वरवाद आत्मवाद' आदि के प्रसंग में पर्याप्त विवेकवादी (रेशनलिस्ट) रुख अपनाया था जबकि छायावाद पर रहस्यवाद का प्रभाव बहुत अधिक था। अध्यात्मवादी धारणाओं पर प्रश्नचिह्न लगाकर द्विवेदी जी ने वैज्ञानिक चेतना पर बल दिया था यों वह सुसंगत भौतिकवादी नहीं थे। डॉ. रामविलास शर्मा ने विस्तार से द्विवेदी जी की वैचारिकता और विवेक-विज्ञानशीलता पर प्रकाश डाला है। द्विवेदी जी में बालकृष्ण भट्ट की वैज्ञानिक बुद्धिवाद को ही अग्रसारित किया था–

'भारतेन्दु हरिश्चन्द्र से लेकर महावीर प्रसाद द्विवेदी तक, हिन्दी के जागरण के नव सूत्रधार पुराने चर्खे करघे वाले भारत का स्वप्न नहीं देखते, वे देश के आधुनिक उद्योग धन्धों के विकास के पक्षपाती हैं ......यह नवजागरण अतीत के प्रति भावुकता, पुनरुत्थानवाद और रहस्यवाद की दृष्टि नहीं अपनाता। इसीलिए, हिन्दी में अद्वैतवाद, उपनिषदों और रवीन्द्रनाथ के रहस्यवाद की चर्चा १९२० से पहले कम होती है। हिन्दी जागरण मूलतः बुद्धिवाद और रहस्यवाद विरोधी है।'' (डॉ. शर्मा, पृ. १८०)

महामति महावीर प्रसाद द्विवेदी ने भारतीय भाषाओं का पक्ष लेकर देश पर विदेशी भाषा के आरोपण का विरोध किया। उन्होंने जनपदीय भाषाओं (बैसवाड़ी, ब्रज, बुंदेली आदि) को हिन्दी के मूल्य पर समर्थन नहीं दिया और न उर्दू को हिन्दी से पृथक् भाषा माना। उसके अरबी-फारसी से लदे रूप की जगह उन्होंने हिन्दी को ही जनभाषा माना और उसी के विकास के लिए काम किया। उन्होंने हिन्दी में नए लेखकों को लिखना सिखाया, हिन्दी भाषा का विशुद्ध व्याकरणिक और प्रतिमानीकृत रूप सुनिश्चित किया, निरन्तर साम्राज्यवादी व्यवस्था के विरुद्ध अलख जगाई और समाज सुधार के लिए भारतीयों को चेताया। उन्होंने पत्र-पत्रिकाओं-पुस्तकों के द्वारा एक विशाल पाठक वर्ग तैयार किया और वह लेखकों के लिए शिक्षक बन्धु, परामर्शक, गुरु-विचारक सभी कुछ बन गए, शास्ता भी, इतने कि उनके परामर्श को अधिकतर लेखकगण मानते थे। साहित्य, भाषा, ज्ञान विज्ञान, अतीत-वर्तमान और भविष्य को लेकर प्रत्येक वाद-विवाद की वह धुरी थे, धुरन्धर भी।

द्विवेदी जी की साहित्य समीक्षा को भी उक्त हिन्दी नवजागरण के संदर्भ में ही समझा जाना चाहिए। उन्होंने खड़ी बोली में कविता की वकालत की, कवि तैयार किए, स्वयं भी कवितात्मक लेखन किया। नए छन्दों (वर्णो) के प्रयोग की मांग की। रीतिकालीन रूढ़ियों और रसिकता को उखाड़कर उन्होंने नए-नए सामाजिक प्राकृतिक राजनैतिक ऐतिहासिक

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

विषयों पर लिखना सिखाया। उन्होंने दृढ़ता से एक झटके में रीतिकालीनता को साहित्य से निकाल बाहर कर दिया और लोक साहित्य, समाज और देश की स्वाधीनता आदि को साहित्य के केन्द्र में जमा दिया। उनके बिना हिन्दी भाषा, हिन्दी जाति या हिन्दी प्रदेश को चेतना–सम्पन्न नहीं किया जा सकता था। वह हिन्दी भाषा भाषी जनता के दार्शनिक, मित्र और बन्धु ही नहीं, शास्त्ता या हिन्दी परिवार हितैषी तानाशाह भी थे, अतः उनके प्रति हिन्दी जाति, हिन्दी भाषा के पाठकों, लेखकों में भय मित्रित आदर था, जैसा पिता के प्रति होता है।

महामति पंडित महावीर प्रसाद द्विवेदी, इस प्रकार हिन्दी नवजागरण के सूत्रधार और कर्णधार थे। उनके व्यक्तित्व का मर्म इस तथ्य में निहित है कि वह १८५७ की क्रांति में भाग लेने वाले श्री रामसहाय दुबे के पुत्र थे जिन्होंने लायलपुर (पंजाब) में अंग्रेजों के विरुद्ध बंदूक उठा ली थी।

मुझे लगता है कि महामति महावीर प्रसाद द्विवेदी के भीतर उसी सशस्त्र क्रांतिकारी का रूप उन्हें साम्राज्यवादियों, और सामाजिक विकृतियों तथा अत्याचारों के विरुद्ध संघर्ष में लडाकूपन देता रहा है। उनके पिताश्री ने हथियार उठाया, पुत्र ने शब्दास्त्र और किसी सुषुप्त अर्ध-सुषुप्त देश-प्रदेश में शब्दास्त्र से जनजाड्य को काट डालता है, अंधेरे भगा देता है। सरस्वती वंदना में कहा गया है, या कुन्देन्दु-तुषारहार धवला......निःशेष जाड्यापंहा।'' यह पूर्णतः द्विवेदी जी की शक्ति स्वरूपा, 'सरस्वती' पत्रिका पर लागू होता है। 'सरस्वती' ने भारतीयों की निःशेष अशेष जड़ता के तमस को नष्ट करने में अचूक भूमिका अदा की अतः महामति महावीर प्रसाद द्विवेदी के नाम में जो 'महावीर' शब्द है और पत्रिका का जो सरस्वती नाम है, वह सार्थक है। वह हिन्दी नवजागरण के पोषक, प्रहरी और पक्षधर थे।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जयशंकर प्रसाद : पुनर्मूल्यांकन के नये परिप्रेक्ष्य

यह वर्ष जयशंकर प्रसाद का स्मृति-वर्ष है। आचार्य शुक्ल के विषय में पुनर्मूल्यांकन कम, खींचतान अधिक हुई थी। जयशंकर प्रसाद के विषय में यह शुरू हो गई है जबकि पुनर्मूल्यांकन होना चाहिए।

मेरी समझ में जिन्हें स्वच्छन्दतावादी या छायावादी कवि कहा जाता है, उनमें प्रत्येक कवि में यक़ीनन स्वच्छन्दतावादी तत्त्व हैं किन्तु प्रत्येक कवि इस कोटि को तोड़कर बाहर भी निकल जाता है अतएव पुनर्मूल्यांकन का प्रथम बिन्दु यह है कि हम सादृश्य के आधार पर कल्पित किसी कोटि के आधार पर मूल्यांकन या पुनर्मूल्यांकन करें या उस समय के वास्तविक आधारों, संरचनाओं और शक्तियों तथा तज्जन्य वातावरण के विवेच्य लेखन पर प्रभावों को ध्यान में रखकर सोचें?

मेरा मत है कि किसी सादृश्य के आधार पर कल्पित कोटि के चौखटे में किसी लेखक को कसने से उसके जनाधार, सांस्कृतिक या विचारधारात्मक संरचनाओं को मूल्यानुसन्धान का निकष बनाना अधिक विश्वसनीय निकष है क्योंकि किसी विशेष दिक्काल, विशिष्ट स्थिति और गति में, किसी प्रदत्त परिस्थिति और पूर्वप्रचलित पृष्ठभूमि में किसी रचनाकार की कृति अपनी भूमिका अदा करती है।

प्रसादजी, अन्य छायावादियों की तरह, राष्ट्रीय स्वाधीनता आन्दोलन काल की उपज थे और स्वाधीनता की चेतना ब्रिटिश साम्राज्यवाद से टकरा रही थी। चेतना 'ऊपरी आधार' (सुपर स्ट्रक्चर) की प्रवृत्ति होती है। वह राष्ट्र-चेतना भारतवर्ष में प्राचीनकाल या सामन्त साम्राज्ययुग में ही पनप चुकी थी, इस रूप में कि भारत एक विशिष्ट भौगोलिक इकाई है और यह हमारा राष्ट्र या देश है। सिकन्दर के आक्रमण से अंग्रेजों के आधिपत्य तक यह स्वाधीनता की चेतना अनवरत इस देश के लोगों में बनी रही है, पराधीनता में भी अतएव भारतेन्दु के बाद द्विवेदीयुग और उसी के भीतर पनपने लले स्वच्छन्दतावादी कवियों में भी यह स्वाधीनता की चेतना, उनके साहित्य में अनेक प्रकार से प्रकट हुई है। राष्ट्रवादी और साम्राज्य-विरोधी चेतना का आधार, हमारी अर्थव्यवस्था का निर्मम शोषण था, इस पर बहुत लिखा गया है अतः यहां काफी है कि यह ध्यान में रखा जाए कि राष्ट्रवादी चेतना का आधार आर्थिक था, मात्र भावुकता नहीं। यह सच है कि राष्ट्रवादी चेतना अंग्रेजी के माध्यम से आगत यूरोपीय राष्ट्रवादी चेतना से परवान चढ़ी किन्तु वह मूलतः स्वदेशी थी, यह स्मरणीय है क्योंकि उसके बीज ही नहीं, उसका पल्लवन भी भारतीय मिथकों, पुराणों (विष्णु पुराण) में मिलता है जहां देश की सीमाएं सुपरिभाषित हैं।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वर्ग दृष्टि से यह राष्ट्रीय चेतना बूर्ज्वा राष्ट्रवादी चेतना थी, क्योंकि इसमें भारत देश के प्रति अस्पष्ट या अपरिभाषित ममता थी। यह स्पष्ट नहीं था कि स्वाधीन होने पर धन और धरती पर किसका अधिकार होगा? सामन्तों या भूस्वामियों को अपदस्थ कर भूमि कृषकों को दी जाएगी, यह तो स्पष्ट था अतः सामन्त और राजा-महाराजा इस चेतना के विरोधी थे किन्तु देशी महाजन और पूंजीपति-उद्योगपति राष्ट्रवादियों, विशेषकर गांधीवादियों के साथ थे क्योंकि गांधीवाद में वर्ग चेतना नहीं थी, सर्वोदय का संकल्प था अर्थात् गांधीवाद पूंजीवाद का अविरोधी था और भावुकतावश यह सोचता था कि देशी पूंजीपति जनसाधारण के न्यासी (ट्रस्टी) बनकर रहेंगे। यही कारण है कि वर्गबोध की दृष्टि से हम इसे पूंजीवादी-राष्ट्रवादी चेतना (बूर्ज्वा नेशनलिज्म) कहते हैं, जो सही नाम है।

जयशंकर प्रसाद के साहित्य में यह अपरिभाषित या बूर्ज्वा राष्ट्रवाद, देश के प्रति ममत्व, स्वाधीनता की अमूर्त आकांक्षा के रूप में स्थान-स्थान पर, प्रकट हुआ है, 'अरुण यह मधुमय देश हमारा' तो प्रसिद्ध ही है, अन्य अनेक गीतों और सुभाषितों तथा उक्तियों में यह देश-प्रेमी भाव छलका, किन्तु जिस बिन्दु की ओर अभी तक किसी की दृष्टि गयी ही नहीं, वह है हिन्दू या प्राचीन या पारम्परिक धार्मिक विचारधारा के प्रयत्नों का, स्वाधीनता आन्दोलन के सन्दर्भ में नया प्रयोग।

जयशंकर प्रसाद इस देश के पारम्परिक हिन्दू मानस को ही क्यों सर्वाधिक पसन्द आए? क्योंकि जयशंकर प्रसाद ने परम्परागत प्रत्ययों का समकालीनीकरण करके उनका गौरव बढ़ाया, उनको प्रासंगिक बनाया। एक-दो उदाहरण ही पर्याप्त होंगे। हिन्दू दर्शन और धर्म में, नियतिवाद या भाग्यवाद सर्वस्वीकृत प्रत्यय या अवधारणा है। यह सच है कि नियति या भाग्य को पूर्वजन्म के कर्मों का फल माना गया है। शैव-शाक्त परम्परा, जिसे प्रसादजी मानते थे, उसमें नियति, काल, दिक्, विद्या, कला की तरह एक पाश है किन्तु परम्परा की प्रामाणिक व्याख्या यह है कि 'नियति' में मात्र पुनर्जन्म का कर्मफल नहीं होता, उसमें इस जन्म के कर्म की भी गुंजाइश रहती है। यदि ऐसा न होता तो इस जन्म में, 'कर्म' या संकल्प (फ्री विल) की कोई सम्भावना रहती ही नहीं और यह भी है कि ज्ञान, योग और लोक साधना से कर्मपाश (नियति आदि) कट सकते हैं, तभी तो सत्कर्म का महत्त्व है, सत्संकल्प का।

परम्परा की इस प्रामाणिक व्याख्या से परिचित होने के कारण प्रसादजी का जीवक कहता है कि वह नियति की डोरी पकड़कर कर्मकूप में कूद सकता है।

दूसरा उदाहरण ब्राह्मणत्व का है। ब्राह्मण क्या है? वह जाति है या कर्मविशेष का नाम है? याद रहे, प्रसाद जी इस अर्थ में क्रान्तिकारी नहीं थे कि जन्म से जाति का सीधा खण्डन करते। किन्तु पारस्परिक प्रत्ययों (कन्सेप्ट्स) में जो मानव गौरव छिपा था, उन्होंने सामने रखा। इसी कारण , सिकन्दर के सामने चन्द्रगुप्त नाटक में ब्राह्मणत्व की व्याख्या जातिपरक नहीं, वर्णपरक नहीं अपितु मूलअवधाणापरक है। 'ब्रह्म' शब्द का अर्थ परम्परा

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

में सृष्टि के मूल की अलक्ष्य चिन्मय अस्तित्त्व है, यह ठीक है किन्तु 'ब्रह्म' का अर्थ यह भी है कि ब्रह्म अर्थात् सार्वभौमिकता, पूर्णता, सर्वव्यापकता अतः ब्रह्मं विजानाति ब्राह्मणः आदि यह व्याख्या लें तो प्रसादजी कहते हैं कि ब्राह्मण सार्वभौम स्वराज्य में विचरता है, उस सर्वस्वतन्त्र साम्राज्य को उससे कोई छीन नहीं सकता। सिकन्दर ब्राह्मणत्व की इस विराटता या व्यापकता पर विस्मित होता है और वह अपनी दृष्टि में संकीर्ण और अपराधी तथा लघु सिद्ध हो जाता है।

हिन्दू या आर्ष अवधारणाओं की सामयिक और उच्च गौरव मूलक व्याख्याओं के कारण प्रसादजी के नाटक राष्ट्रवादी आन्दोलन की ऊंचाइयों और अपने मूल की पहचान कराने वाली महादृष्टि देते हैं और यही दृष्टि उनकी पात्र-रचना में है। उन्होंने प्राचीन भारत के उस युग की महत्ता को रूपायित किया जिसे विदेशी शासक मात्र मिथकीय मानते थे। इस भ्रम-भंजन के लिए प्रसादजी ने घोर परिश्रम कर भारतीय इतिहास और पुरातत्त्व का दर्शन और धर्म का पुनराख्यान किया। प्रसादजी के चन्द्रगुप्त, बिम्बसार, अजातशत्रु, स्कन्दगुप्त, चाणक्य, राक्षस, गौतम बुद्ध, दांड्यायन आदि के सम्मुख ब्रिटिश हासक और उनके विचारक बौने लगने लगे। चिन्तन, शासन, प्रबन्ध, अर्थशास्त्र, नीति, न्याय, अस्त्र-शस्त्र, सेना, युद्ध, सन्धि और प्रशासन में भारतीय उपलब्धियों को रूपायित कर प्रसाद ने, भारतीयों की हीनभावना को दूर किया और विदेशियों के मिथ्या अहंकार को नष्ट कर दिया।

इसीलिए, 'छायावादी' कोटि से उस काल के कवियों का मूल्यांकन अधूरा रह गया है तथापि अतीत की गौरवमय पुनः प्रस्तुति व पुनः प्रस्तुति व पुनर्रचना में छायावादी तत्त्व है। छायावाद कल्पना की भव्यता और अतिशयता पर आधारित था। इस कल्पना-शक्ति से ही तो प्रसाद जी ने अतीत का रंग रूप रचा और सौन्दर्यप्रियता इतनी थी कि देवसेना का वह स्कन्दगुप्त से विवाह नहीं कराते क्योंकि तब सौन्दर्य का जादुई सम्मोहन नष्ट हो जाता। कामायनी में मनु श्रद्धा से विवाह करते हैं या स्थायी साथ बना लेते हैं किन्तु वह साथ निभता नहीं—सौन्दर्य क्षितिज की तरह दूर रहे। वह स्थायी रूप से दिक्, काल से, पात्र से बंधा कि ऊब उत्पन्न हुई। यह छायावादी मानसिकता नाटकों में भी है किन्तु उससे उसकी राष्ट्रवादी भूमिका भव्य ही हुई है क्योंकि सौन्दर्य जीवन-स्पृहा जगाता है, जीवन के प्रति आकर्षण बनाए रखता है अतः वह चेतना का उज्जवल वरदान है, पाप नहीं। पाप तो सौन्दर्य को मात्र वासना तक सीमित कर देने में है।

इस बिन्दु पर कामायनी के संदर्भ में पुनः कुछ कहेंगे। यहां यह कथ्य है कि राष्ट्रवादी चेतना में यह एक और आयाम था। वह अधिदार्शनिक विश्वासों, हिन्दू धार्मिक आस्थाओं और हिन्दू रीति-नीति या आचार में निष्ठाओं का आयाम था जो सभी हिन्दू राष्ट्रवादियों में था किन्तु जवाहरलाल नेहरू जैसे कुछ विवेकवादी (रेशनलिस्ट) या अज्ञेयवादी (एगनोस्टिक) अपवाद थे। अपने-अपने धर्म से प्रेरणा लेना, अपने-अपने धर्म और आचार को, सुधारवाद के बावजूद अपनाए रहना, इस प्रवृत्ति से पुनरुत्थानवादी रुख को बल

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मिला और इसी पुनरुत्थानवादी रुख के कारण देश का विभाजन हुआ।

इस संदर्भ में यह ध्यातव्य है कि भारत के बुद्धिजीवी समुदाय पर जिस यूरोपीय बुर्जुआ "राष्ट्रवाद का प्रभाव पड़ा, वह पुनर्जागरण" (रिनेसां) कालीन चर्च-विरोधी अंधविश्वासखंडक राष्ट्रवाद नहीं था। यूरोप में, विशेषकर ब्रिटेन में, औद्योगिक पूंजीवाद के अभ्युदय काल में उसकी भूमिका प्रगतिशील थी, उसने बुद्धिवाद या विवेकवाद को अपनाया, श्रद्धा पर आधारित धर्म का अंधविश्वास का, चर्च का विरोध किया। शेक्सपियर में संगठित धर्म का विरोध है और दृष्टि अंधश्रद्धापरक नहीं, 'अज्ञेयवादी' है। 'अज्ञेयवाद' किसी अलक्ष्य सत्ता को नहीं मानता, वह 'अज्ञेय' विषयों के बारे में सोचता है, मान्यता नहीं देता किन्तु जो राष्ट्रवाद अंग्रेज बुर्जुआ तथा सामंती तत्त्व यहां लाए, जिस स्वच्छन्दतावाद या छायावाद को रवीन्द्रनाथ ने पढ़ा, अपनाया; उसमें प्रकृति में ब्रह्म का आभास या छाया का दर्शन था अतः रवीन्द्रनाथ के माध्यम से अथवा बिटिश रोमांटिक कवियों से सीधे प्रभाव ग्रहण द्वारा आगत छायावाद, प्रतिक्रियावादी पूंजीवादकालीन था, प्रगतिशील पूंजीवादकालीन नहीं। यही कारण है कि पन्त, प्रसाद, निराला, महादेवी आदि सभी कवियों का रहस्यवाद और छायावाद भारतीय स्वतन्त्रता के संघर्ष के समय पलायन का प्रतीक माना जाता था और रहस्यवादी कविताएं साहित्य में आकर्षक किन्तु सामाजिक स्तर पर संघर्ष के संदर्भ में उपहास और परिहास की पात्र थीं। 'छायावाद' शब्द इसी दिल्लगी में रखा नाम था।

किन्तु बहुआयामी स्वच्छन्दतावादी कवियों ने रहस्यवाद के समानान्तर देशभक्ति, जनभक्ति की भी कविताएं लिखीं, विशेषकर निराला ने जनवाद का परिचय दिया और क्रान्तिकारी रचनाओं से छायावाद को संतुलित किया। अब उक्त दृष्टि से यह स्पष्ट है कि निराला, पन्त, प्रसाद, महादेवी सभी सर्ववादी वेदान्ती दर्हान से प्रभावित थे, और इस दृष्टि से इन कवियों को, 'अज्ञेयवादी' रिनेसां के रचनाकारों की तुलना में अधिक प्रगतिशील बताना (रामविलास शर्मा) निराधार है। यह अवश्य है कि इन भारतीय वेदान्ती कवियों ने सर्ववाद से भी समदर्शिता और सबके प्रति सम्वेदना की प्रेरणा भी ग्रहण की किन्तु यह मानववादी या सर्वप्राणीवादी प्रवृत्ति सभी में है।

यदि भारतीय राष्ट्रवादी आंदोलन में धार्मिकता के स्थान पर स्वतन्त्र विवेकवादी प्रवृत्ति प्रबल होती तो न विभाजन होता और पूंजीवादी राष्ट्रवादी चेतना का वैज्ञानिक समाजवादी चेतना में रूपान्तरण भी सरल हो जाता। आज समाजवादी वैज्ञानिक विवेकशील विश्वबोध में सबसे बड़ा बाधक तत्त्व धर्म या मज़हबी मानसिकता है, साम्प्रदायिकता है और विवेकवाद की दुर्बलता से ही देश में क्षेत्रीयतावाद, भाषावाद और जातिवाद आदि बढ़ा है, उपभोक्तावाद भी मानव-प्रेम और मानव-मूल्यों के ह्रास का परिणाम है।

त्रासदी यह है कि बुर्जुआ राष्ट्रवादी नेतृत्व ने 'सेक्युलर' शब्द का अर्थ ही ग़लत किया। 'सेक्युलर' का अर्थ है, इहलौकिक। अर्थात् पारलौकिकता के प्रति निरपेक्ष हो जाना, धर्म और सम्प्रदायों के प्रति निरपेक्षता और इस लोक के कल्याण, सुधारपरिवर्तन और कायाकल्प के प्रति प्रतिबद्धता। गांधीवादियों ने गांधीजी की धर्मवादी विचारधारा के प्रभाव से, सेक्युलर का अर्थ सर्वधर्मसमभाव ले लिया। अतः धर्मनिरपेक्षता के इस अर्थ से धार्मिक

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

 Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

विश्वास दृढ़ हुआ और गांधी-विनोबा सर्वोदय और सरकारी हलकों मे 'सर्वधर्मसमभाव' तथा 'सर्ववर्ग समभाव' प्रबल हो गया। देश के विघटन का एक कारण यह तथाकथित धर्मवाद भी है जिसके बीज छायावाद में भी मिलते हैं।

पारलौकिकता, परात्पर सत्ता में विश्वास जयशंकर प्रसाद की परवर्ती कविता का मेरुदण्ड है जबकि गद्य में प्रसादजी इहलौकितावादी या सेक्युलर हैं। 'आंसू' तक में, प्रसादजी ने इहलौकिकता को, संशोधित संस्करण में चिरन्तन-अलक्ष्य सत्ता के प्रति प्रेम से मिश्रित कर दिया अतः 'आंसू' जो मूलतः इहलौकिक कविता थी, पारलौकिकता की झलकें मारने लगी और वह सूफियों की तरह इश्कमज़ाजी और इश्कहक़ीक़ी, दोनों की एक साथ समासोक्ति बन गई। इसके पूर्व प्रसादजी के शुरू के काव्य मे अनेक इहलौकिक प्रकृति, इतिहास आदि विषयों पर कविताएं हैं अतएव प्रसाद में इहलौकिक और पारलौकिक को ठीक-ठीक पहचाना जाना चाहिए।

इहलौकिता तथा पारलौकिकता की चरम स्थिति 'कामायनी' में है जो प्रसादजी की सर्वोच्च कृति है और छायावाद की भी। स्थिति तो यह है कि चाहने पर भी दिनकर और पंत जैसे कवि कामायनी जैसे कृति नहीं लिख सके। दिनकर ने 'उर्वशी' लिखी पर वह उस स्तर तक नहीं पहुंच सकी। छायावाद के बाद, हिन्दी में क्रांतिकारी प्रगतिशील कविता की धारा में कई बड़े कवि सामने आए, उनके कई संग्रह हिन्दी कविता का अग्रगामी, नवीन और आकर्षक रूप प्रस्तुत कर सके किन्तु एक भी कृति ऐसी नहीं, जिसे निर्विवाद रूप से 'कामायनी' के समकक्ष रखा जा सके। अज्ञेय, शमशेर और मुक्तिबोध में, प्रसाद से आगे की कविता है, इसमें संदेह नहीं किन्तु स्फुट या कुछ दीर्घ कविताओं के सिवा एक भी कृति ऐसी नहीं, जिसमें अज्ञेय, शमशेर, मुक्तिबोध, केदार, नागार्जुन, त्रिलोचन आदि ने अपने समूचे जीवन-बोध, मूल्य-संघर्ष और समाज चित्रण आदि को एक साथ पेश किया हो। अतः इस दृष्टि से आज भी विश्व के स्तर पर रखने योग्य कृति 'कामायनी' है; 'असाध्यवीणा', 'आत्मजयी', 'संशय की एक रात', 'अन्धायुग' और 'अंधेरे में' कोई कृति सांगोपांगता की दृष्टि से, कामायनी को अपदस्थ नहीं कर सकीं, यह एक हक़ीक़त है, जिसे प्रयोग और नवीनता के सारे प्रयत्न नहीं ढक सके। इसीलिए मैंने बार-बार यह लिखा और कहा कि एक बार भाषा और शैली मंज या सध जाने के बाद समकालीनों को किसी बड़े फलक की कृति में अपने सम्पूर्ण 'विज़न' और रचनात्मकता को आंकना चाहिए, अन्यथा छिटपुटपन या स्फुटपन का अतिक्रमण नहीं होगा, नयी लकीरें, नयी लहरें, नये गुलदस्ते बनाते ही उम्र बीत जाएगी, कोई समुद्र नहीं बन पाएगा, कोई समग्र चित्र तैयार न होगा, पूरे कृतित्व का ताजमहल न बन पाएगा क्योंकि छिटपुट प्रतिक्रिया या क्षण-विशेष के बिम्बायन में चेतना को देर तक तनाव नहीं झेलना पड़ता जबकि बड़ी रचना में चेतना को दीर्घ समय तक तानना पड़ता है जो सबके बूते का काम नहीं है।

'कामायनी' में जीवन-दर्शन का पूरा 'विज़न' या महाबोध है, वह अधिदार्शनिक या अध्यात्म में लय हो जाता है अतः समाधान की दृष्टि से वह फैंटेसी में खो जाता है किन्तु अन्त आध्यात्मिक होने पर कृति के प्रारम्भ और मध्यभाग में मनुष्य की मनोवृत्तियों का

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मनोहर मानवीकरण है। समग्रता में संरचनात्मक दृष्टि से, निर्मित के हिसाब से, न्यूनताएं हैं, अमूर्तन है किन्तु ऊपरी, सतही कथानक विधान को छोड़कर, यह अमूर्तन भी मनौवैज्ञानिक आयामों या मनःस्पन्दनों के आकर्षक चित्रण से, नवीन है और इसीलिए वह इतिवृत्तात्मक काव्य की परिधि को लांघ गया था। 'राम की शक्तिपूजा' (निराला) में संरचना की दृष्टि से कसावट अधिक है किन्तु मनोदशाओं की भव्यता कामायनी में अधिक है। इसके सिवा 'कामायनी' को प्रसाद जी ने अनेकार्थक बनाया है। वह आठ पहल वाले शीशे की तरह है, जिससे एक साथ कई जीवमर्म और सामाजिक अभिप्राय ध्वनित होते हैं। औद्योगिक, बौद्धिक, वैज्ञानिक युग की, विशेषकर पूंजीवादी व्यवस्था में मनुष्य, विशेषीकरण के कारण, विभाजित व्यक्तित्व का शिकार हो जाता है और इच्छा, क्रिया, ज्ञान के इस विभाजन से जीवन विडम्बना बन जाता है। इस मूलभूत असंगति को, प्रसाद जी ही अपनी अचूक अन्तर्दृष्टि से लक्षित कर सके थे। समाजवादी व्यवस्था में भी ओद्यौगिक तकनीकी प्रणाली में व्यक्तित्व के विभाजन की समस्या है। कार्ल मार्क्स ने इसका समाधान यह खोजा था कि साम्यवाद में, अभाव और वर्गशोषण की समाप्ति और इच्छानुसार कार्य चुनने की स्वतंत्रता के समय एक ही व्यक्ति कवि, अन्वेषक, चित्रकार, सभी कुछ हो सकता है यानी श्रमविभाजनजन्य जड़ता या एकरसता दूर हो सकती है और मनुष्य का व्यक्तित्व सूर्य के समान विविध किरणमय या अनेक रंगों वाला बन सकेगा। प्रसाद जी ने फैंटेसी आ अध्यात्म के स्तर पर योगसाधना द्वारा, वासना से ऊपर उठकर, नारी के मानवीय सौन्दर्य, मूल्य-ममता और आकर्षण तथा धनात्मक शक्ति मानकर उसको मुक्ति या उदात्तीकरण का माध्यम बनाकर, समरसता की कल्पना की जो अध्यात्मवादी भारतीयों को बहुत प्रिय लगी। बिन्दु यह है कि अध्यात्म या पलायन के बावजूद प्रसाद जी, आधुनिक औद्योगिक-वैज्ञानिक-बुद्धिवादी युग के मूल अन्तर्विरोध से टकराए हैं, इसोलिए समाज के पार जाने के बावजूद कवि की अन्तर्दृष्टि से सभी प्रकार के पाठक प्रभावित होते हैं। प्रसाद जी ने नारी को सामन्तवादी दृष्टि से मुक्त किया।

नारी की महिमा का नया साक्षात्कार कमायनी कराती है और तान्त्रिक आगमों अथवा शैव-शाक्त दृष्टि से प्रभावित होने के कारण प्रसाद जी संन्यासवादी या जीवन के प्रति जुगुप्सित दृष्टि रखकर, जीवन से भागने वाले वैरागी पंथ का विरोध करते हैं अतएव कामायनी काम की पुत्री है और काम मंगल से मंडित श्रेय का पर्याय है, जो सृष्टि-इच्छा को उत्पन्न करने वाला है अतः त्याज्य नहीं, वरेण्य है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने प्रसाद जी का जिस सौन्दर्य कामवासना के प्रति 'मधुप दृष्टि' का विरोध किया था, उसे प्रसाद जी ने दार्शनिक ऊँचाइयाँ दी हैं और कामायनी में सौन्दर्य का जो भव्य वर्णन है, वह आज तक बेजोड़ है। शुक्ल जी का नैतिकतावाद, स्वच्छन्दतावाद से टकराता था और इसीलिए प्रसाद जी ने अपनी 'काव्यकला और अन्य निबन्ध' में शुक्ल जी को जो उत्तर दिया है उसमें सौन्दर्य, काम या जीवन प्रेम को, आनन्दवाद के धरातल पर ले जाया गया है। कहना न होगा कि आनन्दवाद उच्चतर मनोभूमि के रूप में प्रस्तावित हुआ है जो सुख-

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

 Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

दुःख से ऊपर उठकर, जीवन-प्रक्रिया को दार्शनिक दृष्टि से देखने पर प्राप्त होता है। अतएव निर्यातवाद की तरह प्रसाद जी का आनन्दवाद भी संघर्षों का सानन्द सामना करना सिखाता है, इसे न देखना कवि के साथ अन्याय है और भारतीय विरासत के प्रति भी।

गजानन माधव मुक्तिबोध ने वर्गदृष्टि से मनु और प्रसादजी को एक मानकर, उन्हें सामन्ती भोगलोलुप सिद्ध किया। इसमें सन्देह नहीं कि वर्गतः जयशंकर प्रसाद समृद्ध परिवार के थे किन्तु उनकी सम्पन्नता ऋणग्रस्त थी अतः सर्वत्र एक वेदना उनमें है। इसके सिवा प्रसाद जी ने 'कामायनी' में मनु को मन बनाया है, जो प्रकृति का प्रतीक है अतः स्वभावतः स्वच्छन्दताप्रिय, मनमौजी और मूल्यविरोधी है किन्तु अन्त में जीवन-संघर्ष की प्रक्रिया में मनु को नारी की गरिमा और मूल्यवत्ता का भान हो जाता है। मार्क्सवादी विचारक प्रायः मन और मूल्य के स्थायी द्वन्द्व को भूलकर मूल्यवादिता के आग्रह में, मन की प्राकृतिक सत्ता की उपेक्षा करने लगते हैं जबकि मनुष्य मूलतः प्राकृतिक प्राणी है जो सामाजिक जीवन में अपनी वासानाओं, इच्छाओं आदि का समाजीकरण करता है। व्यवस्था बदल जाने पर भी, पूंजीवाद की समाप्ति के बाद भी, सोवियत रूस तथा अन्य समाजवादी देशों में मनुष्य के मन अथवा प्राकृतिक पक्ष के समाजीकरण की समस्या बनी हुई है और वहां मदिरापानोन्मत्तता, विवाह-विच्छेद, कामचोरी, जड़ता, ज़ोर-जबरदस्ती या दादागीरी और यहां तक कि भ्रष्टाचार की समस्या है। इससे सिद्ध हुआ कि मनुष्य का मन, दीर्घसामन्ती व्यवस्था की अवधि में बिगड़ चुका है, उसे लाइन पर लाने में 'कामायनी' जैसी मूलभूत मानव प्रश्नों से जूझने वाली कृतियों का अनुशीलन मददगार हो सकता है और शायद इसी कारण 'कामायनी' की क़द्र सोवियत रूस में भी बढ़ रही है। 'कामायनी' को वहां रंगमंच पर प्रस्तुत भी किया गया है। अतः मुक्तिबोध का मूल्यांकन एकांगी है।

ग.मा. मुक्तिबोध ने यह नहीं देखा कि वर्गातीत समाज-व्यवस्था और सभ्यता में मनुष्य मनातीत नहीं हो सकता अतः 'कामायनी' पर सामन्ती प्रभाव दिखा देने पर भी, उसमें जो बुनियादी मानव समस्या का साक्षात्कार है, वह उसे प्रासंगिक बनाता है।

पता नहीं, डॉ. रामविलास शर्मा को याद होगा या नहीं, आगरा में ड्रमन रोड (अब महात्मा मार्ग) पर टहलते हुए मैंने जब 'कामायनी' की विविध आयामता की प्रशंसा की तो डॉ. शर्मा ने कहा कि प्रसाद जी का गद्य साहित्य अधिक अच्छा है (सफल या मूल्यवान क्या शब्द कहा था, याद नहीं पर भाव यही था।) मैं विस्मित रह गया और मैं समझता हूँ कि 'कामायनी' पर आज तक डॉ. शर्मा ने जमकर नहीं लिखा क्योंकि उनको 'कामायनी' की यथार्थातीतता अखरती है जबकि गद्य में प्रसाद जी इसी धरती पर रहते हैं और बाद में प्रेमचन्द के आग्रह पर प्रसाद जी ने यथार्थवादी उपन्यास भी लिखे। मज़ा यह है कि यह प्रवृत्ति निराला, महादेवी और मुक्तिबोध में भी है।

समग्रतः प्रसादजी का एक बड़े लेखक की तरह फलक बहुत लम्बा-चौड़ा है। कहानी, नाटक, निबन्ध, इतिहास, पुरातत्व, उपन्यास, पत्रिका, लेख (सम्पादन), काव्य–सभी कुछ उन्होंने लिखा है, रवीन्द्रनाथ ठाकुर की तरह। रवीन्द्रनाथ की 'गीतांजलि' और कामायनी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

में कौन श्रेष्ठ है, यह कहना कठिन है तथापि विविधपक्षीयता की दृष्टि से, मनुष्य की बुनियादी चिन्ता और चिन्तन की दृष्टि से, 'कामायनी' की मूल्यवत्ता अधिक है।

सामाजिक परिवर्तन के प्रवाह में रखकर देखें तो जयशंकर प्रसाद भारतीय राष्ट्रीयता, स्वाधीनता आन्दोलन की सर्वोच्च साहित्यिक उपज हैं, 'कामायनी' उच्चतम कीर्तिमान है किन्तु जनसाधारण की मुक्ति की दृष्टि से, क्रान्ति के इतिहास के क्रम में, साहित्य में प्रेमचन्द, निराला और नागार्जुन संघर्ष के साथी लेखक सिद्ध होते हैं, उसी प्रकार जिस प्रकार बंगला में शरतचन्द्र और नज़रुल इस्लाम की परम्परा, स्थापित भद्रलोक की व्यवस्था के विरोध में जाती है। राजनीति में सुमित्रानन्दन पन्त, महादेवी और प्रसाद गांधीवादी परंपरा में प्रतीत होते हैं तो प्रेमचन्द, निराला, नागार्जुन, शरत्‌चन्द्र, नज़रुल आदि क्रान्तिकारी वर्गविरोधी राजनीति के पक्षधर हैं। यह आकस्मिक नहीं है कि शरत् बाबू और मज़रुल उग्र राजनीति के समर्थक थे और प्रेमचन्द 'मंगलसूत्र' मे क्रान्तिकारी संदेशवाहक बन जाते हैं।

क्रांतिकारी वर्गवर्णजाति-विरोधी चेतना कविता से अधिक कथासाहित्य और आलोचना से अधिक नाटक साहित्य में कारगर साबित हुई है अतः अभी तक जनपक्षधर साहित्यिक परम्परा में 'कामायनी' को पीछे छोड़ जाने वाली किसी 'संघषयिनी' की सृष्टि अभी होनी है किन्तु प्रसादोत्तर साहित्य में नाटकों और कहानी तथा उपन्यासों मे जयशंकर का महत्त्व ऐतिहासिक ही रह गया है। इसका यह अर्थ नहीं है कि प्रसाद की रचनाएं आज हमें प्रभावित नहीं करतीं तथापि ये कालांकित (डेटिड) लगती हैं जबकि 'कामायनी' अपनी अनेकार्थता और विविधपार्श्वता के कारण रोमांटिक रचना होने पर भी, इतिहास को सपुर्द नहीं हुई है, प्रासंगिक बनी हुई है। वह कालजयी क्लासिक रचना के रूप में प्रतिष्ठित हो चुकी है।

सामाजिक बदलाव की व्यग्रता साहित्य के केन्द्र में आ जाने से 'छायावाद' शब्द गतानुगतिकता और पलायन तथा कल्पनातिशयता का प्रतीक बन गया है जो ठीक ही है किन्तु हमें नये सिरे से जयशंकर प्रसाद के पुनर्मूल्यांकन की ज़रूरत महसूस होनी चाहिए।

8755

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रेमचन्द के उपन्यास औपनिवेशिक किसान की त्रासदी के प्रलेख

अब यह तो जग ज़ाहिर है कि ब्रिटिश उपनिवेशवादियों ने भारतीय किसानों को जमकर लूटा, शिल्पकारों और कृषकों का जो दरिद्रीकरण अंग्रेजी साम्राज्यवादी व्यवस्था में हुआ, वह अभूतपूर्व था। इस भयंकर नृशंस त्रासदी को देखकर कुछ व्याख्याकारों ने इसे नवयुग-परिवर्तन के लिए अनिवार्य माना; मार्क्स तक को शुरू में ऐसा लगा था। वह कहते हैं :

'England had broken down the entire framwork of Indian Society without any systems of reconsistitution...this loss of his old world, with no gains of a new one imparts of particular kind of melancholy to the present misery of the hindus and separates Hindustan ruled by Britain from all its ancient traditions.'

इसी सिलसिले मे मार्क्स ने इस पुरानी व्यवस्था का विनाश, ऐतिहासिक दृष्टि से अनिवार्य माना है किन्तु डॉ. रामविलास शर्मा ने, 'मार्क्सवाद और एशिया के पिछड़े समाज' पुस्तक में यह साबित किया है कि कार्ल मार्क्स ने अपनी व्याख्या बदली थी और ब्रिटिशों द्वारा भारतीय कृषकों-शिल्पियों आदि के विनाश को अनिवार्य नहीं माना था। दूसरे शब्दों में अंग्रेजी साम्राज्यवाद के बिना भी भारतीय अपना विकास करने में समर्थ हो सकते थे। मसलन् विदशियों के प्रभुत्व के पूर्व मुग़ल और उत्तर मुग़ल काल में व्यापारिक पूंजीवाद का एक सीमा तक विकास हो चुका था। यह व्यापारिक पूंजीवाद, स्वभावतः भारतीय पूंजीवाद में विकसित हो जाता। अतः ऐतिहासिक अनिवार्यता का तर्क भारतीय सन्दर्भ में लागू नहीं होता।

ब्रिटिश साम्राज्यवाद की औपनिवेशिक संरचना में सर्वोपरि विदेशी शासक वर्ग था जो ज़मीदारों के द्वारा विशाल कृषक वर्ग का शोषण करता था, ब्रिटिश सेना-पुलिस-न्याय व्यवस्था–शिक्षा-प्रचार–माध्यम आदि इस शोषण के संरक्षक और समर्थक थे। जमींदार से पूर्व निश्चित, भूमिकर लेकर विदेशी प्रशासन, उन्हें किसानों की मनमानी, लूट-दमन और अत्याचार की पूरी छूट दिए हुए था। जमींदार और प्रशासक वर्ग, इस तरह मिलकर जनदोहन का माध्यम था।

इस ढांचे में स्थानीय स्तर पर महाजन या सूदखोर समुदाय किसानों, दस्तकारों और मज़दूरों को बंधक बनाए हुए था और न्याय व्यवस्था सर्वदा महाजन का पक्ष लेती थी और जहाँ न्याय सम्भव था, वहां भी वह धन के बिना सुलभ नहीं था। अतएव निर्धन

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कृषक और श्रमिक, शिल्पी और छोटे दुकानदार आदि महाजनों के लिए कमाते थे। भारी ब्याज न चुका पाने पर कृषकों की ज़मीनें बिक जाती थीं और कृषक मज़दूर बन जाते थे। इस तरह ब्रिटिश शासक वर्ग–जमींदार और ताल्लुकेदार, पटवारी, पुलिस और महाजन उपनिवेशक व्यवस्था के ये कर्णधार थे जिसमे किसान, मजदूर पिस रहे थे। इस पूरे ढांचे और प्रपंच को जन दृष्टि से प्रेमचन्द ने अपने उपन्यासों का विषय बनाया। इसके सिवा प्रेमचन्द भारतीय समाज की अंतर्निहित खराबियों रूढ़ियों, कुरीतियों के विरुद्ध भी वैचारिक अभियान चलाते हैं क्योंकि सुधारों के बिना विदेशी वर्ग–शत्रुओं का सामना नहीं किया जा सकता था।

प्रेमचन्द के प्रारम्भिक उपन्यासों में यह सुधारवादी सामाजिक चेतना साफ़ तौर पर दिखाई पड़ती है। 'असरारे महाबिद' या देवस्थान रहस्य' में महंतों के भ्रष्टाचार का अनावरण है। धार्मिक पुरोहित, महन्त वर्ग, अंधविश्वास का इस्तेमाल कर जनता को लूटता था और वह ब्रिटिश उपनिवेशवादी व्यवस्था का विरोध नहीं करता था अतएव भारतीय धार्मिक प्रतिष्ठान या चर्च भी उपनिवेशवाद का समर्थक समुदाय था। प्रेमचन्द इस भारतीय और विदेशी धार्मिक प्रतिष्ठान का सर्वत्र उपहास करते हैं, उसका पतन दिखाते हैं।

प्रभा दीक्षित ने, 'हंस' जुलाइ, १९८९ के अपने लेख, 'भारतीय जनजागरण और औपनिवेशिक इतिहास दृष्टि, में यह दिखाया है कि किस तरह राष्ट्रीय आंदोलन के पूर्व १९वीं शताब्दी के पूर्व मध्यकाल में किसान आन्दोलन शुरू हो चुका था। १८३० ई. में कनारा के जिलाधीश की रपट यों थी:

''यहां हालत बिगड़ रही है, कुछ दिनों तक लोग चुप रहे पर अब लोगों की सभाओं में संख्या प्रतिदिन बढ़ती जा रही है। चुनार में लगभग ११००० लोगों की सभा कल हुई......३०० लोग तहसीलदार की कचहरी में घुस आए......घोषित कर दिया कि वे निश्चित रूप से एक दमड़ी नहीं देंगे। ......वे कचहरियों-स्टैम्प रेग्यूलेशन, नमक तथा तम्बाकू के एकाधिकार के खिलाफ हैं।'

१८१० में कम्पनी सरकार ने रेग्यूलेशन, पन्द्रह के द्वारा बंगाल, बिहार, उड़ीसा तथा अवध के नवाब से छीने इलाकों में गृह कर तथा दुकान कर लगा दिया। इसके विरुद्ध भागलपुर, पटना और बनारस में संगठित आन्दोलन हुए।

यहां कहना यह है कि उक्त आन्दोलन की परम्परा में ही प्रेमचन्द ने शोखित वर्गों की व्यवस्था विरोधी चेतना को उकसाने के लिए उपन्यास लिखे थे। उनका उद्देश्य सामाजिक-राजनैतिक यथार्थ का प्रतिबिम्बन कर किसानों, मज़दूरों और दूसरे समुदायों में अपनी दुरावस्था को जानने और उसके लिए ज़िम्मेदार वर्गों के विरुद्ध उठ खड़े होने का संदेश था। अतः वह 'हमसबाब' और 'वरदान' जैसे प्रेमकथाप्रधान उपन्यासों में भी बीच-बीच में जनस्थितियों के चित्र देते चलते हैं। 'कायाकल्प में' प्रेमचन्द ने पुनर्जन्म, योगशक्ति, कायाकल्प जैसे विश्वासों या मिथकों का प्रयोग किया है। किन्तु वहां भी उन्होंने चक्रधर जैसा चरित्र गढ़ा जो हिन्दू-मुस्लिम एकता के लिए अपनी जान की बाज़ी लगाता

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

है और आजीवन जन-सेवा समिति का काम करता है। राजा विशाल सिंह जो जागीरदारी पाने के पूर्व जनप्रेम की दुहाई देते थे, जमींदार बनते ही, अहंकारवश, अत्याचार में अंधे हो जाते हैं:

"चारों तरप लूट-खसोट हो रही थी, गालियां और ठोकपीट तो साधारण बात थी। किसी के बैल खोल लिए जाते थे, किसी की गाय......कितनों ही के खेत कटवा लिए गए थे। बेदखली और इज़ाफे की धमकियां दी जाती थीं।'

(कायकल्प-१०६)

प्रेमचन्द ने यह दिखाया है कि भूमिपति, अपने हर एक खर्चे के लिए किसानों पर कर लगाते थे। राजा या भूपति हुक्काम को दावत दे या घर में उत्सव हो, त्यौहार या विवाह हो, सबके लिए किसान दे। ऐसे कर ब्रिटिश शासन के अलावा, देशी रियासतों में और अधिक थे। 'हिन्दूपति' और भारतीय संस्कृति के सर्वोच्च संरचक कहे जाने वाले मेवाड़ के महाराणा के राज्य में कोई ८० कर, किसानों पर लगते थे। क्रान्तिकारी कवि विजयसिंह पंथिक ने इनके विरुद्ध बिजौलिया में किसानों का आंदोलन चलाया था, तब ये कर वापस हुए।

'सेवासदन', 'प्रेमाश्रम' और 'कर्म-भूमि' में प्रेमचन्द गांधीवादी हृदय-परिवर्तन के सिद्धांत से प्रभावित थे किन्तु उपन्यास की परिणति ही सब कुछ नहीं होती, यथार्थ के चित्रण की दीर्घ प्रक्रिया को भी देखना चाहिए। प्रेमाश्रम और सेवासदन में आश्रम बनवाकर समाधान खोजा गया है। यह भी है कि भूमिपतियों के हृदय बदल सकते हैं। वस्तुतः व्यक्ति के स्तर पर दिल बदलाव असंभव नहीं है, सम्पन्न वर्ग में कई व्यक्ति अच्छे होते हैं किन्तु वर्गतः या समग्रतः देखने पर वर्ग-समाज में शोषण के तथ्य में बदलाव नहीं आता। प्रेमचन्द यह जानते थे। उन्होंने गांधी, तोलस्तोय के प्रभाव से उपन्यासों मे आश्रम बनवाकर एक मानवीय विकल्प प्रस्तुत किया जो अपर्याप्त था किन्तु हम यह न भूलें कि उस समय इस प्रकार के संस्थान बन रहे थे। गांधी जी का सेवाश्रम प्रसिद्ध है। १९वीं शताब्दी के मध्य में प्रथम भारतीय क्रान्ति की असफलता के बाद देश में सुधारकों ने अनेक संस्थाएं खड़ी की थीं, स्वदेशी शिक्षा संस्थान भी बने अतएव प्रेमचन्द ने आर्थिक क्षेत्र में कम्यूननुमा प्रेमाश्रम की स्थापना कराई किन्तु इससे किसानों की करुण स्थिति के चित्रण में, किसानों की पक्षधर शक्तियों और शासक वर्ग समर्थक तत्वों के द्वन्द्व की दास्तां में कोई बाधा नहीं पड़ी।

प्रेमचन्द उक्त उपन्यासों में रंगभूमि में भी, वर्ग तथा भोक्ताओं को आमने-सामने लाते हैं और राष्ट्रीय आंदोलन के मानचित्र को विस्तृत ब्यौरे से पूरा करते हैं। इन उपन्यासों में निम्न श्रेणियों के शोषित जीवन की त्रासदी कम नहीं है अपितु सच तो यह है कि गोदान में इसी त्रासद चित्रण को चरम सीमा दी गई है। अतएव प्रेमचन्द के ऊपर पड़े प्रभावों से उनके द्वारा चित्रित जनजीवन का महत्त्व कम नहीं होता। गोदान से पूर्व के उपन्यासों को इसीलिए काट कर नहीं देखा जा सकता।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

किसानों के दुश्मनों में एक नया वर्ग उद्योगपतियों का था जो उपनिवेशवादी सत्ता का अभिकर्ता था और साथ ही वह स्वराज समर्थकों को भी आर्थिक सहयोग देता था। गोदान का खन्ना इसी तरह का व्यक्ति है और रंगभूमि में जान सेवक तो ईसाई उद्योगपति है जो धर्म को अंग्रेजी प्रभुत्व का अंग मानता है। रंगभूमि में भी टक्कर एक छोटी जमीनवाले सूरदास और एक कारखानेदार में हैं। कारखानेदार का वर्ग अभ्युदयशील है, उसकी विजय निश्चित थी और सूरदास की पराजय भी किन्तु बिन्दु यह है कि सूरदास, गांधी जी के आदर्श को अपने में ढालकर, नव उद्योगपति के विरुद्ध जो संघर्ष करता है, संघर्ष के दौरान उच्च मानवीय मूल्यों की स्थापना करता है और सूरदास की त्रासदी का प्रलेख बनाता है।

औपनिवेशिक व्यवस्था के विरुद्ध संघर्षशील लोगों में प्रेमचन्द की वर्ग दृष्टि चूकती नहीं हैं। सेवा समिति का कार्य करने के लिए राजकुमार विनय सिंह भी देशी रियासत उदयपुर में जाते हैं और अपनी सेवा से जनप्रिय भी हो जाते हैं किंतु वह इतने व्यक्तिवादी हैं कि अपनी प्रेयसी सोफिया पर जनसमूह में किसी पत्थर फेंक देने से जनशत्रु बनकर शासक वर्ग का साथ देने लगते हैं, जबकि सूरदास, अकेला जीवन युद्ध को खेल मानता हुआ, अपने लोगों के गुण-अवगुण माफ़ करता हुआ, उच्च वर्ग के शक्तिमद तथा एकाधिकार और अत्याचार के विरुद्ध खड़ा रहता है। प्रेमचन्द के सूरदास ने यह जान लिया था कि जनता को जगाकर उसे तथाकथित बड़े आदमियों के स्वेच्छाचार के विरुद्ध संघर्ष में लाया जा सकता है। निश्चय ही सूरदास गांधीवादी प्रभाव से अहिंसक संघर्ष का समर्थक है किन्तु जब कौम सोई पड़ी हो, तब जनजागरण के अहिंसक संघर्ष की मूल्यवत्ता स्पष्ट है, क्योंकि संगठन और व्यापक जनजागृति के बिना सशस्त्र संघर्ष आतंकवाद में बदलकर असफल हो जाता है।

प्रेमचन्द ने सूरदास का ऐसा चरित्र रचा है जो उच्चकोटि के नीतिबोध और मानवता से ओत-प्रोत है। वह हार कर भी जीत जाता है और पूंजीवाद का प्रतीक जान सेवक जीत कर भी, मानवीयता की दृष्टि से हार जाता है। जान सेवक स्वयं स्वीकार करता है :

'मैंने नीति का कभी पालन नहीं किया। मैं संसार को क्रीड़ा-क्षेत्र नहीं, संग्राम क्षेत्र समझता रहा।'

इसके विपरीत अपनी भूमि का न बचा पाने और हर ओर से ध्वस्त हो जाने पर भी सूरदास कहता है : 'हम हारे तो क्या? मैदान से भागे तो नहीं, रोये तो नहीं, धांधली तो नहीं की, फिर खेलेंगे, ज़रा दम ले लेने दो। हार-हार कर तुम्हीं से खेलना सीखेंगे और एक न एक दिन हमारी जीत होगी, ज़रूर होगी' (रंगभूमि, ५५८)

किसान मज़दूर तथा अन्य निर्बल जनों पर यदि न्यायहीन दबाव है, दलन है तो उसके विरुद्ध सूरदास जैसे चरित्र भी हैं। इस वर्ग द्वन्द्व में अंतिम विजय कमज़ोरों की ही होगी।

रंगभूमि के केन्द्रीय पात्र में गांधीवाद के प्रभाव से, मूल्यों का बल है किन्तु गोदान के होरी में न मानव मूल्य काम आते हैं न श्रम, न आस्था, न स्वाभिमान। उपनिवेशी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

शासन तंत्र में सत्ता, भूमिपति, नौकरशाही, पुलिस, महाजन और धार्मिक रूढ़ियों और अंधविश्वासों की चक्की में किसानों और मजदूरों की ऐसी पिसाई होती है कि निराशा का घनीभूत वातावरण बनता है। यहां प्रेमचन्द के सारे गांधीवादी भ्रम टूट जाते हैं, और होरी, साधारण जीवन की आवश्यकताओं की पूर्ति तथा मानवीय गरिमा और एक गाय के लिए तरसता हुआ मर जाता है। साम्राज्यवादी व्यवस्था ने कितने व्यापक पैमाने पर ग्रामीणों का दरिद्रीकरण (पापराईजेशन) किया था, इसका सर्वाधिक विशद और हृदयवेधक चित्र गोदान में है।

यहां 'सूरदास' वाली दार्शनिक उच्च दृष्टि नहीं है कि जीवन संघर्ष को खेल की तरह खेला जाए। वैसी दृष्टि विरलों में होती है, वर्गतः ज़मीन से जुड़े वास्तविक व्यक्तियों पर सुख-दुःख का गहरा असर होता है। होरी जैसे किसानों में जो पारम्परिक भोलापन होता है, वह राय साहब, झिंगुरी सिंह, नोखेराम, दातादीन, भोला आदि के व्यवहार से पगपग पर टूटता है अन्त में मजदूर बनकर अपनी छोटी बेटी रूपा को एक अधेड़ को बेचकर वह अपनी ज़मीन बचाने को मजबूर होता है।

होरी जैसे किसान की त्रासदी का करण यह है कि वह जिस व्यवस्था में है, उसकी रक्त शोषक संरचना को नहीं समझता। उसे परम्परा से जो सामूहिक अवचेतन और व्यक्तिगत मानसिकता मिली है, उसमें बुराई पर अच्छाई की विजय में विश्वास की भावना है। श्रमजीवी में प्राकृतिक सरलता होती है और वर्ग समाज नें पग-पग पर यह भोलापन और मनुष्य का मूलभूत शिवत्व तथा विश्वास टूटता है तथापि वह स्वभावतः मृत्युपर्यन्त मानव गरिमा और अच्छाई का पक्ष लेते हुए लड़ता है। इस आजीवन बेमुरव्वत, नामुराद जंग में उसे न भाई से भव्यता मिलती है न पुत्र से। खुशामद करने पर भी उसे न राय साहब बख्शते हैं न राज्य के दलाल, कहीं कोई सहारा नहीं, कोई आसरा नहीं, सिर्फ़ कृषक पत्नी धनियां उसे साथ है। अपने लड़ाकूपन से वह कई बार उसे बचाती है और सितमगरों ज़ालिमों को बेनकाब करती है किन्तु वह होरी को बचा नहीं पाती।

यह ग़ौरतलब है कि प्रेमचन्द ने मालती मेहता जैसे बुद्धिजीवियों को जनता के हमदर्द रूप में पेश किया है। गोबर को मालती ही सहारा देती है किंतु प्रेमचन्द ने उन्हें या अन्य सुधारवादियों को सामन्तवाद तथा पूंजवाद के विरोधी संगठनों से नहीं जोड़ा। कारण शायद यह है कि तब तक किसान मजदूर वर्ग की मुक्ति के लिए प्रतिबद्ध साम्यवादी दल इतने प्रबल नहीं हो पाए थे। अतः भारतीय ग्रामों के किसानों का सामान्य चित्र ऐसा है :

"......अनाज खलिहान में ही तुलकर महाजनों और कारिन्दों की भेंट हो चुका है और जो कुछ बचा है, वह भी दूसरों का है। भविष्य अंधकार की भांति उनके सामने है। उन्हें कोई रास्ता नहीं सूझता। उनकी सारी चेतनाएं शिथिल हो गई हैं। द्वार पर मनों कूड़ा जमा है, दुर्गन्ध उड़ रही है मगर उनकी नाक में न गंध है न आंख में ज्योति।......, सामने जो मोटा-झोटा आ जाता है वह खा लेते हैं उसी तरह जिस तरह इंजिन कोयला खा लेता है......स्वाद से उन्हें कोई प्रयोजन नहीं......उनकी रसना मर चुकी है—उनसे

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

धेले पैसे के लिए बेईमानी करवा लो, मुट्ठीभर अनाज के लिए लाठियां चलवा लो। पतन की यह इन्तिहा है, जब आदमी शर्म और इज़्ज़त को भूल जाता है।" (गोदान, पृष्ठ २९८)

होरी जैसे किसानों की त्रासदी यह थी कि वे घोर निर्धनता और विश्वासघात की दशा में भी शर्म और इज़्ज़त नहीं भूल पाते।

इस त्रासदी, निराशा और विकल्पहीनता को प्रेमचन्द ने यथावत् चित्रित किया, प्रेमचन्द न भाषा का चमत्कार दिखाते हैं, न बिम्बों का, वह श्रमजीवी मानवता की दुर्गति की यथार्थवादी मसव्वरी करते हैं और साम्राज्यवादी व्यवस्था में उत्पादक वर्ग के साथ भोक्ता-वर्ग जो अन्याय कर रहा था, उसको ब्योरेवार दिखाते हैं। भोक्तावर्ग के विभिन्न उप समुदायों की आपसी खींचतान सामने लाते हैं। वर्गों के अंतस्संबंधों की इस विशाल चित्रकारी में रायसाहबों, राजाओं, कारखानेदारों, साहबों और उनके दलालों के दुर्ललित चेहरे हैं, असुंदर व्यवहार हैं तो दूसरी तरफ ग्रामीणों के भविष्यहीन, अज्ञान, अभावग्रस्त व्यक्त्वि है।

सवाल यह है कि वर्ग समाज के जीवन की त्रासदी से गुज़र कर क्या निराशावाद ही नियति बनता है? मेरा मत है कि नहीं, ऐसा नहीं होता। सूरदास और होरी, धनियां और सिलिया की मज़बूरियां देखकर हममें साम्राज्यवादी व्यवस्था के विरुद्ध विक्षोभ और क्रोध पनपता है और चूंकि आज़ादी के बाद भी लघु किसानों, मजदूरों तथा अन्य निर्बल समुदायों की वही स्थिति है, अतः समकालीन समूची सामाजिक, राजनैतिक, पूंजीवादी, जनतांत्रिक व्यवस्था के विरुद्ध तिलमिलाहट उत्पन्न होती है और जिसमें नहीं होती, उसमें मानवीय संवेदना का अभाव होगा।

प्रेमचन्द के उपन्यासों में ग्रामीण भारत का जो समग्र अंकन हुआ है वह प्रेमचन्द को गोर्की, तोलस्तोय और बाल्ज़ाक की कलात्मक ऊंचाइयों तक पहुंचाताा है। ब्यौरे की सच्चाई और विपुलता से उपन्यास के अन्त में, किसान जीवन का समूचा बिम्ब बनता है अतः प्रेमचन्द के पद-पद में, पंक्ति-पंक्ति में कलात्मक विचलन की कोशिश नहीं है। उनकी कला यथार्थ के सूक्ष्म निरीक्षण, सामूहिक मनोविज्ञान और भावनाओं को रूपायित करने में है। यही कारण है कि ब्यौरे की प्रमाणिकता और वर्गों के मनोबल की समझ के कारण प्रेमचन्द ने हिन्दी उपन्यास की धारा ही बदल दी और छायावाद के समानान्तर यथार्थ के परिदृश्य दिखाकर चुनौती दी कि कल्पना की अमूर्त, मनोहर दुनिया छोड़कर वास्तविकता का बिम्बायन करो।

अतएव कार्ल मार्क्स ने जो बाल्ज़ाक के विषय में कहा, लेनिन ने तोलस्तोय के विषय में, वह हम प्रेमचंद के विषय में कह सकते हैं। कार्ल मार्क्स बाल्ज़ाक के विषय में कहते हैं–

A far greater master of realism ...which gives us a most wonderfully realistic history of french "Society" almost year by year from 1816 to 1848 showing the ...progressive inroads of the rising bourgioisie upon the

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

society of nobles...around this Central picture Balzac groups a complete history of french Society from which even in economic details one learns more than from all the professors, historians, economists and statisticians of the period together (On colonialism).

प्रेमचन्द के कथा साहित्य में विशेषकर उपन्यासों में राष्ट्रीय स्वतन्त्रता–संग्रामकालीन भारत का, भारतीय ग्रामों का जो औपन्यासिक दस्तावेज़ मिलता है, उससे उस काल के समाज की वर्गीय स्थिति की आन्दोलनात्मक गत्यात्मकता की जो निधि मिलती है वह अन्यत्र नहीं है। बड़े-बड़े प्रोफेसरों, इतिहासविदों और समाजशास्त्रियों को प्रेमचन्द को पढ़कर अनेक नए सामाजिक तथ्य और अंतदृष्टियां मिलती हैं। प्रेमचन्द ने १९वीं शताब्दी के प्रथम दशक से लेकर १९३६ तक का सम्पूर्ण भारतीय समाज की हलचल का ब्यौरा दिया है। यथार्थवादी कला के विरोधी लोग कुछ भी कहें किंतु समाजशास्त्री, राजनीति-विज्ञानी और इतिहासविद् अब साहित्य का विशेषकर यथार्थवादी साहित्य का महत्त्व समझते हैं। हाब्सबौम कहता है :

"It is never wise to neglect the heart's reasons which reason knows nothing of as thinkers within the terms of reference laid down by the economists and physicists, the poets were outclassed but they saw...not only more deeply but also more clearly. Few men saw the social earthquake caused by machine and factory earlier than william Blake in the 1770s who had little except a few London steam mills...our best treatment of the problems of Urbanisations & comes from the immaginative writers."

प्रेमचन्द के उपन्यासों में आम आदमी को ध्यान में रखकर मानववादी दृष्टि से उपनिवेशीय व्यवस्था का अनावरण किया गया था और उसका प्रतिरोध भी किया गया। प्रेमचन्द के उपन्यासों में उस समय के यथार्थ का प्रलेख ही नहीं है बल्कि व्यवस्था विरोध का अभियान भी है अतएव प्रेमचन्द का साहित्य परिणति की दृष्टि से जनक्रान्ति का प्रेरक है। यथार्थवादी साहित्य, पाठक को वास्तविकता से परिचित कराके उसमें बदलाव की बेचैनी भरता है अतः प्रेमचन्द के उपन्यास मात्र दस्तावेज़ नहीं, चेतना के मैदान के अग्रगामी जनपक्षधर दस्ते हैं, सैनिक हैं जिनका लक्ष्य वर्ग-व्यवस्था के विध्वंस और समाजवादी व्यवस्था का निर्माण है। 'मंगल-सूत्र' में तो प्रेमचन्द इस उद्देश्य के लिए सशस्त्र संग्राम का भी संदेश देते हैं। उनका सृजन, 'महाजनी सभ्यता' निबंध की चित्रकथा सा लगता है।

तोलस्तोय की धार्मिक विचारधारा से मतभेद रखते हुए भी लेनिन ने उनके उपन्यासों को 'क्रान्ति का दर्पण' कहा क्योंकि ग्रामीण रूस के कृषक जीवन की हक़ीक़त से तोलस्तोय ने ही विस्तार से परिचय कराया और व्यवस्थापकों, भूपतियों को कटघरे में खड़ा कर दिया। प्रेमचन्द का कथा साहित्य भी इसी अर्थ में क्रान्ति का दर्पण है क्योंकि वह हमारी आंखों मे अंगुली डालकर दिखाता है कि बहुजन की स्थिति यह है अतः इस निज़ाम को

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

बदलो। प्रेमचन्द के उपन्यास, समाजवाद, सामंतवाद और पूंजीवाद के सबसे स्पष्ट और सही आलोचक (क्रिटीक) हैं।

बाल्ज़ाक के 'किसान' (Pleasants, 1844) से गोदान की तुलना करें तो प्रेमचन्द के कृषक जीवन के मूर्तन में अधिक गहराई, तीव्रता और विशदता है। प्रेमचंद की 'रंगभूमि' और 'गोदान' उन्नीसवीं सदी के श्रेष्ठ यथार्थवादी उपन्यासों के समकक्ष हैं। लुकाच तो उन्नीसवीं शताब्दी के उपन्यास को, बीसवीं शताब्दी के उपन्यासों से भी अधिक महत्त्व देते हैं, क्योंकि वस्तुस्थिति के सम्मूर्तन के अतिरिक्त प्रेमचन्द के नायक पतित नहीं हैं वे पतन के विरुद्ध संघर्षरत हैं। लुकाच ने दिखाया है कि बूर्ज्वा सभ्यता में मानवता के ह्रास के विरुद्ध जो नायक खड़े किये जाते हैं वे 'पाज़िटिव' या धनात्मक नहीं होते वे ह्रासशील होते हैं और पतन के मार्ग से गुजरते हुए पूंजीवादी संस्कृति और सभ्यता के पतन का विरोध करते हैं। इसके विपरीत प्रेमचंद, चक्रधर, सूरदास और होरी जैसे मानवीय पात्रों को अमानवीकृत व्यवस्था और उनके नराधम अलम्बरदारों के सामने प्रस्तुत करते हैं।

मैं प्रो. पी.सी. जोशी के इस पर्यवेक्षण से समहत हूँ:

Premchand's works immortalise the agonies and torments of the Indian Peasant who is crushed by the colonial system and the human agents of colonial exploitation and opperession, they represent a most precious heritage and an unfailing source of insights and inspiration for writers and sociopolitical workers of post-independence. India who are looking for a new future for the Indian peasant. The awakened peasant of Today can himself turn to Premchand for deeper insights for the historical and structural roots of his exploitation.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

गुप्त जी की काव्यभाषा

हिन्दी काव्यभाषा या खड़ी बोली काव्यभाषा जैसी कोई चीज़ हो भी सकती है, एक समय यह भी नहीं माना जाता था। भारतेन्दु युग में खड़ी बोली को, ब्रजभाषा की तुलना में कविता के लिए अनुपयुक्त कहा जाता था और द्विवेदीयुग तक यह बहस चलती रही। गर्ग देवी प्रसाद पूर्ण, लाला भगवानदीन, जगन्नाथदास रत्नाकर जैसे ब्रजभाषा पक्षधर खड़ी बोली को सिर्फ़ गद्य के लिए उपयुक्त मानते थे या उपदेश और जागरणकारी–आन्दोलनात्मक कविता के लिए। स्वयं भारतेन्दु ने कविता ब्रजभाषा में लिखी और खड़ी बोली में गद्य लिखा। उन्हें खड़ी बोली में कविता करना अटपटा महसूस होता था।

दो प्रकार की रुचियाँ में इस स्थिति के लिए उत्तरदायिनी थीं। एक तो अरबी-फारसी से भरी–दरबारी-संस्कृति में पली उर्दू-ए-मुअल्ला वाली रुचि और दूसरी लोक और राज्यसभा, सर्वत्र रसपगी ब्रज-भाषा के माधुर्य और शृंगारिक रुचि वाले लालित्य से प्रभावित कवियों और काव्यप्रेमियों की–मनःप्रवृत्ति। तीसरा एक और प्रकार था, संस्कृत काव्य–प्रवाह जो विद्वानों तथा पुनरुत्थानवादियों तक सीमित था। इन तीन कविताधाराओं से कंडीशंड रुचि और रंग से रंजित तात्कालिक साहित्य-क्षेत्र में कोई यह मानने को तैयार न था कि खड़ी बोली हिन्दी में भी उच्चकोटि की कविता हो सकती है यानी उसमें मनुष्य की सूक्ष्म-मृदु-मधुर ललित भावनाओं की अभिव्यक्ति कोमलकान्त पदावली में हो सकती है।

यह चुनौती श्री मैथिलीशरण गुप्त, श्री अयोध्यासिंह उपाध्याय, श्री रामचरित उपाध्याय, श्रीधर पाठक, लोचन प्रसाद पाण्डेय और गिरिधर शर्मा नवरत्न ने स्वीकार की थी। इसी चुनौती को नाथूरामशंकर शर्मा, रामनरेश त्रिपाठी गोपाल शरण सिंह आदि ने स्वीकार किया था।

खड़ी बोली काव्य के प्रथम उत्थान में कविता की भाषा में कोई व्यंजना शक्ति और परिष्कृति नहीं थी, कामचलाऊपन था, जैसे अम्बिकादत्त व्यास की कविता में:

कहों हो ए हमारे राम प्यारे
किधर तुम छोड़कर हमको सिधारे
बुढ़ापे में यह दुख भी देखना था,
इसी के देखने को मैं बचा था।

किन्तु द्वितीय उत्थान या द्विवेदी युग में पं. श्रीधर पाठक और मैथिलीशरण गुप्त की काव्यभाषा में परिष्कृति और भावनाओं को व्यक्त करने की शक्ति आई:

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

विजन वन प्रान्त था, प्रकृति मुख शान्त था
अटन का समय था, रजनि का उदय था
प्रसव के काल की लालिमा में लसा
बाल- शशि व्योम की ओर था आ रहा।

(श्रीधर पाठक)

यक़ीनन सर्वप्रथम पं. श्रीधर पाठक ने खड़ी बोली हिन्दी को काव्यभाषा बनाने में पहल की परन्तु श्री मैथिलीशरण गुप्त ने इस काव्य भाषा को समृद्धि दी, इस अर्थ में कि खड़ी बोली की कविता–भाषा के अनेक रूप उन्होंने पेश किए और इस तरह, खड़ी बोली हिन्दी की कविता–भाषा की कई संभावनाएँ प्रस्तुत कीं। स्वदेशी छन्दों में गुप्त जी ने हिन्दी कविता–भाषा की संरचनाओं प. कई नए प्रयोग किए। यदि भारत भारती में खड़ी बोली का रूप उद्बोधन का है तो विकटभट, रंग में भंग, जयद्रथवध आदि में गुप्त जी की काव्यभाषा में फड़क और ओज है, एक उत्साह और विन्यास ऐसा, गोया शब्द स्वतः अपने-अपने स्थानों पर आसीन हो गए हों:

अच्छी आँख मिचौनी खेली।

बार-बार तुम छिपो और मैं खोजूँ तुम्हें अकेली। निकल रही है उर से आह, ताक रहे सब तेरी राह, मैं अपना घर लिए खड़ा हूँ, अपनी-अपनी हमें पड़ी।

(झंकार)

पुस्तकालय

'झंकार' जैसी रचनाओं में गुप्तजी उद्बोधन और ओजमयी भाषा छोड़कर आंतरिक रहस्यमयी काव्यभाषा का प्रयोग करते हैं और कई जगह तुकों या अन्त्यानुप्रासों को भव्यता देते हैं यों अटपटीतुकें उनमें बराबर मिलती हैं।

श्री मैथिलीशरण गुप्त की काव्यभाषा का चतुर्थ रूप पंचवटी में हैं। सहज, प्रसन्न, पारदर्शी और विन्यास में व्यवस्थितः–"चारु चन्द्र की चंचल किरणें खेल रहीं हैं जल-थल में।" रहस्य भावना रहित ऐसे स्थल, काव्यभाषा की एक अलग सामर्थ्य प्रकट करते हैं। गुप्तजी की काव्यभाषा का पंचम रूप यशोधरा में मिलता है, जहाँ कविता–भाषा को नाटकीयता दी गई है। यह नाटकीयता संवादों के सन्दर्भ में है जिसका चरम विकास साकेत के कथोपकथनों मे दिखाई पड़ता है। आचार्य केशवदास के बाद गुप्तजी के "साकेत" में ही ऐसे नाटकीय संवादों के भाषा-प्रयोग है, जिनमें सबसे पृथक् और प्रसंगानुकूल, पात्रोचित भाषिक संरचनाएँ हैं, ऐसी कि पढ़ते समय पाठक, कवि की उक्ति संरचना और वाग्चातुर्य, शिष्टता और सभाकुशलता से विंस्मित हो जाएं। छायावादी कवियों ने जहाँ निजी, अनुभूतियों के प्रकाशन में लाक्षणिक कला का अधिक प्रदर्शन किया है, मानवीकरण और विशेषण-विपर्यय का, वहाँ गुप्त जी ने स्वदेशी आधार पर अभिधा आधारित व्यंजनाओं का अधिक प्रयोग किया है। यही कारण है कि चलते कथा प्रसंग के बीच गुप्त जी का भाषा-चातुर्य–

पहले आँखों में थे, मानस में कूद मग्न प्रिय अब थे
छींटे वही पड़े थे, बड़े-बड़े अश्रु वे कब थे?

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कल्पना की उड़ान यहाँ भी है कि ये आँसू नहीं हैं, प्रिय मेरे मानस या सरोवर में कूद पड़े हैं, सो वे छींटे उड़े हैं, वे ही आँसू हैं। कल्पना मौलिक है, आयातित नहीं है और इस उड़ान को जिस काव्य भाषा में बाँधा गया है, उसमें "कूद", "आँख" और "छींटे" जैसे ठेठ हिन्दी के प्रचलित शब्द हैं। गुप्त जी की काव्यभाषा की विशेषता है कि उसमें खड़ी बोली का ठेठपन, तत्समीकृत, ललित-परिष्कृत या सज्जित-रंजित काव्यभाषा मे लुप्त नहीं हो जाता जैसा कि छायावादी कविता में हुआ। छायावाद इतना अधिक परिष्कृत और ललित हो गया, इतना अति कलात्मक कि उसकी भाषा-संरचना में स्वदेशी या ग्रामीण शब्द स्तर ग़ायब ही हो गया, बल्कि देहातीपन या अपरिष्कृति समझा जाने लगा। इस काव्यभाषा, छायावादी भाषा के गुलाबपन के विरुद्ध निराला जी ने कुकुरमुत्ता लिखा जिसमें पुनः ग्रामीण शब्दावली के विन्यास को आदर मिला किन्तु मैतिालीशरण गुप्त की काव्यभाषा में तो प्रारम्भ से अन्त तक यह ग्रामीणता या ठेठपन या देसी प्रवृत्ति रही। यही कारण है कि छायावादी कविता के आगे गुप्त जी की कविता का अटपटापन अखरता है परन्तु उसमें शक्ति है, अपनापन है तथा उसमें जनता से दूरी नहीं है।

काव्यभाषा की समृद्धि की दृष्टि से गुप्त जी का "साकेत" उनकी सर्वोत्तम रचना है। इसमें छायावादी भाषिक संरचना से भी लाभ उठाया गया है किन्तु भाषा का जनाधार क़ायम रखा गया है :

घटना हो चाहे घटा, उठ नीचे से नित्य
आती है ऊपर सखी, छाकर चन्द्रादित्य
इन्द्रवधू आने लगी, क्यों निज स्वर्ग विहाय
नन्हीं दूबों का हृदय निकल पड़ा यह, हाय!

इस प्रकार के दोहों से लेकर, कवित्तों, सवैयों, हिन्दी के अपने छन्दों और गीतों के साथ-साथ गुप्त जी के सांकेत में सभी प्रकार के स्वच्छन्दतावादी विन्यासों का विधान किया गया है किन्तु सर्वत्र ठेठभाषा की तहें जमाई गईं हैं। अतः गुप्त जी ने, तुलसीदास की तरह, भाषा के अनेक प्रकार और रचना-प्रणालियाँ प्रस्तुत की हैं, इसी से हिन्दी काव्य भाषा समृद्ध हुई है। एक ओर साकेत में द्विवेदीयुगीन अनगढ़ता या De-construction है तो दूसरी ओर कोमलकांत व्यंजनात्मक वाग्वैचित्र्य है। अयोध्यासिंह उपाध्याय हरिऔध, रामचरित उपाध्याय और गुप्त जी, इन तीन कवियों के महाकाव्यों तथा अन्य रचनाओं में, विशेषकर, प्रियप्रवास, रामचरित चिंतामणि और "साकेत" में हिन्दी काव्यभाषा, सृजन-शक्ति के ऊँचे शिखर छू सकी है।

तथापि यह प्रश्न उठता है कि भाषिक संरचना की दृष्टि से गुप्त जी की काव्यभाषा में धरातलीय संरचना Surface Structures तो खूब है परन्तु गहन संरचना या Deep structures नहीं हैं। इस पर्यवेक्षण में सत्य है, इसमें संदेह नहीं किन्तु गुप्त जी के सम्मुख चुनौती खड़ी बोली को काव्यभाषा बनाने की थी, गहन संरचना का न उनके सामने

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अवकाश था, न लक्ष्य यों गहन संरचनाएँ उनके काव्य में स्वतः आ गई हैं, यथा "जीकर हाय पंतग मरे क्या?" या "दूती! बैठी हूँ सजकर मैं, ले चल शीघ्र मिलें प्रियतम से, धाम धरा धन सब तज कर मैं।" इसके सिवा 'विकटभट'–भारत भारती से द्वापर और जय (या महाभारत) काव्य तक गुप्त जी में गहन भाषिक संरचना का विकास दिखाई पड़ता है और वह विकास स्वाभाविक और स्वतः अवतरित है। वह बलात्कृत नहीं है।

निष्कर्षतः यह कि हिन्दी काव्य भाषा की आज जो समृद्धि है जो उसमें विविध यामता, विविध प्रकारात्मकता है, वह श्रीयुत मैथिली शरण गुप्त के प्रारम्भिक प्रयोगों की नींव पर आधारित है। यही कारण है कि श्री गुप्त हिन्दी खडी बोली कविता और काव्यभाषा के प्रथम निर्माता और के शक्ति स्रोतों के भगीरथ थे।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जैनेन्द्र का प्रचलित से विचलन

किसी रचनाकर्ता का ध्यान इस बिन्दु पर रहता है कि वह अन्य सिरजनहारों से भिन्न कैसे बने ? दूसरों से भिन्नता ही किसी व्यक्ति विशेष का लक्षण होता है, उसकी अनुपमता प्रचलित से पृथक् होने में है। इसी विचलन (Deviation) से वह तुरन्त पहचान में आ जाता है। अतएव लीक छोड़कर अलग अपना मार्ग बनाना ही सृजन को विलक्षणता देता है। इसी स्वतंत्र मार्ग-निर्माण को उस विशिष्ट व्यक्ति की 'रीति' कहते हैं। विशिष्ट पद रचना रीति : (वामन) !

श्री जैनेन्द्र कुमार ने देखा था कि प्रेमचन्द बृहत् चित्रफलक लेते हैं, विशद वर्णनों से उन्हें भरते हैं और सामयिक समस्याओं से सीधे-सपाट ढंग से टकराते हैं। प्रेमचन्द सामाजिक चेतना, समाज-सुधार, साम्राज्यवाद-विरोध, और राष्ट्रीय आंदोलन को प्रतिबिम्बित करते थे। जैनेन्द्र ने विस्तार छोड़ा, वर्णन की पद्धति छोड़ी, और तत्त्ववादी कथन शैली अपनायी जो दार्शनिकता के कारण, मौलिक सोच-विचार जगाने की शक्ति के कारण तुरन्त पाठक को चिन्तनोन्मुख कर देती है और वह वर्णनों में बहने के स्थान पर स्थिति पर ग़ौर करने लगता है।

इसके सिवा जैनेन्द्र ने देखा कि सामाजिक-राष्ट्रीय आन्दोलन, सुधार और क्रान्ति (मंगलसूत्र–प्रेमचन्द) का आधार 'व्यक्ति' की अपनी स्वतंत्र स्वचेतना (Self-Consciousness) को बनाया जाना चाहिए अन्यथा निर्माण की शक्ति व्यक्ति में नहीं रहेगी और एक प्रकार का निरंकुश, गिरोहबाज़, समूहवाद फैल जाएगा जो व्यक्ति की गरदन दबाएगा और मानव-स्वतंत्रता के स्थायी स्रोत (व्यक्ति) को ही सुखा देगा।

जैनेन्द्र ने सर्वत्र इस आत्मसजग, अपनी स्वतंत्रता के प्रति जागरूक 'व्यक्ति' को केन्द्र में स्थापित किया है–

यह 'व्यक्ति' जिसे 'जैनेन्द्रीय व्यक्ति' कह सकते हैं, राष्ट्रीय सामाजिक सन्दर्भ में, कई जगह क्रान्तिकारी है (सुनीता) किन्तु जैनेन्द्र उसकी क्रान्तिकारी घटनाओं का वर्णन नहीं करते। उनका ध्यान उसके 'व्यक्तित्व के अंतर्विरोध' पर केन्द्रित है और मुख्य अंतर्विरोध यह है कि क्रान्तिकारी व्यक्ति मूल्यवाद या सामाजिक आदर्शवाद के लिए अपनी अन्तःप्रकृति (Instinct) को दबाता है और इस आत्मदमन में मुख्य है, प्राकृतिक वासना का दमन, काम या यौन-प्रकृति का दमन, उसके प्रति एक अपराधभाव, गोपन का सम्मान और मन ही मन यौनाकर्षण में मग्न रहने का नैसर्गिक रुझाना।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जैनेन्द्र जी अपने व्यक्ति को इस यौनपुंज से मुक्त करने के लिए नारी को उसके सम्मुख नग्न कराते हैं और एक आकस्मिक आघात (शॉक) द्वारा कुंठित अतृप्त यौन-प्रतिवर्त्तित मन (Sexually Conditioned) को असामान्य से सामान्य बना देने का प्रयत्न करते हैं।

फ्रायड के अनुसार प्राकृतिक 'इड' या आदिवासना या काम के दमन से असामान्यता (Abnormality) पनपती है। जैनेन्द्र इस असामान्यता के सामान्यीकरण के लिए उपन्यासों में विशेष प्रयत्नशील हैं; अतः प्रेमचन्द के साहित्य में जहाँ जनसाधारण की सामाजिक-राष्ट्रीय मुदित का बोध और संघर्ष है, सामूहिक यथार्थ है, बहिर्द्वन्द्व है, वहीं जैनेन्द्र में यौनक्रन्ति है, और सम्बन्धों में स्वतंत्रता के प्रचार द्वारा व्यक्ति के सामान्यीकरण (Normalisation) का प्रयत्न है अतएव प्रेमचन्द के मार्ग से जैनेन्द्र में विचलन है और इसी व्याख्या से जैनेन्द्र तुरन्त पहचान में आ जाते हैं। प्रेमचन्द की परिणति कार्लमार्क्स में होती है तो जैनेन्द्र की फ्रायड में। यों न प्रेमचन्द ने अपने उपन्यासों में कार्ल मार्क्स के विचारधारा के नमूने का अनुवाद किया, न जैनेन्द्र ने फ्रायड को पढ़कर अपना कथासाहित्य लिखा। परन्तु दोनों के गंतव्य ध्रुवीकृत हैं, प्रेरणा स्रोत भी।

किन्तु जैनेन्द्र की यौनक्रान्ति या स्वच्छन्द प्रेमसम्बन्धों की परिकल्पना, सामान्य भोगवाद के विपरीत, व्यक्ति की संचेतना और उदात्तता, स्वेच्छया समर्पण, पारस्परिकता, आदर तथा विनिमय (लेन-देन) की भावना से भिन्न तात्त्विक प्रकार की कल्पना है जिसके बीज पुराचीन भारतीय दर्शनों में पाये जाते हैं, जहाँ भोग में भी त्याग, सहर्ष कष्टसहन है अथवा जहाँ सुक्रराती या प्लेटॉनिक प्रेम का आदर्श है; अतएव जैनेन्द्र पारम्परिक विवाह-व्यवस्था के अतिक्रमण और 'तीसरे व्यक्ति' (प्रेयसी या प्रेमी) की आवश्यकता पर बल देते हैं और साथ ही प्रेमियों का चेतनात्मक धरातल इतना ऊँचा करते हैं कि प्रेम का अध्यात्मीकरण हो जाता है; अतएव जैनेन्द्रीय 'व्यक्ति' (नर तथा नारी) के स्वतंत्र सम्बन्धों में वासनावेग नहीं है, तत्त्ववाद, त्याग, कष्टसहन या आत्मदहन है, जैसा 'मृणाल' (त्यागपत्र) में है। अब यह स्पष्ट है कि जैनेन्द्रीय 'व्यक्ति' अंतर्विरोधी है, अतः जैनेन्द्रीय व्यक्ति का सामान्यी करण (नार्मलाइज़ेशन) असामान्य हो जाता है और इसलिए जैनेन्द्र का प्रेम का तत्त्वज्ञान विस्मयजनक, कौतूहलक और विचित्र लगने लगता है।

अतएव जैनेन्द्र के कथासाहित्य का आकर्षण व्यक्ति और समूह या समाज के द्वन्द्व की ओर ध्यानाकर्षण में है, जड़ता, विवशता और ऊष्मा के अभाव को रेखांकित करने में है, समाधान में नहीं।

जैनेन्द्र के यथार्थ के वर्णन के विस्तार की जगह विचारों का विस्तार है। किन्तु उनका कोई समाधान ग्रहणीय नहीं लगता गोया वह वह एक ओर तो व्यक्ति को इंसानी रिश्तों में, मुख्यतः स्त्री-पुरुष के सम्बन्धों में, स्वतंत्रता देना चाहते हैं, इतनी कि विवाह-व्यवस्था निर्वाह मात्र (एडजस्टमेंट) रह जाए और दूसरी ओर 'दूसरे पुरुष' या 'दूसरी स्त्री' (the othe woman) के परस्पर आकर्षणजन्य वासना-वेग को तत्त्ववाद, आत्म उदात्तीकरण आदि प्रत्ययों से दबाते हैं, अतः जैनेन्द्र जी के उपदेश अजीब लगने लगते हैं।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वस्तुतः जैनेन्द्र में कई परस्पर-विरोधी विचार-सरणियाँ एक साथ सक्रिय थीं। एक ओर फ्रायड का असामान्य मनोविश्लेषण काम कर रहा था तो दूसरी तरफ उनमें जैनदर्शन की योगज ऊँचाइयाँ भी प्रेरित कर रही थीं, जिनमें मानवचेतना को, सचेत होकर ऊपर उठाया जाता है। तीसरी ओर गांधीवाद भी प्रेरित कर रहा था, जिसमें नर-नारी अथवा अन्य सम्बंधों में त्याग की होड़ लगती है और एकपक्षीयता को भी सहा जाता है......जैनेन्द्र में यह जो अंतर्विरोध (Inner Contradiction) है, वह उनके तत्त्ववादी दार्शनिक कथन-प्रकारों के कारण छुप जाता है। तत्त्ववादी शैली, इतनी आकर्षक होती है, इतनी सांकेतिक या व्यंजक कि वह तर्क और तथ्य की असंगतियों को भासित नहीं होने देती। यही कारण है कि विशुद्ध, निस्संग विवेकवादी (Rationalist) विचारक अथवा समाजशास्त्रीय दृष्टि से सोचने वाला चिन्तक, जैनेन्द्र को अंतर्विरोधग्रस्त, अस्पष्ट, रहस्यमय किन्तु आकर्षक लेखक के रूप में मानता है।

अंतर्विरोधों के बावजूद जहाँ प्रेमचन्द, सामाजिक-क्रान्ति या परिवर्तन के प्रतीक और प्रेरक बन गये, वहीं जैनेन्द्र जी व्यक्तिगत स्वातंत्र्य के। समाज में वर्ग-संघर्ष की समस्या मूलवर्ती है, किन्तु व्यक्ति बनाम समाज के असंतुलन, व्यक्ति द्वारा समाज की उपेक्षा और समाज द्वारा व्यक्ति के नियंत्रण और दमन की भी महत्त्वपूर्ण समस्या है जो प्रधानतया नर-नारी के सम्बन्ध में प्रकट होती है; अतः नर-नारी का संघर्ष भी वर्ग-संघर्ष का ही एक रूप है। आर्थिक-सामाजिक वर्ग-संघर्ष का समाधान वर्गहीन समाज की कल्पना मे मिल जाता है, किन्तु नर-नारी के सम्बन्धों का सर्वमान्य समाधान जटिल और संकुल है। क्योंकि योनसम्बन्धों में मात्र निसर्ग ही नहीं होता, उसमें 'व्यक्तित्व', व्यक्ति के आकर्षण-अहम्, बौद्धिकता-कलात्मकता और मननात्मक आयामों का परस्पर द्वन्द्व भी रहता है; अतएव नर-नारी के सम्बन्धों का समाधान अंतोगत्वा स्वयं व्यक्ति की समझ, सहानुभूति, प्रेमजन्य ऊष्मा, वासनागत आकर्षण, माननीय करुणा आदि पर निर्भर करता है। सर्वोपरि नर-नारी के मध्य एक रहस्यमयता भी रहती है, जिसके न रहने से सब कुछ सपाट और इसलिए विकर्षक हो जाता है–

"तुम कनक किरण के अंतराल में,
लुक-छिप कर चलते हो क्यों?

–प्रसाद

× × ×

"नारी क्या रहस्य है भगवन्
सोचूँगा घर जाकर।"

–'नूरजहाँ', गुरुभक्त सिंह

जो हो, यह तय है कि जैनेन्द्र जी, मुक्तसम्बन्धों के सार्वभौमिक संघर्ष के प्रेरक बन गये हैं। आज पूँगीवादी आधुनिक देशों में जो 'नारी स्वातंत्र्य' (वीमेन लिबरेशन) का आन्दोलन चल रहा है, उसे जैनेन्द्र जी प्रोत्साहक से लगेंगे यों कोई 'मुक्त-महिला' (Librated woman) जैनेन्द्र के तत्त्ववादी आत्मपीड़न को स्वीकार नहीं करेगी। नारी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

स्वातंत्र्य के कथात्मक साहित्य के सर्वोच्च सर्जक शरद हैं और उनके हिन्दी संस्करण हैं—श्री जैनेन्द्र।

शरदचन्द्र ने आजीवन पुरुष-समाज में नारी की दुर्गति और उसके विरुद्ध नारी की प्रतिक्रिया का बिम्बायन किया है। नारी को शरद ने अभूतपूर्व गरिमा दी, उसे वरण की स्वाधीनता दी, उसे पुरुष की दृष्टि से न देखकर मनुष्य की दृष्टि से देखा। रवीन्द्रनाथ ठाकुर तथा अन्य स्वच्छन्दतावादियों ने नारी के यौवन-सौन्दर्य, उसकी दिव्यता, उसकी सम्मोहक शक्ति (उर्वशी) का भव्य चित्रण किया, हिन्दी के छायावादियों ने भी (अप्सरा–पन्त, कामायनी–प्रसाद) नारी का चिन्मयीकरण किया यहाँ तक कि उसे ब्रह्म बना दिया किन्तु इस दृष्टि के पीछे पुरुष की मुग्धता अधिक थी; अतः समाज में नारी की वास्तविक स्थिति से छायावाद को कोई मतलब नहीं रहा। इसके विपरीत शरद ने पतिताओं में भी मनुष्यत्व को खोज कर दिखाया और 'किरणमयी' जैसी तेजस्विनी नारी प्रतिमाएँ अंकित कीं और 'चरित्रहीन' में चरित्र की परिभाषा ही बदल दी क्योंकि समाज में नर-नारी के मध्य सम्बन्धों का मापदण्ड पुरुष निर्धारित तथा लागू करता है वहाँ नारी की नियति का निर्धारक पुरुष है। शरद ने पुरुषों द्वारा सामन्तकालीन व्यवस्था में रचित स्मृतियों (मनु, याज्ञवल्क्य, नारद) या धर्मशास्त्रों के आधार पर 'मर्यादित' पुरुष व्यवस्था को मानने से इन्कार कर दिया और उन्होंने सम्बन्धों का एक ही आधार माना, प्रेम।

श्री जैनेन्द्र कुमार ने इसी शरद-परम्परा में लेखन किया है। दोनों ही नर-नारी के मध्य शारीरिक सम्बन्धों का कवितात्मक-गीतात्मक वर्णन नहीं करते, मानसिक या मनस्तात्त्विक सम्बन्ध का संगीत प्रस्तुत करते हैं किन्तु जैनेन्द्र में सुघड़ नारी-पात्रों को यह अतिरिक्त भूमिका सौंपी गई है कि वे सुनीता की तरह क्रान्तिकारियों के सम्मुख निर्वसन होकर उनकी कामकुण्ठा दूर करें और स्वयं अपने प्रदत्त पति के साथ ही बनी रहें।

यह ग़ौरतलब है कि खाते-पीते, पढ़े-लिखे निम्न पूँजीवादी तथा समृद्ध या पूँजीवादी बूर्ज्वा-समाज में जैनेन्द्र के द्वारा प्रस्तावित प्रेम का तत्त्ववाद अधिक प्रचलित हुआ। जो शोषित-दलित जनता के आर्थिक, सामाजिक, राजनैतिक स्वातंत्र्य के संघर्ष में संलग्न थे (हैं) उनमें जैनेन्द्र को प्रेमचन्द के मार्ग से भटका हुआ अथवा पथभ्रष्ट लेखक माना गया है और यह बार-बार कहा गया है कि जैनेन्द्र-अज्ञेय-ऋषभशरण जैन, इलाचन्द जोशी जैसे लेखकों का लेखन सामजिक क्रान्ति का विरोधी है, प्रतिक्रियावादी और व्यक्तिवादी है, क्योंकि वह सामाजिक क्रान्ति से यौनक्रान्ति की ओर ले जाकर व्यक्ति को पलायन सिखाता है, जनयोग से व्यक्ति के चित्त को हटाकर उसे सम्भोग में समाप्त कर देता है। जैनेन्द्र-अज्ञेय-इलाचन्द जोशी के उपन्यासों पर यह आरोप निराधार नहीं है। क्योंकि यदि मनुष्य में मनुष्यता है, मानवकरुणा है, दया है, सह-अनुभूति है तो वह वैश्विक स्तर पर मनुष्य मात्र की दुरावस्था , उसके वर्गीय शोषण और दमन के विरोध में लगेगा, मात्र नारी-नर के प्रेम के ऊहापोह में नहीं। किन्तु प्रेमचन्द के साहित्य में 'व्यक्तिगत' प्रेम के प्रति जो दृष्टि थी, वह विक्टोरियन थी। वहाँ मेहता-मालती (गोदान) के प्रसंग अवश्य हैं, किन्तु

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वहाँ भी सम्बन्धों में वरण-स्वातन्त्र्य को खुलकर स्वीकार नहीं किया गया है, न विवाह-व्यवस्था को उग्र चुनौती दी गई है; जबकि विवाह-व्यवस्था हिन्दू धर्मशास्त्रों के अनुसार 'सनातन' मानी जाती है और उसमें पुनर्विवाह या विच्छेद (तलाय) का विधान, अपवाद रूप में ही है। नियम यही है कि नारी-नर का सम्बन्ध पूर्वजन्माधारित है और उसमें नर तो बहुविवाह कर सकता है, विवाहेतर सम्बन्ध भी स्थापित कर सकता है किन्तु नारी को किसी भी दशा में पतिव्रता होकर ही रहना है–

"महावृष्टि चलि फूट कियारी। जिमि स्वतंत्र हुई बिगरहि नारी॥"

(तुलसीदास)

नारी के प्रति, उसके अस्तित्व और व्यक्तित्व के प्रति ऐसे क्रूर पुरुष-समाज में जैनेन्द्र-अज्ञेय-इलाचन्द जोशी जैसे लेखक **एक सीमा तक** अनिवार्य हो जाते हैं, वांछनीय भले ही वे कम लगें क्योंकि कोई तो नर-नारी के मध्य नैसर्गिक आकर्षण का वर्णन करे। प्राकृतिक सत्य को यदि सामाजिक सत्य दबाता है तो प्रकृति के पक्ष में किया गया लेखन प्रासंगिक होगा ही। क्योंकि उसमें व्यक्ति की एक मूल समस्या के द्वन्द्व प्रतिबिम्बित होते हैं। चूँकि प्रेमचन्द में काम सम्बन्धों के प्रति कुल मिलाकर विक्टोरियन या द्विवेदीय नैतिकतावादी दृष्टि थी; अतएव उसके विरुद्ध, फ्रायड से प्रेरणा लेकर, मुक्त यौन-सम्बन्धों का वर्णन हुआ और मुक्त यौन-सम्बन्धों के इन वर्णनों में व्यक्ति को स्वतंत्रता के साथ, दायित्व नहीं दिया गया; अतएव ऐसे उपन्यास सामाजिक चेतना को भटकाने वाले प्रतीत हुए।

क्या मनुष्य की नियति प्रेमचन्द और फ्रायड के बीच भटकाव की है? क्या कोई ऐसा बिन्दु है जहाँ दोनों ध्रुवों का, व्यक्ति और समाज का, प्रकृति और नैतिकता का, निरंकुश निसर्ग और मर्यादावादी अनुशासन का चिर द्वन्द्व समाप्त हो जाए?

कार्ल मार्क्स के समाजवाद (साम्यवाद) में ऐसा संतुलन खोजा गया है किन्तु साम्यवादी समाजों मे भी ४० प्रतिशत से अधिक तलाक़ होते हैं, कहीं कुछ कम, कहीं अधिक। स्पष्ट है कि आर्थिक दृष्टि से वर्गविहीन समाज बन जाने पर भी या एक हद तक समता स्थापित हो जाने पर भी नर-नारी के सम्बन्धों की समस्या का पूर्ण समाधान सरल नहीं है। कारण यही है कि इस सम्बन्ध के कारकों में आर्थिक स्वावलम्बन के बावजूद "व्यक्तित्व" के विषम जालों के कारण रुचियों, विचार-प्रवाहों आदि की टकराहटों, प्राकृतिक गुरुत्त्वाकर्षणों और दायित्वों के मध्य उठे द्वन्द्वों से, नर-नारी के सम्बन्धों की समस्या विषम या द्वन्द्वमय बनी रहती है और इस समस्या के मूलस्थित मनोविज्ञान को समझने के लिए शरद तथा जैनेन्द्र का साहित्य हमारा ध्यान खींचता है यों समाधान वहाँ नहीं मिलता तथापि उधर सोचने की प्रेरणा अवश्य मिलती है।

जैनेन्द्र ने नारीपात्र 'गढ़े' हैं। वे उसी रूप में जीवन में मिलें, यह आवश्यक नहीं है। वे नारी वर्ग प्रतिनिधि (Typical) पात्र नहीं हैं, विशिष्ट वयक्तित्व से सम्पन्न पात्र हैं। वे सर्वदा सम्बन्धों की समस्या उठाते हैं और हमें सोचने तथा निर्णय लेने के लिए

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

विवश करते हैं; अतः जैनेन्द्र सम्बन्धों की जड़ता के विरुद्ध प्रतिक्रिया के लेखक हैं।

जैनेन्द्र की उक्त अंतर्वस्तु में जो प्रचलित से विचलन है, उसी तरह उनकी भाषा, उनकी कथन भंगिमा, उनके वाह्य प्रयोग, उनके अन्दाज़े बयाँ में भी और सबसे विलक्षणता है। वह पुराने मर्मी सिद्धों-सन्तों की तरह बात में से बात निकाल कर सूक्ष्मता की ओर ले जाते हैं, इशारे करते हैं; वे स्पष्ट, तथ्यमूलक, क्रमबद्ध और बोधगम्य विवेचन नहीं करते, संकेत करते हैं; सूझें जगाते हैं, बूझते-बुझाते हैं, बात में छिपी बात को छूते हैं–एक नमूना यों है। किसी ने जैनेन्द्र जी से पूछा–कहानी की उत्कृष्टता का प्रतिमान क्या है? जैनेन्द्र ने पलट कर पूछा–आप बताइए। उसने बताया कि कहानी वह है जो 'अच्छी' लगे। जैनेन्द्र जी ने तुरन्त बात पकड़ी–"ठीक है, कहानी वह जो अच्छ लगती रहे!"

जैनेन्द्र के निराले अन्दाज़ेबयाँ के कारण प्रेमचन्द की सादाबयानी, 'साधारण' (ordinary) प्रतीत होने लगती है और पाठक जैनेन्द्र के कथन के अनूठेपनों में ऊब-डूब करने लगता है। मर्मी सन्तों की विशेषता यह थी कि वे मूल बिन्दु पकड़ते थे, अमुख्य को छोड़ देते थे। जैनेन्द्र में भी यही है। यही कारण है, उनमें विस्तार नहीं, वेधकता या शंकुभूतता (Pointedness) है।

जैनेन्द्र हिन्दी के अन्य सब लेखकों में अपना वैशिष्ट्य अन्त तक बनाये रहे। उनमें जैन तीर्थंकर, महात्मा गांधी, फ्रायड और मध्यकालीन सन्तसाधक, सब एक साथ प्रतिध्वनित होते हैं, ऐसे लहज़े में, जिसे जैनेन्द्रीय कहा जा सकता है।

व्यक्तित्व के बड़प्पन या बड़ेपन का एक यह भी लक्षण है कि उसमें ऐसे अंतर्विरोध हों जो अंतविरोंध से प्रतीत ही न हों, जैनेन्द्र का ऐसा ही व्यक्तित्व था, ऐसा ही कृतित्त्व।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

माखन लाल चतुर्वेदी का पुनर्मूल्यांकन

''छायावाद'' हाब्द ने, उस काल (१९२०-१९३६) के कुछ बड़े रचनाकारों के साथ बड़ी रेढ़ की है, उनके कार्य की महत्ता की उपेक्षा होती रही है यथा श्री माखन लाल चतुर्वेदी की, जिन्हें केन्द्रीय महत्त्व नहीं मिला। उन्हें राष्ट्रीयधारा का कवि कहकर, केन्द्र से परिधि की ओर ठेल दिया गया और वे हाशिए पर रह गए। अब, आज़ादी के बाद, जब क्षेत्रीय आधार पर प्रान्तों में ''अपने-अपने'' यशस्वीयोगदानी और गौरवयोग्य व्यक्तियों की खोज शुरू हुई तो मध्य-प्रदेश के श्री माखन लाल चतुर्वेदी पर सर्वप्रथम ध्यान गया क्योंकि वे राष्ट्रीय-मुक्ति आंदोलन के प्रतिफलन थे अतएव शासकवर्ग से भी स्वीकृति तथा सहायता मिल गई और श्री माखन लाल चतुर्वेदी का सारा लेखन, ''रचनावली'' की दस जिल्दों में छप गया। अनेक सरकारी-ग़ैर सरकारी, वाम तथा दक्षिण, सभी दिशाओं के साहित्यिकों और संस्थाओं ने चतुर्वेदी जी पर समारोह कर, सिर पर उठा लिया और अज वह मूर्धन्य कवि, बल्कि ''महान्'' कवि तथा बड़े क़द के गद्यकार एवं देशभक्त, कार्यकर्त्ता और सम्पादक साबित हुए।

किन्तु साहित्य में, विशेषकर कविता और कविता की आलोचना में प्रचलित, ''कोटिवाद'' (केटागरीइज़्म) के कारण अनेक व्यक्तियों के साथ अन्याय हुआ है, ऐसा मुझे लगता है। साहित्य में किसी मुख्य प्रवृत्ति के नाम पर कोटि बना लेने और फिर उसके लक्षणों के आधार पर मूल्यांकन से उनके कृतित्व का अवमूल्यन होगा ही, जो उस मुख्य प्रवृत्ति से स्वतंत्र या समानान्तर चले हैं। मसलन्, छायावाद, प्रगतिवाद, नयी कविताावाद जैसी कोटियों के बाहर जो रचनााकार स्वच्छन्द व्यक्तित्व और कृतित्व के धनी हैं, उनके उल्लेख कम हुए हैं और आलोचकों की सर्चलाइट से वे बेचारे बाहर रहे हैं, पाठ्यक्रमों से भी। वे सिद्धि में प्रथम श्रेणी या अग्रिम पंक्ति के होते हुए भी प्रसिद्धि में द्वितीय श्रेणी में पटके गए हैं, और समूह का यह स्वभाव होता है कि वह प्रसिद्धि को ही सिद्धि मान लेता है, कौन माथा खपाए कि कौन सिद्ध कवि है, कौन मात्र प्रसिद्ध?

अतएव, ''छायावाद'' कोटि में श्री माखन लाल जी के न आने से, उनको निराला, महादेवी, प्रसाद और पन्त इन चार बड़ों से भिन्न और द्वितीय पंक्ति में रखा गया और उन्हें राष्ट्रीयधारा का कवि मानकर शायद उन पर करुणा कर अथवा अन्य किसी दबाव से, उनकी ''हिमकिरीटिनी'' या ''हिमतरंगिणी'' को छायावादियों के साथ आधुनिक कवियों में शामिल कर लिया गया।

इस अनुग्रह (ग्रेस) से लाभ यह हुआ कि नयी पीढ़ी (छात्र) साहित्य-अध्ययन के क्रम में श्री माखनलाल जी की कविताओं से परिचित हो गई। उनकी ''क़ैदी और कोकिल''

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जैसी कविताओं में कुछ ऐसा था कि उन्हें पढ़कर हृदय में देश-भक्ति का गंभीर भाव उमड़ने लगता था, साम्राज्यवाद के विरुद्ध कोप का प्रज्ज्वलन पनपता था। किन्तु इसके साथ दो बातें श्री माखन लाल चतुर्वेदी को अन्य साधारण राष्ट्रवादी कवियों से भिन्न करती थीं, एक तो राष्ट्रवादी क्रान्ति की उकसाहट, जनवेदना और देशशत्रु पर विच्छुरित क्रोध की चिन्गारियाँ थीं, दूसरी ओर उनके साथ-साथ माधुर्य की अनुभूतियों की ऐसी निविड़ता थी जो नारेबाज़ कविता से श्री माखनलाल की कविता को पृथक् करती थी। द्वितीय बिन्दु यह कि इस कवि की कविता की भाषा, छायावादियों की काव्यभाषा से बिल्कुल भिन्न थी। उसमें व्यावहारिक भाषा की अनगढ़ता : अटपटापन और मुहावरादानी थी, सरलता और आत्मीयता थी, उसमें अपनी कला के प्रदर्शन का चाव नहीं था, कल्पना का कौतुक नहीं था, निराकारता या अमूर्तन (Abstraction) नहीं था। सब कुछ स्पष्ट और खरा था, शत्रु-मित्र, भला-बुरा, का बोध साफ़ और शफ्फाफ था तथापि उसमें एक विशिष्ट राग और रिरिंसा थी जो प्रायः श्री कृष्ण जी प्रति प्रेमासक्ति से जुड़ जाती थी।

इस तरह राग की लौकिकता और भक्तिमूलक रहस्यात्मक आँखमिचौनी का एक आयाम श्री माखन लाल चतुर्वेदी की कविता में था। क़ैदी का बलिदानी संवेदन ही मुख्य था किन्तु बलिदानी व्यक्ति कोकिला का स्वर सुनकर क्या मादनभाव या आराध्य (श्रीकृष्ण) के प्रति अपने राग से जन्य संगीत का अनुभव नहीं करता? राष्ट्रवादी क्रान्ति के लावे की दहक के मध्य इस कवि की रचनाओं में कोमलता अैर माधुर्य का एक ऐसा तार या प्रवाह है जो भीतर से कविता को बयाक होने से बचाती है अथवा गूढ़ मनोवैज्ञानिक स्तर (Depth) पर क्रान्ति की धधक के साथ, मन का मधुर कलरव या हृदय की धड़कन एक साथ चलने से, बलिपथ पर गतिमान देशभक्त के दिल की कली सदा खिली रहती है।

माखनलाल जी की इस विशेषता के कारण उनमें, उस समय पर रचनात्मक-नवीनता या शैलीगत विचलन (Deviation) दिखाई पड़ता है और उनकी कविता की संरचना (Structure) सबसे भिन्न है। छायावादी कवि अलंकृत, चिकनी-चुपड़ी, रिन्दे से रगड़ी हुई समान धरातलीय या हमवार सतहवाली, मधुर, कोमल, कटी-छँटी, परिष्कृत काव्यभाषा गढ़ रहे थे किन्तु माखन लाल जी अपनी भारतेन्दु-द्विवेदीकालीन अनगढ़ता या ठेठपन से मुक्त नहीं होना चाहते थे क्योंकि वह कोरे कवि नहीं थे, वह राष्ट्रीय संग्राम की भट्टी में तप रहे थे और उस के जीवित शब्द को नहीं छोड़ सकते थे, अतः वह ठेठ, अनगढ़ किन्तु जीवन्त जन भाषा के अस्तर (Embedding) लगाते हुए कविता लिखते हैं। वह भाषा को गढ़ नहीं रहे थे बल्कि वह जन-प्रयुक्त भाषा का ही कवितात्मक प्रयोग कर रहे थे।

यही कारण है कि माखन लाल जी तथा बाल कृष्ण शर्मा नवीन की कविताओं में ठेठता है किन्तु उनमें ठूंठपन नहीं है, उनमें किसलय हैं, कलियाँ हैं, पुष्प हैं, भ्रमर वहाँ भी गूँजते हैं, प्रिय की स्मृति और कसक वहां भी है, उच्छ्वास भी, विरह और आतिश

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भी किन्तु कोमलता के इस गूदे के नीचे राष्ट्रवादी गुठली भी है, कड़ी, कठोर और कठिन। इस चट्टानी आंतरिकता के कारण ही उनमें कविता, छायावाद की उस कविता से पृथक है जिसमें गुठली कम, गूदा ही गूदा है।

राष्ट्रीय जागरण, जनान्दोलन, देश-शत्रु के विरुद्ध क्रान्तिकारियों द्वारा प्राण हथेली पर लेकर की गई हिंसक कार्यवाही, जनकार्य के लिए "कर्मवीर" का सम्पादन, सभा-सम्मेलनों में भागीदारी, भाषण-संगठन आदि की व्यस्तताएँ–इन सबके दबाव और भींच से माखनलाल जी की कविता उसी तरह निकली है जैसे ट्यूब को दबाने से उसमें से लेई निकलती है, अतएव वह अपनी कविता को देशभक्ति के लिए इस्तेमाल कर रहे थे, अस्त्र की तरह, साधन की तरह। साध्य देश था, जनता थी, समाजपरिवर्तन था और फिर भी उनकी कविता, कविता है जबकि वह समझते थे कि वह कविता नहीं, तुकबन्दी[1] कर रहे हैं और इसलिए वह कथ्य के खरेपन के कारण उसी तरह कविता बन गई है, जिस तरह कबीर की कविता, बन गई थी।

माखनलाल जी के कवि-व्यक्तित्व की सिद्धि यह थी कि वह राष्ट्र और जनता के लिए अपने सम्पूर्ण समर्पण और उसके स्वातंत्र्य के लिए किए जा रहे संघर्षों में पूर्ण निमग्नता के कारण, जन के माध्यम बन चुके थे और जब रचनाकार, स्वचेतना। स्वगर्व, अपनी प्रतिभा के प्रदर्शन और आत्मस्थापना की मलिनताओं को छोड़कर, मात्र जन माध्यम बन जाता है तब उसकी वाणी में स्वयं जनाकांक्षाएं, जनदहन, जनदीप्ति और दर्प बोलने लगता है। कवि, अपने जन समुदाय, अपनी क़ौम और मुल्क का जमूड़ा बन जाता है अतएव उसकी रचना में एक ऐसा अनिर्वच आकर्षण और मर्मस्पर्शी तत्व पैदा हो जाता है, एक ऐसी झंकार पनप जाती है जो मात्र बातूनी लेखकों/कवियों में नहीं आ पाती अतएव "गढ़िया" और "जड़िया" या पंक्तियों के पच्चीका और "वक्रताओं-बिम्बों और भाषा के हावभाव, अदा-अंदाज़ एवं अलंकारी कवियों से वे कवि भिन्न होते हैं, जो अनुभूत सत्य की शुद्धता, भाव की गहनता और वाणी के स्वतः स्वच्छन्द कथनमार्ग बनाने की शक्ति के कारण, कलाकार कवियों से श्रेष्ठ सिद्ध होते हैं। यही कारण है कि सूरदास, नन्ददास से श्रेष्ठ कवि हैं, तुलसीदास और केशवदास में गुणात्मक अन्तर है, इसी तरह छायावादियों और माखनलाल चतुर्वेदी में बुनियादी भेद है। इस भिन्नता को रचना प्रक्रिया के वैयक्तिक तथा सामाजिक आधार के विश्लेषण से समझा जा सकता है। माखनलाल जी राष्ट्रीयता के जन संघर्ष की अवधि में आत्ममाध्यमीकरण कर सके थे, छायावादी नहीं कर सके थे (निराला अपवाद थे) अतः छायावादी कवि, आत्मसजग कलाकार कवि थे, वे संघर्ष से दूर, मात्र सह-अनुभूति से, अपनी कविता को सजा बजाकर लिख रहे थे, शब्दावली को चिकना रहे थे, देश (बंगाल) और विदेश (अंग्रेजी रोमांटिक कवि) से नए बिम्ब, नयी रचना प्रणाली (मानवीकरण, विशेषण विपर्यय) ला रहे थे। वे शुद्ध साहित्यिक व्यक्तित्व थे, जबकि माखनलाल जी चतुर्वेदी मुख्यतः आज़ादी की लो

१. 'माता'–भूमिका।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

के पतंगे थे। उतः उनकी कविता में, स्वतंत्रता की दीपशिखा के प्रति जो लगन, मुग्धता तथा अनन्त जलन पाई जाती है उससे लगता है, उनकी कविता में जनमुक्ति की शमा पर जलते शलभ के पंखों की झरझराहट और तज्जन्य छटपटाहट सुनाई पड़ती है। यह गुण, व्यक्तित्व के जनाकार हो जाने, जन विराट के साथ हृदय की धड़कन को मिलाने अथवा अपने अहम् के अतिक्रमण से आता है और यही गुण माखनलाल जी को छायावादियों से भिन्न और भव्य बनाता है।

माखन लाल जी ने आत्माहुति से साबित कर दिया है कि कविता के लिए "कविशिक्षा" या देशी-विदेशी, विशेषकर विदेशी साहित्य से अनुभूतियों, बिम्बों तथा उक्तियों का आयात पर्याप्त नहीं है बल्कि रचाव के लिए अपना बचाव न कर अपने को विशाल सृष्टि के प्रवाह में प्रवाहित करना ज़रूरी है। माखन लाल जी की कविता पढ़कर पाठक की आत्मा का विराटीकरण होता है, ऐसा कि कवि व्यक्तित्व वैश्विक स्तर पा लेता है और फिर भी वह स्वदेशी बना रहता है, अपना राष्ट्रीय जातीय, प्रान्तीय, आंचलिक स्वभाव बनाए रखकर भी वह संकीर्णताओं से परे हो जाता है। वह एक प्रतिनिधि और पावन भारतीय आत्मा बन जाता है।

राष्ट्रीय आन्दोलन में तपी हुई यह "भारतीय आत्मा" सर्वत्र प्रामाणिक है, कहीं भी आत्म-स्थापना का कल्मष नहीं, कहीं काट और कपट नहीं। अतएव माखनलाल को समझने के लिए उनके स्वगत साक्ष्य का मूल्य है। उनका एक कविता संग्रह १९५१ ई. में प्रकाशित हुआ, "माता"। माखन लाल चतुर्वेदी ने लिखा है कि कागज़ात में खोई छिपी रचनाओं को खोज कर डॉ. धर्मवीर भारती तथा अन्य प्रशंसकों ने कविताओं का चयन किया, तब "माता" छपा। तब तक (१९५१) कवि ६४ वर्ष का हो चुका था अतः वृद्ध कवि ने बड़ी हसरत के साथ नए साहित्य और नए स्वतंत्र भारतीय समाज को देखते हुए लिखा है किन्तु उसमें यह दर्द भी है कि जो क़द्र उनकी और उनकी पीढ़ी के अन्य स्वतंत्रता सैनिक कवियों की होनी चाहिए थी, नहीं हुई तथापि कवि ने अपने रचना रहस्य पर प्रकाश डाला है। प्रथम रहस्य यह है कि माखन लाल जी वैधानिक जनतांत्रिक और अहिंसक जनान्दोलन के समर्थक थे किन्तु उतने ही बल्कि उससे भी अधिक, वह क्रांतिकारी-हिंसा के बलिपथ पर चलने वाले इन्क़लाबियों के पक्षधर तथा पृष्ठ पोषक थे। यह प्रवृत्ति, नवीन, दिनकर आदि में भी थी परन्तु चतुर्वेदी जी में वह सर्वाधिक थी। क्रान्ति से गहरी सहानुभूति होने कारण वह राष्ट्रीय संग्राम को भयंकर मानते थे। उस भयंकरता के साथ माधुर्य का निर्वाह उनकी रचना का एक रमणीय रहस्य था :

"खतरों की भयंकरता में माधुर्य का स्मरण करने में काँपते मानव के सम्मुख भंयकर खतरों के बीच पुरुषार्थ और माधुर्य का सृजन क्या कुछ नहीं होता ?" (माता, भूमिका)

संग्राम या संघर्ष, सर्वदा भयानक होता है अतः उसके लिए बलि देनी पड़ती है। अहिंसक संघर्ष और कारावास में भी कम कष्ट नहीं होता, हिंसक संघर्ष में तो स्वबलिदान करना पड़ता है। माखन लाल चतुर्वेदी सोचते थे कि बलि को कला क्यों नहीं माना जाता ?

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

 Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

"पहले बलि धर्म थी......बलि कला कहला सकेगी, वे युग जाने कितनी दूर हैं ?" (माता)

"जीवन और कला का मरण-वरण, साथ-साथ चलाने वालों को पहचान न पाए तो नाचने-कूदने का कौशल मन बहला सकेगा ?" (माता)

इस कवि की दृष्टि से कला वहां होती है, जहां प्रवृत्तियों, प्राकृतिक इच्छाओं, सुख-सुविधाओं को छोड़ा जाता है, पशुता से ऊपर उठना पड़ता है। ऐसी कला, जिसमें मरण का वरण किया जाए, सामान्य नाच-कूद से भिन्न होती है। अतएव कला मात्र कौशल नहीं, आत्मत्याग या स्वचेतना का ऊर्ध्वगमन ।, पराक्रम में प्रवृत्तियो को त्यागना पड़ता है, कला भी एक पराक्रम है अतः बलि कला है। माखन लाल चतुर्वेदी ने इस प्रकार कला का नया दर्शन प्रस्तुत किया है। ऐसा दर्शन, छायावाद में कहां है ?

"जीवन की ग़ुलाम चाहों ने जहां मरण का मूल्य बिगाड़ा, बलि की रानी पढ़ पाए कैसे अपना अस्तित्व-पहाड़ा" ?

बलि के बिना जीवन पशुताः पराधीनता और अधोगति को प्राप्त होगा, यह सत्य कवि ने पा लिया था किन्तु चतुर्वेदी जी बलिदान के प्रयोजन की उच्चता तथा व्यापकता के समर्थक थे, अनावश्यक साम्प्रदायिक पृथकतावादी हिंसा के वह विरोधी थे क्योंकि उससे मानवात्मा ऊपर नहीं उठती, व्यापक नहीं बनती।

कवि देख रहा था कि आजादी के पूर्व और बाद, तथाकथित बड़े आदमियों ने बलिपथ का मार्ग छोड़ दिया है अतः वह पूछता है :

"वायुयान के टिकिटों से क्या बलि के देश पहुंच जाओगे ?'

यही नहीं, वह संग्रहशीलता, और जनता को मूर्ख बनाकर शासन के पदों पर पहुंच जाने की भर्त्सना के सिवा यह भी देखता है कि देश में एक वेतनभोगी श्रेणी तैयार हो रही है जो बलिपथ के प्रति ग़द्दारी करेगी। कहना न होगा कि स्वतंत्र भारत में यह वेतनभोगी वर्ग (नौकरशाही तथा बुद्धिजीवीशाही) जन-क्रान्ति में बाधक है। यह उच्च वर्ग तथा निम्न शोषित वर्ग के बीच संतुलन कायम किए हुए है न क्रान्ति होने देता है, न यह वर्ग स्वयं उच्च श्रेणी, समपन्न वर्ग में शामिल हो पाता है अतः यह वेतनभोगी मध्यवर्ग अत्यन्त लालची, आत्मकेन्द्रित, निष्क्रिय, स्वार्थी, पदोन्नति के लिए कुछ भी करने को तैयार और वैडालवृत्ति का वर्ग होता है, तेजहीन, जन के प्रति मात्र मौखिक सहानुभूति दिखानेवाला, सुविधा परस्त और सिद्धान्त बखानू पामर समुदाय :

"मासिक वेतन पर बिक उनकी पामरता हमने दुलराई।"

अतएव कवि द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद सुख-सुविधा के लिए समर्पित इस आधुनिक व्यवस्था में आग लगाने को कहता है :

"उठ तू इस युद्धोत्तर जग की प्रवंचना में आग लगा दे
ये ग़ुलाम ये भले आदमी, ले गंगा में डाल बहा दे।

जिन्हें "भले आदमी" कहा जाता है वे अमूर्त भलमाहत के अभ्यासी होते हैं। वे

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पीड़ितों के लिए ''बलिपथ'' को नहीं अपनाते, ''गृहपथ'' को अपनाते हैं, अपने-अपने घरों को भरते हुए ऐसे भले आदमी'', बुराई और बरबादी को बनाए रखने के लिए उत्तरदायी है। तथाकथित ''भले आदमी'', तटस्थता और सहनशीलता सिखाते हैं।

क्रान्तिकारी चेतना के संवाहक श्री माखन लाल में छायावादियों से ही नहीं उन तथाकथित प्रगतिवादियों, प्रगतिशीलों, जनवादियों से भी अधिक समझ और बदलाव की त्वरा थी जो इस भ्रम में है कि इस धनतंत्र में चुनाव द्वारा दान और धरती से शोषकों को बेदखल किया जा सकता है। चतुर्वेदी जी गांधीवादी अहिंसा को सूक्षमतः जन-हत्यारी मानते थे क्योंकि वह कोटि-कोटि जन को विपन्न बनाए रखना चाहती है। तीव्र परिवर्तन तभी संभव है जब बलपूर्वक धन-धरती से एकाधिकारी वर्ग को अपदस्थ कर दिया जाए किन्तु इसमें हिंसा होगी। चतुर्वेदी जी इस जनक्रान्ति में हुई जनहानि को अपरिहार्य अतः आवश्यक मानते हैं। यों भी अभाव और गन्दगी से अशिक्षा तथा अस्वास्थ्य से करोड़ों लोग मर रहे हैं अतः वह जनक्रान्ति का समर्थन करते हैं:

''श्यामल रंगों की नदियों में लाल रंग बह आए तो क्या कुछ, करोड़ कायर गणना का जीवन-गढ़ ढल जाए, तो क्या?''

क्रान्ति का इतना स्पष्ट बोध, किस छायावादी में था? कितने मार्क्सवादियों में आज यह साहस और समझ है कि वे माखन लाल चतुर्वेदी की तरह यह समाज के सम्मुख कह सकें?

बदलाव की बेचैनी और ग़ुस्से के अभाव का मतलब है कि व्यक्ति में मानवप्रेम या जन करुणा नहीं है। जन करुणा से द्रवित होकर ही राम ने कहा था–

''निशिचर हीन करों महि,
भुज उठाए प्रण कीन्ह!''

माखन लाल चतुर्वेदी में यही राम और कृष्ण की जन-बंधुता थी। उनमें श्री कृष्ण के प्रति अराधना, आसक्ति और जो प्रेम का भाव है, उसका सामाजिक आधार है, मात्र वैयक्तिक विश्वास या केवल अमूर्त भक्तिभाव नहीं है अतएव उनकी ''वेणु लो गूंजेधरा'' की कविताओं में माधुर्य और मारकता एक साथ मिलती है। श्री कृष्ण को पूर्णावतार का मिथक दिया गया है क्योंकि वह प्रेम के देवता थे और पराक्रम के भी, कर्मयोगी भी, ज्ञानी भी, सर्वसम्पूर्ण मानव की परिकल्पना के प्रादर्श थे श्री कृष्ण। इसीलिए कवि उनसे प्रेरणा लेता है। श्री कृष्ण ने अर्जुन को दिखाया था कि सर्वाधिकारी पापी वर्ग (कौरव) तो पूर्व से ही मृतवत् हैं अतः उन्हे निष्काम भाव से, जनकल्याण हेतु मारना कर्मयोग है। माखनलाल इसी सनातन क्रान्तिकारी दृष्टि को मानते थे अतः अपने पत्र का नाम भी ''कर्मयोगी'' रखा था।

माखनलाल जी, प्रत्येक क्षण, प्रत्येक स्थिति में भारतेन्दु की तरह अपने आराध्य श्री कृष्ण को ध्यान में रखते हैं, उनके बिम्ब के बल पर उन्हें अपने कर्म-अकर्म समर्पित करते हुए, एक उच्च मानसिक अवस्था प्राप्त करते हैं। विलासपुर, मध्य-प्रदेश में, कारागृह में बन्द होने पर कहते हैं:

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

"अरे इसी कुटिया में हूँ प्यारे देते हो धोखे
दीख नहीं पड़ते, छाने हैं, गिन गिन सभी झरोखें।"

ये जो दिव्यसत्ता के आभास हैं, वे चतुर्वेदी की कविता में खूब हैं किन्तु यहां अध्यात्म से भी क्रान्ति और संघर्ष की प्रेरणा ली गई है यानी विश्वास के यहां विप्लवी प्रयोग हैं।

माखन लाल जी ने गांधी जी में श्री कृष्ण का बिम्ब देखा था क्योंकि श्री कृष्ण तो कारागार में ही जन्मे थे। और उन्होंने ग्रामीण बनवासी पशुपालकों को संगठित कर अत्याचारी राज्यशाही के प्रतीक कंस का वध किया था और यादवों में एक प्रकार के गणतंत्र की स्थापना की थी। अतएव कृष्ण, भारतीय स्वाधीनता संघर्ष के प्रेरक पौराणिक पुरुषोत्तम थे। माखनलाल जी के लिए कृष्ण सर्वस्व थे, प्रेरक और प्रेम के अवलम्ब—

"घुलते आराधन केन्द्रों पर घुलते से इन्द्रधनुष लटके
यह कैसी आंख मिचौनी है, किसने मूंदी, क्यों खेल रहा?"

स्पष्ट है कि माखन लाल जी का यह अध्यात्म छायावाद और रहस्यवाद' से भिन्न है। यहां आराध्य के प्रति विश्वास तथा तज्जन्य अनुभूति सच्ची है जबकि अधिकांश छायावादियों की कविता में, कल्पनात्मक आभास हैं, अनुभूति की निविड़ता मध्यकालीन सन्तों में थी और परम्परया वह चतुर्वेदी में भी है क्योंकि उदात्त चतुर्वेदियों का जीवन कृष्णमय होता है। मिथक उनके लिए मनस्तात्विक वास्तविक बन जाता है। अतः माखनलाल भयंकर के बीच रमणीय मधुरता की सृष्टि कर सके हैं।

माखन लाल जी के अलौकिक के लौकिकीकरण में अज्ञेय ज्ञेय बन जाता है:

"चिड़ियाँ चहकीं नभ भू पर
चूड़ियाँ चहकीं वसुधा की।"

माखन लाल जी ने अपना एक क्षणवाद भी प्रस्तुत किया था जो स.ही. वात्स्यायन अज्ञेय के क्षणवाद से भिन्न है। अज्ञेय के क्षणवाद में पूर्वापर क्रम नहीं है, न क्षण का प्रवाह से सम्बन्ध स्थापित किया गया है किन्तु माखन लाल में संनातन और सामाजिक में संगति स्थपित की गई है। चतुर्वेदी में सनातन भारतीय चेतना, दर्शन या संस्कार का राष्ट्रीयकृत रूप है अतः उनके क्षण और प्रवाह में एकान्विति है:

"क्षणिक के आवर्त्त में उलझे महान विशाल संस्कृति की बांह में बंध गए युग दयुतिमान—

कल्पना की ललित रेशम डोर
मिलाकर अपने सुकोमल छोर
बांधने आई अमर की शक्ति
भूल आई स्वार्थ की अनुरक्ति
रिक्त सी भर उठी, क्षण के महल
और जी से कह उठी, तू "बहल!"

कहीं-कहीं कवि ने अपने विशिष्ट प्रयोग किए हैं, जिनका आकलन-संकलन अभी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

शेष है :

> "इस तरह ढक्कन लगाए रात ने
> इस तरफ या उस तरफ कोई न झांके।
> चल चल चल, छोरियों सा न मचल।

अपनी सामयिक सनातन अंतदृष्टि से चतुर्वेदी जी ने समझ लिया था कि हमारे राष्ट्र का सबसे बड़ा अंतविरोध कलह है। कलह ही क्रान्ति का सबसे बड़ा रोड़ा है :

> "इस तरह ढक्कन लगाए रात ने
> इस तरफ या उस तरफ कोई न झांके।
> चल चल चल, छोरियों सा न मचल।

अपनी सामयिक सनातन अंतदृष्टि से चतुर्वेदी जी ने समझ लिया था कि हमारे राष्ट्र का सबसे बड़ा अंतविरोध कलह से। कलह सी क्रान्ति का सबसे बड़ा रोड़ा है :

> "कलह स्वातंत्र्य से बोला
> समय में शक्ति में मेरा बसेरा
> भले अंग्रेज जाएं किन्तु में हूँ
> समूचा देश मेरा, सिर्फ मेरा !!"

माखन लाल जी में वर्ग चेतना भी थी यो गांधीवादी वर्ग सामन्जस्य के समर्थक थे। आज भी वे सर्व वर्ग समभाव का प्रचार कर रहे हैं किन्तु चतुर्वेदी जी कहते हैं :

"स्वदेशी बहिष्कार की लहर, बीस साल पहले जब इस देश में आई थी, तब भी वस्त्र व्यवसायियों एवं मिल-मालिकों ने देश का साथ नहीं दिया।" (रचनावली जिल्द, १०, पृष्ठ ५७)।

ग्रन्थावली, जिल्द, ६ में एक कविता की ऐसी व्यंग्यमय पंक्तियां भी हैं :

> "महलों पर कुटिया को वारो
> पकवानों पर दूधदही
> राजपथों पर कुंजे वारों
> मंचों पर गोलोकमही ।।

चतुर्वेदी जी के लेखन में पारदर्शी-व्यक्तित्व की छल-कपट से रहित, सहज निसर्ग-मानव के अस्तित और व्यक्तित्व की वकालत की गई है। उनकी कविता में आत्म निर्वासन के विरुद्ध अपनत्व की संवेदना है और इस मानवीय प्रेम, लगाव और आत्मीयता को ही वह मुक्ति या स्वतंत्रता का फल मानते हैं इसी मानवत्व का ह्रास हुआ है। आज, यदि माखनलाल चतुर्वेदी होते तो वह सामाजिक क्रान्तिकारियों के साथ होते।

बचपन में मेरे ऊपर माखनलाल चतुर्वेदी की "कैदी और कोविल" कविता का प्रभाव इतना पड़ा था कि स्वप्न में जब मैं कारागार में पहुंच जाता तब कुएं से पानी खींचते देशभक्त कैदियों को देखता और यह कि उन्हें ताकता हुआ कवि उससे यह अर्थ निकालता कि राष्ट्रवादी कारावासी ब्रिटिश गर्व का कूप खाली कर रहे हैं : "खाली करता हूँ ब्रिटिश

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अकड का कुआ।"

और कारागृह के एकाकीपन, स्वतंत्रता के मार्ग के अवरोधों से उत्पन्न हताशा, साथियों में से बलिपथ अनुगामियों का बलिदान, अनन्त प्रतीक्षा और घिराव के मध्य, कोयल की कूक......और जब वह चुप रह जाए तो उससे मनुहार......"मतवाली कोयल बोलो तो।"

इस कविता में मर्मवेध के कई कारण हैं।–तपस्वी कवि की वाणी में, वक्रोक्ति के बिना भी शब्द अपने आकर्षण से नहीं, अपितु उस दहन को सम्प्रेषित करने के कारण प्रिय लगता है, जिसमें वह पक-पक कर निकला है अतएव कविता मात्र अर्थ से नहीं, उस लपट (फ्लेयर्स) से, उस आभा से, उस झुलसाव से भी हृदय-स्पर्शी बनती है जिसके कारण कविमानस वर्षों तक उबलता रहा है।

द्वितीय कारण है, कवि द्वारा दो विपरीत ध्रुवों की एक साथ उपस्थिति। एक ओर हैं राष्ट्रीय बलिपथ के कंटकों–आघातों, अकेलेपनों और अन्तहीन यातनाओं के अनुभव हैं, साम्राज्यवादी शत्रु का आमना-सामना है, देश–शत्रु पर उफनता क्रोध है और दूसरी ओर इसी जंग और जूझ के साथ, अन्तः सलिला या सदानीरा की तरह प्रवाहित आदिमराग है जो आराध्य को आलम्बन बना कर बड़ी कसक के साथ व्यक्त होता है, इश्के मुल्क और इश्के मजाजी। हक़ीक़ी सब एक साथ।।

इस अनेकस्तरीयता के कारण व्यक्ति अंतर स्थित सामाजिक राष्ट्रीय चैतन्य और रागात्मक स्रोतों को एक साथ छूने के कारण, एक साथ अस्तित्व के कई तार छेड़ने के कारण, समकालीनता और सनातनता को एक साथ संवेदित उत्तेजित प्रदीप्त कर सकने की शक्ति के कारण माखनलाल चतुर्वेदी की कविता एकायामी देशभक्ति की साधारण रचनाओं को पीछे छोड़ जाती है।

तीसरा कारण है, पाठक और श्रोता का तादात्म्य। उसे चतुर्वेदी जी की कविता अगम्य कृत्रिम और दुरारूढ नहीं लगती। वहां सम्प्रेषण की समस्या ही नहीं है क्योंकि कवि, जन साधारण का ही एक अंग है, उन्हीं के साथ है, हमदम, हमसफर है और इसलिए वह उन्हीं के मुहावरे की ज़रा-सी सफाई मंजाई कर ऐसा रचाव करता है कि सामान्य कार्यकर्ता आम आदमी भी समझ लेता है। अतएव माखनलाल जी आमोखास को सामान्य सहृदय और विशिष्टों–विद्वानों, दीक्षित पाठकों, सबको एक साथ प्रभावित करते हैं। उनकी वाणी जन-जाह्नवी है, "कीरति भणति भूति भल सोई सूरसरि समय सब कर हित होई।"

जहां तक गद्य का प्रश्न है. चतुर्वेदी जी प्रमुख गद्य-निर्माता थे। वह प्रसिद्ध प्रभावक वक्ता थे और उनके उद्य में जो प्रवाह और वाग्वैदग्ध्य है वह अनुपम है। "साहित्यदेवता" इस गद्य का प्रतिनिधि उदाहरण है।

जनाब रघुवरसहाय फिराक छायावादियों की काव्यभाषा के विरोधी थे किन्तु वह माखन लाल चतुर्वेदी की भाषा के प्रशंसक थे, विशेष कर गद्यभाषा के। यह बात आशचर्यजनक लग सकती है किन्तु फिराक साहब ने यह साफ देख लिया था कि चतुर्वेदी के गद्य में सहज रवानी और मुहावरादानी है, उसमें अनावश्यक तत्समीकरण नहीं है न जीवन में व्यवहृत भाषा से परहेज़ है। छायावादी गद्य में व्यहृत भाषा का अतिक्रमण है,

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(निराला के चतुरी चमार आदि अपवाद) "वे घास पर बैठे हैं" जैसे व्यवहृत प्रयोग के स्थान पर "तृणराजि पर संशोभित हैं" जैसी शब्दावली का प्रयोग करते थे। जयशंकर प्रसाद का गद्य इस प्रवृत्ति का उदाहरण है। अतएव फिराक साहब कहते हैं—"माखनलाल चतुर्वेदी के लेख देशवासियों में ग़ुलामी के खिलाफ जोश भर देते थे। उनके लेखों के पढ़ने से ऐसा मालूम होता है कि आदि शक्ति, शब्दों के रूप में उतर रही है। यह शैली हिन्दी में ही नहीं भारत की दूसरी भाषाओं में भी विरले ही लोगों को नसीब हुई। मुझ जैसे हजारों लोगों ने अपनी भाषा और लिखने की कला, माखनलाल जी से ही सीखी (रचनावली, भाग ९, पृष्ठ १२)।"

चतुर्वेदी जी के लेखन में गद्य में प्रायः अद्वैत-सा स्थापित हो जाता था, विशेषकर व्यंग्य और उखाड़ू प्रसंगों में :

"बूट चाहिए, सूट चाहिए
कालर है और मेकटाय
केन चाहिए, चेन चाहिए
घड़ी सहित, फिर डेली चाय
देखो इन पर लिखा न हो, कहीं मेड इन हिन्दुस्तान
क्योंकि हमीं तो हैं इस बूढ़े भारत के विद्वान।"

यह रचना १९०७ ई. की है, लेकिन आजादी के बाद के आधुनिक यानी पाश्चात्य जीवनविधि के नक्काल वर्ग पर आज भी लागू होती है।

चतुर्वेदी जी शुद्ध देसी लेखक थे, उनमें विदेशी कलम नहीं है।

श्री माखन लाल चुतर्वेदी ने कार्यकर्ता की दृष्टि से, राष्ट्रीय आन्दोलन के समय छोटी-बड़ी सभी घटनाओं और व्यक्तियों पर टिप्पणियां और आलेख लिखे। उस महान स्वाधीनता संघर्ष का शायद ही कोई ऐसा पक्ष हो जिस पर चतुर्वेदी जी ने कलम न चलाई हो अतएव उनके लेखन को पढ़कर, उनके पत्र-आलेख, टिप्पण लेख, वक्तव्य सभी को पढ़ने से उस युग का साक्षात्कार होता है। युग परिवर्तनकारी प्रतिनिधि लेखक की यही विशेषता होती है कि वह अपने समय की मुख्य हलचलों, हरारतों और हंगामों को प्रतिलिबिम्बित करता है और तभी वह बड़ा लेखक बनता है।

प्रेमचन्द और माखन लाल चतुर्वेदी के लेखन की सर्वोच्य उपलब्धि है, उनके द्वारा राष्ट्रीय उथलपुथल का सम्पूर्ण प्रतिबिम्बिन। किसी इतिहास या इतिवृत्त से राष्ट्रवादी संघर्ष का ऐसा जीता-जागता, बोलता, धड़कता प्रामाणिक और संवेदित स्वरूप नहीं बनता जो प्रेमचन्द और माखनलाल चतुर्वेदी जैसे हिन्दी लेखकों के लेखन द्वारा बनता है जैसे उन्होंने उस युग की सम्पूर्ण सजीव प्रतिमा गढ़ी हो जिसमें उस काल के सभी क्लेश, कलरव, असंगतियां और संगतियां, उच्चताएं और अवरोध, साफ़-साफ़ दिखाई पड़ते हैं गोया इन लेखनों ने उस युग का यथार्थपरक भावनात्मक भूगोल लिख दिया हो।

श्रीयुत पाखन लाल चतुर्वेदी जी ने कविता, लेख, सम्पादन के सिवा नाटक भी लिखे

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हैं, उनका "कृष्णार्जुन युद्ध" नाटक मुझे अभी भी याद है कि किस तरह बचपन में इस नाटक के श्रीकृष्ण और अर्जुन एक दूसरे के सम्मुख तमतमाए, धनुष और चक्र लिए खड़े हैं। अंततः नारद के हस्तक्षेप से वह युद्ध बन्द हुआ। मेरे मन में तब भी यह प्रश्न उठा था कि चतुर्वेदी जी ने यह नाटक क्यों लिखा? अब भी यह प्रश्न उठता है कि इसे क्यों लिखा गया था?

मेरा अनुमान है कि चतुर्वेदी जी ने प्रत्येक कार्यकर्ता की तरह यह देखा होगा कि विदेशी व्यवस्था का विरोध हो या स्वदेशी शोषक व्यवस्था का, सर्वत्र क्रान्ति में कलह ही बाधक बनता है और महाभारत के युद्ध में जनपक्ष की पाण्डवविजय तभी संभव थी जब व्यक्तिवादी दर्प या घमंड को लेकर संग्राम सूत्रधार श्री कृष्ण और सर्वोच्च शूरवीर अर्जुन में कलह न हो। माखनलाल चतुर्वेदी कितने दूरदर्शी कवि और लेखक थे!

अन्त में यह कि माखनलाल चतुर्वेदी पर अभी तक जो समारोहपरक व्यक्त किए गए हैं, उनसे उनका महिमामंडन तो हुआ है किन्तु आवश्यकता उनके लेखन के मूल्यान्वेषण की है और मूल्यवक्ता की खोज के लिए उनके गद्य का विशद विश्लेषण होना चाहिए जो नहीं हुआ। कविता को भी अभी ऊपरी तौर पर ही समझा गया माना है। अतएव यहां यही कहना है कि कोटियों या प्रवृत्तियों के शिकंजे में बलात् कसे बग़ैर श्री माखन लाल चतुर्वेदी के व्यक्तित्व और कृतित्व को परखा जाना चाहिए। कृतियों में लेखक का व्यक्तित्व बोलता है और व्यक्तित्व, व्यापक सामाजिक सन्दर्भ में द्वन्द्वात्मकता से, व्यक्ति की टकराहटों से बनता है, अतएव चतुर्वेदी जी के लेखन के मूल्यांकन की, पुनः पुनः मूल्यांकन की जरूरत है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मुक्तिबोध की काव्यदृष्टि

श्री गजानन माधव 'मुक्तिबोध' ने अपनी काव्य दृष्टि के विषय में लिखा है। उसमें एक तो उन्होंने "ज्ञानात्मक संवेदन" और 'संवेदनात्मक ज्ञान" की चर्चा की है और दूसरे अतिकल्पना या फैंटेसी की। ज्ञानात्मक-संवेदना का मतलब है "अज्ञानात्मक-संवेदना" संभव है। दूसरे शब्दों में, संवेदना के आगे ज्ञानात्मक-विशेषण जोड़ना इसीलिए ज़रूरी है क्योंकि मुक्तिबोध में बौद्धिकता-विचारशीलता और चिचारधारात्मकता को इन के अहसास या भावना से पृथक नहीं कर सकते। उनका सोच विचार, उनके अहसास के साथ एकमएक रहता है जबकि अबौद्धिक-अहसास की प्रधानता मात्र भावुक प्रकार के सृजन की विशेषता होती है, यथा भावुकता भरे गीतों में, लोक-साहित्य में। अतएव मुक्तिबोध की काव्यदृष्टि का प्रथम वैशिष्ट्य यह है कि उनकी कविता में विचार और मार्क्सवादी विचारधारा का संग्रथन है। यों उनके विचार प्रवाह में अन्य चिंतन धाराएं भी हैं अतएव उनके संवेदन में, उनकी भावनाओं–इन्द्रियज अनुभवों या एन्द्रिय अनुभूतियों में, उनकी फीलिंग्स और इमोशन्स में चिंतन, मनन और विचारधारा का मिश्रण है। यही कारण है क उनके अतिकल्पना प्रधान वर्णनों में प्रारंभ से अंत तक एक सुनिश्चित सामाजिक-परिप्रेक्ष्य मिलता है, एक शोषण, अत्याचारविहीन समाज की परिकल्पना विघमान है। अतः वे प्रायः 'स्वर्ण कमल' 'सबेरा' जैसे शब्दों का प्रचार करते हैं जो प्रगतिलदी कवियों की प्रवृत्ति रही है।

यह संवेदनात्मक विश्व बोध, समाजबोध का ज्ञानात्मक संवेदन, अपनी जटिलता के कारण, रहस्यमय सा लग सकता है क्योंकि जहां जिज्ञासा होती है, अन्तहीन जानने की इच्छा, वहाँ विचार सूत्रों में उलझाव, सोच के प्रवाह में चिंतन की धाराओं की एक दूसरे की काट और उहापोह को जन्म देती दार्शनिकता और सैद्धांतिकता के क्रम में, प्रातिभ आलोकों या कौंध का अनुभव भी होता है। ऐसे में कवितात्मक-अभिव्यक्ति एक रहस्यमय रूपाकार की तरह प्रतीत होती है। मुक्तिबोध ने 'अंधेरे में' शीर्षक कविता में, इस रूपाकार को खड़ा किया है:

१. प्रतिपल कांपता रहता अरुणा कमल एक...(अंधेरे में)
"...वह रहस्यमय व्यक्ति
अब तक न पायी गयी मेरी अभिव्यक्ति है
पूर्ण अवस्था वह
निज संभावनाओं, निहित प्रभाओं, प्रतिमाओं की
मेरे परिपूर्ण का आविर्भाव

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हृदय में रिस रहे ज्ञान का तनाव वह
आत्मा की प्रतिमा!"

काव्य दृष्टि की यह रहस्यमयता, तिलिस्मी होने पर भी, छायावादी रहस्यवाद से भिन्न है क्योंकि यहां रचना-प्रक्रिया की रहस्यमयता या जटिलता है, अज्ञेयता किंतु यहां किसी पारलौकिक सत्ता में विश्वास का प्रसंग नहीं है अतः रहस्य और रहस्यवाद भिन्न अनुभव हैं। मुक्तिबोध को अपनी चेतना की गति, कविता की धारणा-ध्यान-और उसकी अभिव्यक्ति का पूरा व्यापार रहस्यमय लगता है क्योंकि उसमें आकस्मिकता होती है, कविता की दशा में कौंध के साथ, अकस्मात्, विन्यास उदित होते हैं। अज्ञेय उपस्थिति को रूप देते हैं:

"...वह रहा धूम
तिलस्मी खोह में गिरिफ्तार कोई एक
...अस्तित्व जनाता, अनिवार कोई एक
...सुनाई जो देता पर नहीं देता दिखाई
...नुकीली नाक और भव्य ललाट है, दृढ़ हुन
कोई अनजानी, जानी-पहचानी आकृति
...अनखोजी निज-समृद्धि का वह परम-उत्कर्ष
परम अभिव्यक्ति
मैं उसका शिष्य हूं, वह मेरा गुरु है
...वह जगत की गलियों में घूमता है प्रतिपल
वह फटेहाल रूप
तड़ित तरंगीय वही गतिमयता
अत्यंत उद्विग्न ज्ञान तनाव वह
सकर्मक प्रेम की वह अतिशयता
परम-अभिव्यक्ति"
(अंधेरे में)

करव्य की अंतर्दृष्टि में यह जो परम-अभिव्यक्ति का ज्ञेय-अज्ञेय रूप उभरता है, उसमें यह बात शामिल है कि वह अभिव्यक्ति-पुरुष, मत, अंतर्मन तथा बाह्य-वास्तविकता के तिलस्म में ही नहीं घूमता रहता, अपितु वह फटेहाल, ज्ञान और संवेदन के द्वंद्वजन्य तनाव से ग्रस्त पीड़ित-दलित-शोषित जनसाधारण के मध्य भी घूमता है, लोगों के सुख-दुःख की ख़ैर-ख़बर भी लेता है। ज़ाहिर है कि यह जो काव्यपुरुष है, उसकी यहां अंकित जो प्रतिमा या बिम्ब है, वह स्वयं मुक्तिबोध की है यानी कवि अपने अंतःकरण के विचित्र लोक में स्वयं अपने को देखता है और वह स्वयं अपने को, अपने मनस्तत्व को, अपने विचार-प्रत्यूह को, रचना-प्रक्रिया को रहस्यमय और इसलिए आकर्षक पाता है, जिसके जादू से वह कभी छूट नहीं पाता और अन्त में कवि उसी का विस्तार हो जाता है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

यह तलस्पर्शी, गहन और जटिल काव्य दृष्टि मुक्तिबोध को विचार शून्य, भावुक और सपाट कवियों से भिन्न कर देता है और उन्हें ऐसा कवि बना देती है जो उच्च मेधा से संपन्न विश्लेषकों को भी चुनौती देता है अतएव मुक्तिबोध की कविता, विश्लेषण का अतिक्रमण कर एक रहस्य के रूप में प्रतीत होती है।

मुक्तिबोध की काव्यदृष्टि का दूसरा पटल है, उनकी अतिकल्पना या फैंटेसी। यह सृजनात्मक कल्पना और ललित-कल्पना या फैंटेसी से कुछ भिन्न होती है। छायावादियों ने सृजनात्मक कल्पना का प्रयोग किया था। कोलरिज के अनुसार सृजनात्मक कल्पना परस्पर विरोधी अंशों या चेतना की गतियों को एकान्विति (synthesis) देती है। इसके विपरीत अतिकल्पना में समन्विति अनिवार्य नहीं है। मसलन्, मुक्तिबोध की "ब्रह्म राक्षस" एक सुगठित रचना है, दिमाग़ी गुहान्धकार का ओराग उटंग" भी किंतु "अंधेरे में" में अवयवों का गठन नहीं है। वहां आदि तो है अन्त अनिश्चित है। मुक्तिबोध ने स्वयं माना है कि वे कविता का अन्त नहीं कर पाते। कारण यह था कि वे यथार्थ का, सामाजिक-राजनैतिक हालात और हादसों का, शक्तियों के द्वंद्व और टकराव तथा आप बीती का संकुल वर्णन करते हैं। वे मात्र बिम्बधर्मा कवि नहीं, वर्णनधर्मा कवि भी हैं अतः वर्णन की प्रक्रिया में वे स्थिति का नाटकीकरण करने लगते हैं तथा स्थितियों के रूपकीकरण में उनकी अतिकल्पना वर्ण्य विषय के पटल पर पटल खोलती चली जाती है: अतः कविता के आदि-विकास-चरमसीमा-उतार और अन्त या ऐसा ही कोई संगठित क्रम अथवा अन्त की पूर्व योजना निभ नहीं पाती और लंबी कविता, एक विशद कवितात्मक नाटक या परिदृश्य की तरह प्रतीत होने लगती है।

मुक्तिबोध ने इस अतिकल्पना या मनमानी 'क़ुव्वते-मुतख़ैउला' के क्रम पर लिखा है कि किस तरह सर्वप्रथम कवि के परिज्ञान मे वर्ण्यविषयों का आविर्भाव होता है। पुनः उन आलम्बनों पर प्रकृति-समाज-राजनीति-इतिहास, भूत वर्तमान, भविष्य-व्यक्ति-समष्टि और इनके द्वंद्व आदि विषयों पर चिंतन चलता रहता है, कारण कार्यप्रक्रिया सक्रिय हो जाती है और अंत में वर्ण्यवस्तु के विषय में अतिकल्पना या फैंटेसी अभिनव रूप रचना करती है।

फैंटेसी या अतिकल्पना का कुछ सादृश्य शिशु-मुक्त-कल्पना में मिलता है। इसमें शिशु किसी भी वस्तु को विस्मय से देखता है क्योंकि उसमें से नए-नए आकार बनने लगते हैं। पुनः फैंटेंसी में स्वप्न या दुःस्वप्न का भी सादृश्य होता है जैसा कि "अंधेरे में" में फैंटेसी दुःस्वप्नविधि पर प्रयुक्त हुई है। दुःस्वप्न की दशा में कमहीन रूपाकारों का आवागमन होता है। कविता में प्रयुक्त इस विधि' में कवि सचेत होकर दुःस्वप्न को ज्ञानात्मक संवेदन अथवा बुद्धि के हस्तक्षेप से तोड़ता चलता है और इसी ज्ञानात्मकता के कारण कविता में विस्तार-बिखराव-क्रमहीनता क़ाबू में रहती है लेकिन पूर्णतः नहीं। अतः कवि को सदा यह कठिनाई रही है कि वह कविता को कहाँ समाप्त करे क्योंकि उसकी मानसिक सक्रियता तथा उर्वरता इतनी अधिक है कि वह अति कल्पना के आवेश

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

या आच्छादन (पज़ैशन) को रोक नहीं पाता और कविता बढ़ती चली जाती है और वह यथार्थ का रिपोर्ताज बन जाती है। फैंटेसी के सिवा कवि विचारणा का भी साथ ही हाथ इस्तेमाल करता है अतः मुक्तिबोध मात्र फैंटेसी के कवि नहीं, विचारों के भी कवि हैं। वे परत-दर-परत चेतना के पटलों को स्वयं खोलकर बताते हैं–

"स्वप्न के भीतर स्वप्न
विचारधारा के भीतर और अन्य
सधन विचारधारा प्रच्छन्न
काव्य के भीतर एक अनुरोधी विरुद्ध विपरीत नेपथ्य संगीत!!
मस्तिष्क के भीतर एक मस्तिष्क, उसके भी अंदर एक और कक्ष, कक्ष के भीतर एक गुप्त प्रकोष्ठ और कोठे के सांवले गुहांधकार में मज़बूत संदूक" !

यथार्थ अथवा आत्म विश्लेषण के प्रसंगों में मुक्तिबोध कविता कोमात्र गद्यात्मक बना देते हैं। लगता है, निबंध का कोई भाग पढ़ रहे हैं किंतु शीघ्र ही वे पुनः अपनी प्रिय मुक्त कल्पना में रमकर नए रूपाकार रचने लगते हैं और पाठक आश्चर्य से आतंकित होकर पढ़ता चल चता है और अंत मे पुनः पढ़ने, समझने और सोचने की प्रक्रिया में पड़ जाता है गोया कविता किसी तिलस्म में बदल गई है या अनबूझ पहेली में।

सामाजिकों पर प्रभाव की दृष्टि से मुक्तिबोध की कविता एक दहशत पैदा करती है क्योंकि कवि महोदय सामन्ती पूंजीवादी व्यवस्था को तिलस्म की तरह पेश करते हैं। तिलस्म जटिल, विस्मयकारक, विचित्र तथा भयानक होता है अतः मुक्तिबोध की काव्य दृष्टि का परिचायक एक केंद्रीय वाक्य है, "भयानक"। वे पुनरावृत्ति की परवाह न कर इस शब्द के सभी पर्यायों का बार-बार प्रयोग करते हैं अतः मुक्तिबोध की कविता, छायावाद के विपरीत सौंदर्य-समरसता-सामंजस्य और आनंद तथा प्रेम के स्थान पर, ललित कल्पना के स्थान पर, ज़िंदगी की हक़ीक़त की डरावनी तस्वीर पेश करती है जिससे रस नहीं, विष पैदा होता है। मनुष्यविरोधी वर्गों और उनकी पैशाचिक हरकतों पर आक्रोश उपजता है और समूचे सामाजिक, राजनैतिक ढांचे को बदल देने का बोध और आवेग पनपता है।

अतएव उनकी जटिल काव्य दृष्टि का लक्ष्य सामाजिक है, व्यक्तिवादी नहीं। यही कारण है कि वे "नई कविता" की व्यक्तिवादी धारा (अज्ञेय तथा परिमल ग्रुप) को सामाजिक क्रांतिकारी मोड़ दे सके जिसकी परिणति उनकी सर्वोच्च कृति "अंधेरे में" हुई है जिसमें मुक्तिबोध की समग्र काव्य दृष्टि फलवती हो सकी है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

साठोत्तरी कविता—एक सिंहावलोकन

साठोत्तरी या मेरे शब्दों में समकालीन कविता को, मैंने, ''समकालीन कविता की भूमिका'' शीर्षक पुस्तक में विस्तार से निरूपित किया था और वहां मुख्य बिन्दु यह था कि रूप में गद्य-कविता या ''प्रोज़पोयट्री'' होने पर भी उसमें परिवर्तन हुआ और जहाँ वैयक्तिक और व्यक्तिवादी परिप्रेक्ष्यों का बाहुल्य था, द्वितीय विश्वयुद्धोपरान्त मूल्यसंशय, अस्तित्व-चिंतन, अनिश्चय, अनास्था और अन्तर्द्वन्द्व था, वहाँ समकालीन या साठोत्तरी कविता में सामाजिक परिप्रेक्ष्य की प्रधानता से सामाजिक असंगतियों और सामन्ती पूंजीवादी व्यवस्थाजन्य विकृतियों के विरुद्ध विद्रोह, आक्रोश और असंतोष की उग्र अभिव्यक्ति अधिक होने लगी।

इस अन्तर को अज्ञेय-भारती-कुँअरनारायण—नरेश मेहता और जगदीश गुप्त की ''नयी कविता'' तथा राजकमल चौधरी के ''मुक्ति प्रसंग'' धूमिल की ''संसद से सड़क'', लीलाधर जगुड़ी के ''नाटक जारी है'' जैसी रचनाओं में साफ़ देखा जा सकता है। इस साठोतरी कविता में ''भूखी पीढ़ी'' तथा अन्य किसिम-किसिम की कविताओं के उन अनेक ग्रुपों या प्रकारों की कविताओं को भी समेंट सकते हैं जिनका मूल स्वर सामाजिक विक्षोभ था और जिनकी जाने या अनजाने व्यंजना यह थी कि बुनियादी बदलाव होना चाहिए, उत्पादन और वितरण की सामन्ती और पूंजीवादी प्रणाली में परिवर्तन वांछनीय है और ऊपरी सुधारों-उपदेशों राष्ट्रभक्तिकी अपीलों और शुभकामनाओं से अथवा आत्मरति—मूल्यसंशय-आत्मकर्तन-आत्मनिर्वासन, अनिश्चय और अनास्था से न समाज का कायाकल्प होगा न व्यक्ति का। सामाजिक परिप्रेक्ष्य, के इस साठोत्तर रचना प्रवाह में अस्तित्व की गहन चिन्तापरक बारीक बयानी अथवा पुस्तकीय चिन्तनात्मक बौद्धिकता की जगह, सपाटबयानी का दौर आया तथा क्षण में कोंधते बिम्बों को संक्षिप्त कविता में बांधने की जगह, सामाजिक यथार्थ की सीधी झांकियाँ विस्तार से दिखाने की प्रवृत्ति बढ़ी तथा कविता का स्वर अनुचिन्तनात्मक की जगह भंजनात्मक होता गया।

यह स्मरणीय है कि प्रगतिवादी प्रगतिशील कवियों के वृत्त के कुछ रचनाकार यथा, शमशेर केदारनाथ अग्रवाल, मुक्तिबोध-त्रिलोचन, नागार्जुन आदि में, विशेषकर शमशेर-केदार और मुक्तिबोध में, सामाजिक परिप्रेक्ष्य के साथ-साथ कविता को प्रचारपंथी या नारात्मक कविता से पृथक् करने की प्रवृत्ति थी अतएव ''नयी कविता'' की सामान्य कोटि में इनकी गणना होने पर भी इनकी रचनाओं की अंतर्वस्तु अज्ञेय तथा परिमल ग्रुप के कवियों की अंतर्वस्तु से भिन्न थी। मैं समझता हूँ कि अंतर्वस्तु जिसमें कवि के दृष्टिकोण

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अनुभूति या भावना, मूल्यबोध और ममत्व के लक्ष्य आदि तत्व आते हैं, के आधार पर ही "नयी कविता" और "साठोतरी समकालीन कविता" का पृथक्करण संभव है क्योंकि नवीनता, प्रयोगपरता, भाषा और बिम्बों की अपूर्वता आदि तत्व तो सामान्य तत्व हैं।

अब १९८९ में स्थित होकर, जब १९६२ के बाद की कविता के विकास का विहगावलोकन किया जा रहा है तब कवितात्मक दृष्टि से, कुछ भेदक बिन्दु ध्यान में उभरते हैं, प्रथम यह कि यह सपाटबयान कविता वक्तव्य प्रधान कविता थी। बयान (स्टेटमेन्ट) या अभिधात्मक कथन से भिन्न करने के लिए धूमिल ने वक्तव्यता के पूर्व "सार्थक" शब्द जोड़ा था। सार्थकता अथवा विचाराधात्मकता, विद्रोही और क्रान्तिकारी दृष्टिबिन्दु, साम्यमूलक संवेदना, निजता के स्थान पर सामुदायिकता, ये सब चीज़ें, वक्तव्यता या अभिधेयता को "सार्थक" बनाती थी। इसका यह अर्थ नहीं कि रचना के अन्य रूप प्रचलित नहीं थे। मसलन् लीलाधर जगूड़ी में सूक्ष्म या व्यंग्यपरक सूक्तियों का प्रयोग ख़ूब मिलता है।

यह समझना भी ग़लत होगा कि वैयक्तिक परिप्रेक्ष्य के स्थान पर सामाजिक और उसमें भी मार्क्सवादी बोध और तज्जन्य वैषम्य विरोधी विक्षोभ की प्रधानता के कारण सप्तमदशक और उसके बाद अन्य कवितात्मक धाराएँ सूख गईं और हिन्दी कविता एक प्रवाह परक हो गई। वस्तुतः दृष्टि-वैविध्य समाप्त नहीं हुआ क्योंकि साठोत्तरकाल में एक ओर धूमिल हैं, दूसरी ओर श्रीकान्त वर्मा तथा कैलाश वाजपेयी और उनके अलावा अज्ञेय तथा परिमल वृत के प्रायः सभी कवि तब से अब तक लिखते रहे और अभी भी लिख रहे हैं। उनमें सर्वेश्वर और रघुवीर सहाय प्रगतिशीलों या क्रान्तिकारियों के साथ हो लिए।

अब यह भी देखा जाना चाहिए कि वैयक्तिक परिप्रेक्ष्य के कवियों में सर्वत्र अंतर्मुखता नहीं है। "नयी कविता" के कवियों मे जहाँ-तहाँ सामाजिक सरोकारों को व्यक्त किया गया है यो संमग्रतः वे विचारधारात्मक दृष्टि से साम्यवाद विरोधी थे और हैं। सामाजिकता या भावी समाज का उनका अपना विकल्प था और अस्तित्व चिन्ता के साथ सामाजिक चिन्ता के सूत्र भी अपने ढंग से 'नयी कविता' में पिरोए गए हैं जिन्हें अब पहचाना जाना चाहिए। वस्तुतः वास्तविकता का दबाव ऐसा होता है, यथर्थ की व्यक्ति पर पकड़ ऐसी होती है कि जाने या अनजाने, निजी लगने वाली कविता या गीति (लिरिक) में भी वास्तविकता व्यंजित हो जाती है अतः तथाकथित व्यक्तिवादी नयी कविता में भी बाह्य सामाजिक यथार्थ की बुनावट है। शब्द की बुनावट तो देखी गई किन्तु यथार्थ के इस अचेत या सचेत अनुवेध की अब तक अनदेखी की गई। जिसे "वैयक्तिक वैशिष्ट्य" कहा जाता है, उसमें यथार्थ का वैयक्तिक संश्लेष भी शामिल है–इसे समझा जाना चाहिए।

साठोत्तरी कविता का एक बड़ा भेदक तत्त्व उसकी भाषा और अप्रस्तुतविधान है। इस दृष्टि से यह गद्यात्मक है कि अज्ञेय हों या मुक्तिबोध, भारती हों या कुँअर नारायण, सभी प्रयोगशीलों और नवताप्रेमियों ने हिन्दी के ठेठपन को छोड़कर तत्समीकरण की प्रवृत्ति अपनाई है। मुक्तिबोध की काव्य भाषा एक बौद्धिक की पुस्तकीय भाषा है जिसे बीच-

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

बीच तद्भवीकरण से तोड़ा गया है परन्तु समग्रतः वह तद्भव प्रधान या ठेठ नहीं है जबकि साठोत्तरी कविता में अकविता, भूखी पीढ़ी की कविता तथा इन्क़लाबी तेवर की कविताओं में ठेठपन अधिक है, अभिधेयता और अनावरण, सपाटता और सतहीपन अधिक है। क्योंकि साठोत्तरी कविता सामाजिक परिवर्तन का अस्त्र बनी है अतः उसमें कला से कथ्य की ओर धावमानता है। कविता के नाम पर साठोत्तरी कविता में प्रचार या बयानबाज़ी, सृजन की जगह उद्वमन भी बहुत हुआ है। अब साठोत्तरी समकालीन संघर्षहील कविता में और ग़ैरकविता को अलग किया जाना चाहिए।

इस सम्बन्ध में सावधानी ज़रूरी है क्योंकि काव्य-मूल्यों की समस्या खड़ी हो जाती है। मसलन्–बीट कवि गिन्सवर्ग की "शोर" या हॉउल" (HOUL) शीर्षक कविता में समृद्ध अमरीकी समाज और सभ्यता पर आक्रमण था, जिसमें अभिधा या वक्तव्य की प्रधानता थी। इसी तरह ओमप्रकाश निर्मल की "कुछ हो रहा है" में वक्तव्य की विकटता थी। शमशेर जी ने निर्मल के कविता संग्रह "नींद टूटने से पहले" की भूमिका में लिखा कि "कुछ हो रहा है" में कविता नहीं है, भड़ास है जबकि "नींद टूटने से पहले" में कविता है। अब सवाल यह उठता है कि प्रत्यक्ष-अनावरण (एक्सपोजर) यदि कविता नहीं है तो कबीर की कविता को भी कवि की भड़ास कहा जा सकता है। मेरा मत है कि जहाँ वक्तव्य में वक्रता या बिम्बात्मकता या दोनों हों, वहाँ कविता आ जाती है। धूमिल, निर्मल, मनोज, सोनकर, अश्वघोष, नागार्जुन, हरीशमादानी, नचिकेता, देवेन्द्र कुमार, गोपाल कृष्ण कौल, नरेन्द्र मोहन, राजेश जोशी, नन्द चतुर्वेदी, अब्दुल बिस्मिल्लाह, नीलाभ, मान बहादुर सिंह, अनिल राकेशी, जयसिंह नीरज और अनेक युवा-प्रौढ़ कवियों में वक्तव्यता, सर्वत्र वक्रता के कारण कविता बनी है अथवा चित्रात्मकता के कारण और जहां यह नहीं है, वहां कविता बयानबाजी में बदल गई है।

इस सन्दर्भ में यह ग़ौर तलब है कि प्रायः अंतर्वस्तु (कन्टेन्ट) की जनोपयोगिता के आधार पर बयानों और वक्तव्यों को भी कविता मान लिया जाता है मसलन् नागार्जुन में सीधी प्रचारपंथी रचनाएं हैं जैसे "अब तो बन्द करो हे देवी, यह चुनाव का प्रहसन" और दूसरी ओर बाबा की "मंत्र" शीर्षक रचना है जिसमें प्रगतिशील अंतर्वस्तु और कला, दोनों की रोचक संगति है किन्तु बाबा जो लिख दे, सब कविता है, ऐसा रुझान चल पड़ा है क्योंकि नागार्जुन शोषक-समाज व्यवस्था के विरुद्ध जन प्रतिरोध के प्रतीक बन चुके हैं।

इसके दूसरे ध्रुव पर अशोक वाजपेयी के वृत के कवियों में षष्ठदशकीय नयी कवितावाली बुनावट मिलती है, परिष्कृति और कलात्मकता किन्तु शक्ति या फोर्स ग़ायब है। स्वयं अशोक वाजपेयी की क्रान्तिकारी "थीम" की कविता "जबरजोत" में विषय को छूकर छोड़ दिया गया है। शायद यह डर रहा हो कि जबरजोत किसान वर्ग की हिमायत ख़तरनाक हो सकती है। जो हो, परन्तु यह सच है कि कुछ समकालीन कवियों में बुनावट का आकर्षण है जैसे ऋतुराज, कुमारेन्द्र पारसनाथ सिंह, अजित कुमार, भारतरत्न भार्गव

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अमृता भारती, प्रभा खेतान, मालती जोशी, दिविक रमेश, रघुवीर सहाय, विश्वनाथ प्रसाद तिवारी, स्वदेश भारती, राजकुमार कुम्भज, कुन्तल कुमार जैन, विजय कुमार, माधुरी छेड़ा, शेषेन्द्र शर्मा, कीर्ति चौधरी, दिनकर सोनवलकर, भगवत रावत आदि में।

यह देखा जाए कि सामाजिक अंतर्विरोधों पर प्रत्यक्ष प्रहारक कवि प्रायः वक्रोक्तियों को अपनाते हैं और अप्रत्यक्ष वेधक कवि आकर्षक बुनाई की विधि को यों इन दोनों कोटियों में परस्पर वेधन होता रहता है तथापि प्रवृत्ति की दृष्टि से यह भेद सही जान पड़ता है।

यह भी ध्यान योग्य है कि जहां कवि सीधे जन संघर्षों से जुड़े हुए हैं, उनमें बुनावट कम है क्योंकि आन्दोलनात्मक कविता में बारीक बुनाई से बात श्रोता तक पहुंचती नहीं है, इसलिए संघर्ष से दूरी और निकटता या निमग्नता का नियम एक हद तक सही है कि जो जितना संघर्ष से दूर है, उसमें उसी मात्रा में बुनावट अधिक होती है क्योंकि संघर्ष से दूरी के कारण कवि, आराम से भाषा का तानाबाना तानकर तरह-तरह के प्रतिरूप उभार सकता है यों ऐसी बुनावटों के भीतर शक्ति और सच्चाई तथा संवेग की न्यूनता आ जाती है। पाश, कंचनकुमार, ज्वालामुखी जैसे कई कवि हैं जिन्होंने खतरनाक स्थितियों में अपने को डाला है और उसका असर उनकी वाणी पर पड़ा है अतएव जहां अनुचिन्तनात्मक और आन्दोलनात्मक, ये दो मोटे संवर्ग बन सकते हैं, वहीं आन्दोलनात्मक कविता में भी अहिंसात्मक और हिंसात्मक आन्दोलनपरक कविता की कोटियां बन सकती है। इसे मंच और मोर्चे की कविता भी कह सकते हैं। अब मन, मंच और मोर्चे की कविताओं में किन में कवितात्मकता अधिक है, किनमें कम, यह ब्योरेवार विश्लेषण का विषय है जो अभी तक नहीं हुआ है। अभी तो अभिमत विचारदारा अथवा अन्य आधारों पर प्रकट किए जाते हैं जो बदलते समाज में अपरिहार्य है तो भी कविता के आधार पर सभी प्रकार की कविता का मूल्यांकन होना अभी बाकी है जिसमें नयी कविता भी शामिल है।

साठोतरी कविता के विकास की दृष्टि से भी तीन सोपान दिखाई पड़ते हैं, प्रथम १९६२ से १९७५ तक। द्वितीय आपात्कालीन और तृतीय आपात्कालोत्तर कविता। प्रथम या सप्तमदशकीय दौर में कविता में आक्रोश की अभिव्यक्ति अधिक हुई, उसमें विद्रूप-व्यंग्य-विडम्बना-प्रहसन की विधियाँ भी आज़मायी गई हैं किन्तु कुल मिलाकर व्यवस्था पर सपाट कशाधात अधिक है। मज़ा यह है कि इसमें सशस्त्र दृष्टि (आर्मूडंविजन) के वेणुगोपाल, पारसनाथ सिंह, कुमार विकल, ज्ञानेन्द्रपति, ध्रुवदेव पाषाण जैसे वामपंथी क्रान्तिकारी चेतना के कवि भी है और क्रान्तिकारी व्यवस्थापरिवर्तक अलंकार (रिहटोरिक) रचने वाले दक्षिणपंथी कवि भी हैं। ये सभी व्यवस्थाविरोध के नाम पर एक से मुहावरे में जनपक्षधरता का प्रदर्शन करते हुए प्रतीत होते हैं किन्तु ग़ौर से देखने पर बलदेव वंशी, नरेन्द्र मोहन, डॉ. विनय और इनके वृत्त के कई कवि राजनैतिक दृष्टि से वामपंथी, क्रान्तिकारिता, मार्क्सवाद, वर्ग संघर्ष और जनक्रान्ति के विरोधी हैं। तथापि इस तरह के कवियों में भी, मानवप्रेम और प्रकृति को लेकर लिखी गई कई रचनाएँ मन मोहक हैं यथा डॉ. विनय का "पानी नदी के पास" शीर्षक संग्रह अथवा बलदेव वंशी के

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रकृति के परिदृश्य। सामान्य जनसहानुभूति के बावजूद जिनमें अधिक तीव्रता या तीक्ष्णता नहीं है, उनमें रामविलास शर्मा (इन्दौर वाले) की कविताएँ उल्लेख योग्य हैं क्योंकि वह वस्तुतः सुमित्रा नन्दन पन्त के समकालीन संस्करण से लगते हैं। केदारनाथ सिंह भी इसी कोटि के हैं किन्तु अधिक कलात्मक कवि हैं।

आपात्काल में, कविता, सप्तमदशकीय सपाट बवानी छोड़कर स्थितिवश, पुनः बारीक बयानीपरक हुई या होने को विवश हुई अन्यथा सत्ता और व्यवस्था पर प्रत्यक्ष आक्रमण से गिरिफ़्तारी का भय था। ऐसा लगा कि कविता आपात्कालीन अड़दब में पुनः अपने पारम्परिक मार्ग पर लौट आई जिसमें कविता संहार न होकर सममति होती है, संकेतात्मक और लक्षणाव्यंजना परक किन्तु सम्मति चाहे सम्मति हो या मित्र सममति अथवा आत्म-परामर्श, उसमें सूक्ष्मता अधिक होती है, शक्ति कम और यही आपात्कालीन कविता में दिखाई पड़ता है। सूक्ष्मता का यह हाल हुआ कि मेरी एक कविता 'शिलादेवी' जो एक प्रेम कविता थी, अनुवादकों को सत्ता-व्यवस्था विरोधी प्रतीत हुई और उसका और उसका अंग्रेजी में अनुवाद हो गया और वह अमरीका जा पहुंची।

संक्षिप्त आपातकालीन अवधि के बाद साठोत्तरी कविता में संघर्षशीलता के कारण सपाटता आने लगी यों सत्ता-व्यवस्था विरोधी मुख्य काव्य प्रवाह के बावजूद कविता में वैविध्य और कलाकौशल बढ़ा है। अब दूर की और गहरी मार का महत्त्व बड़बोली, सतही सन्निपाती प्रहार से अधिक है।

बहु विषय स्पर्शिनी प्रवृत्ति भी बढ़ी है और कविता में बच्चों, चिड़ियों तथा प्रकृति के अन्य दृश्यों की ओर निगाह गई है यों हिन्दी कविता में यह प्रचलन की तरह होता है। जिन दिनों चिड़ियों पर कविताएं छा रही थीं तो उसका चलन सा हो गया था। इसका अर्थ यह है कि कवि व्यक्तित्व, अभी भी स्वतंत्र नहीं हो पाया। वह प्रायः साहित्य में प्रचलन का अनुकरण करने लगता है। मुझे कई बार लगता है कि सत्ता-व्यवस्था के विरोध में जो लिखा जा रहा है, उसके लेखक बुनियादी तब्दीली के प्रति कितने सजग, प्रबुद्ध और सच्चे हैं ? कहीं यह वैसा ही क्रेज़'' तो नहीं है कि छायावाद चला तो सब छायावादी हो गए और प्रयोग की पेशकश हुई तो सब मन माने प्रयोग करने लगे।

जो हो, यह सच है कि बीसवीं शताब्दी के अन्त में जो कविता लिखी जा रही है वह समाज संरचना तथा सभ्यता को आमूलचूल बदल कर शोषण वैषम्य रहित मानव समाज रचने की प्रेरणा दे रही है जबकि आज़ादी के बाद जो समाज बना है, वह पूँजीवादी उपभोक्ता समाज बना है, बन रहा है जिसमें मुद्रा का महत्त्व है, सत्ता और प्रभाव का, मनुष्यता और मानवीय कला कविवादिका महत्त्व बहुत कम है। चारों ओर आत्मनिर्वासन-भ्रष्टाचार–पक्षपात–पूर्वाग्रह–प्रतिक्रियावादी हिंसा, अराजकता, अत्याचार और जंगली जनतंत्र है जिसमें छल-बल का राज्य है। देवेन्द्र कुमार की एक कविता, "जंगल का जनतंत्र'' (दस्तावेज़ जुलाई, १९८८ ई.) में इस स्थिति की भयंकरता का कलात्मक वर्णन है, अन्य अनेक कविताओं में भी जिन्हें विभिन्न पत्रिकाओं और संग्रहों ने देखा जा सकता है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हिन्दी कविता के परिसर में इक्कीसवी शताब्दी की आहट से कोई अन्तर नहीं आया है क्योंकि औद्योगिक व्यापारिक वैज्ञानिक-तकनीकी विकास के चमत्कारों के बावजूद, जनता का बहुमत अभी भी नंगाःभूखा है और उसका इस्तेमाल सत्ता की राजनीति के लिए हो रहा है। संसदीय जनतांत्रिक व्यवस्था, मध्यवर्गीय चेतना वाले नेतावर्ग की मूल्यहीनता और संग्रहशीलता के कारण असफल होती जा रही है और जन समस्याओं का समाधान न होने से जो जनाक्रोश, भूकम्प की तरह पल रहा है, कहीं-कहीं फूट भी रहा है वह कविता में तरह-तरह से प्रतिध्वनित हो रहा है। यह जो लोकमानस में अवरुद्ध घूर्णन है, क्रोध का संघनन, वह जन से तादात्म्य कर्ता कवियों को अपना माध्यम बना रहा है। अतः अव्यावसायिक लघुपत्रिकाओं तथा संग्रहों में प्रकाशित कविता में कहीं अंदरूनी और कहीं आन्दोलनी आकार लेता हुआ उपर्युक्त जनरोष या आम आदमी का गुस्सा और गम ख़ास आदमी की जमातों को अपने ज़लज़ले से भस्म करने की भंगिमा अपना रहा है अतएव अपनी शानः मानः अभिमान और सुख में सड़ रहे समुदाय के लिए आज की कविता एक चण्ड चेतावनी है, चिनगारी भी। भद्र समाज यदि भारतीय भाषाओं की साठोत्तरी कविता को दिशादशासूचक संरचना के रूप में नहीं समझेगा तो उसका नाश निश्चित् है, कविता जनमानस को विस्फोट के बिन्दु तक ले जाने का अपना काम करती आ रही है और वह जहां समझी जाती है, वहां वह परिवर्तन के इतिहास की गति को तीव्र कर रही है।

इसका यह अर्थ नहीं है कि कविता सिर्फ बदलाव की सरकशी और सरफरोशी कर रही है, उसके अन्य आयाम या प्रवाह नहीं हैं। हिन्दी कविता में पूर्व परम्परागत सभी सिलसिले जारी हैं। सामाजिक परिवर्तन की दीर्घता और द्वन्द्वों से ऊब कर, दुःखी होकर कई कवि सर्वातीत संवेदन में उतर कर आध्यात्मिक अतिक्रमण के आत्मिक अनुभव की रचनाएं दे रहे हैं, वीरेन्द्र कुमार जैन, महेन्द्र कार्तिकेय, अज्ञेय, नरेश मेहता, अमृता भारती आदि ऐसे ही कवि हैं। प्रेम एक स्थायी आलम्बन है। उसे कविता में सर्वत्र देखा जा सकता है। पूंजीवादी समाज में अलगाव या आत्मपराएपन या अजनबीपन की बाढ़ आ जाती है। इसके विपरीत अलगाव के विरुद्ध, प्रेम कविता का लेखन लुप्त मानवीयता की पुनः प्राप्ति का प्रयास है। पूंजीवादी संस्कृति में प्रेम का नहीं, भोग का प्राधान्य होता है। व्यक्ति, विशेषकर नारी, उपभोग्य वस्तु बन जाती है, अतः मानव प्रेम के वर्णन पदार्थीकृत व्यक्ति को पुनः मनुष्य बनने की प्रेरणा देते हैं। दूसरी ओर मानवप्रेम का माध्यम अपनाकर क्रान्तिकारी कविताओं में मनुष्य को मनुष्य से जुड़ने, मिलकर काम करने और व्यक्तिगत तथा सामूहिक नियति बदलने का संवेदन उपलब्ध होता है अतएव आपाकालोत्तर नवम् दशक में शायद ही कोई ऐसा कविता संग्रह हो जिसमें प्रेम और प्रकृत्ति को अपनाया न गया हो। पाश्चात्य देशों में "नवरोमांसवाद", "नियोरोमांटीसिज़्म" एक सर्वस्वीकृत प्रवृत्ति है-इस प्रकार कविता में प्रेम की पुनः वापसी हुई है।

साठोतरी कविता को बहुधारात्मक सरिता या समुन्द्र के रूप में देखा जाना चाहिए

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जिसकी मुख्यधारा यक़ीनन जनोन्मुख और इन्क़लाबी है किन्तु अन्य आनुषंगिक सह प्रवाहों या आयामों के अपने आकर्षण है। यह तो सच है कि साठोतरी कविता में कोई "महाकवि" नहीं है किन्तु कई बड़े कवि मौजूद हैं और वह क्रमशः अपना क़द निकाल रहे हैं। किसी भी भाषा के साथ हिन्दी कविता अपनी उत्कृष्टता से स्पर्धा कर सकती है और उसमें ऐसा संवेग, संवेदन, संदेश और विचारधारात्मक जागरूकता है कि वह अपने पर गर्व कर सकती है।

जहां तक न्यूनताओं का प्रश्न है, कविता अभी भी ज्ञानानुशासनों से लेस, प्रबुद्ध समाज में ऐसी काव्य भाषा नहीं पनपा सकी है जिसमें रचना समूची बौद्धिकता, चिन्तन मनन और स्थिति–मीमांसा का माध्यम बन सके।

अभी यह कार्य शेष है और यह हिन्दी कवि के व्यक्तित्व के रूपान्तरण पर निर्भर है। कविता के सरल-सहज, भावुक, गीतात्मक आयाम रहें, मनुष्य को भाव जीवी प्राणी बनाए रखने के लिए यह ज़रूरी है किन्तु कविता आधुनिक चिन्तन के लिए दृढ़, कठोर, बौद्धिक और अंतरंग बने यह भी ज़रूरी है।

दुष्यन्त के बाद महत्त्वपूर्ण एक शायर नरेन्द्र बशिष्ठ के ये शेर साठोत्तरी हिन्दी कविता पर भी चस्पाँ हो जाते हैं। ये ग़ौर तलब हैं:

तितली के रंग पर ही
नज़र कर न ए बशिष्ठ
उसके परों में खार को चुभते हुए भी देख।

× × × ×

बना दिया मेरी सच्चाई ने मुझे मुजरिम
मेरे बयां से किसी का बयाँ नहीं मिलता।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रगतिशील साहित्य और डॉ. रांगेय राघव

–डॉ. विश्वम्भरनाथ उपाध्याय

१७ जनवरी, १९२३ ई. में जन्मे और १२ सितम्बर १९६२ ई. में दिवंगत डॉ. रांगेयराघव ने, कुल ३९ वर्ष की आयु में लगभग एक सौ पचास पुस्तकें लिखीं और अनेक कृतियाँ ऐसी है जो अभी भी अप्रकाशित हैं। इतना विपुल लेखन और वह भी इतनी अल्प कालावधि मे, किसी ने नहीं किया। ग़ैर-प्रगतिशील लेखकों मे भी डॉ. रांगेयराघव जितना किसी लेखक ने नहीं लिखा।

इस विशद लेखन का वैशिष्ट्य यह है कि उसमें आश्चर्यजनक वैविध्य मिलता है। भारतीय पुरातत्व, इतिहास, मिथक, धर्म, दर्शन, संस्कृति और समाज को मार्क्सवादी एकीकृत दृष्टि से देखकर रांगयराघव ने, इस देश के प्रागैतिहासिक काल से लेकर आधुनिक काल तक, भारतीय समाज और सांस्कृतिक संरचना का एक व्यवस्थित रूप प्रस्तुत किया, जिसे उनके "भारतीय इतिहास और परम्परा", "महायात्रा", "मुर्दों का टीला", "गुरु गोरखनाथ", "चीवर", "प्रतिदान", "धूनी का धुआँ", "अँधेरे के जुगनूँ," "आँधी की नीवें" तथा कई औपन्यासिक जीवनियों को यदि एक सिलसिले में रखकर देखा जाए तो यह जानकर सुखदायी–अचरज होता है कि डॉ. रांगेय राघव ने अपनी पुस्तकों और उपन्यासों द्वारा, एतिहासिक भौतिकवादी दृष्टि से, भारतीय समाज के अतीत और वर्त्तमान के इतिहास और समाजसंरचना का एक रूप खड़ा किया है। इस प्राचीन भारत की व्याख्या में उन्होंने विदेशी साम्राज्यवादी इतिहासकारों, अतीत पूजक पुनरुत्थानवादियों और महापंडित राहुल, डॉ. रामविलास शर्मा, डॉ. भगवत हारण उपाध्याय आदि प्रगतिवादियों–प्रगतिशीलों की व्याख्याओं को चुनौती दी है और यह सिद्ध किया है कि उनकी व्याख्या सुसंगत और प्रामाणिक है।

डॉ. रांगेय राघव के इस अभूतपूर्व ऐतिहासिक भौतिकवादी व्याख्या के कार्य की या तो प्रशंसा हुई है या निन्दा, अभी तक इसका व्यवस्थित अन्वेषण नहीं हुआ है क्योंकि यह कार्य अत्यन्त कठिन है और सर्वज्ञता की अपेक्षा करता है जो दुर्लभ है

डॉ. रांगेयराघव ने दूसरी चुनौती, सर्जनात्मक लेखन में यह दी कि वह सामाजिक यथार्थ का चित्रण जिस सूक्ष्म पर्यवेक्षण और अनूठे विन्यास के साथ कर सकते हैं, कोई नहीं कर सकता, "घरौंदा", "विषादमठ", "हुजूर", "काका", "सीधासादा रास्ता", "कब तक पुकारूँ", "धरती मेरा घर", "आग की प्यास", 'कल्पना", "पतझर" और "आखिरी आवाज़" जैसे उपन्यासों में डॉ. रांगेय राघव, एक व्यंग्यमय मुद्रा धारण कर,

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पर्याप्त तटस्थता के साथ, सामाजिक जीवन के अंतर्विरोधों—असंगतियों—विसंगतियों और न्यायहीनताओं का अनावरण करते हैं और हमारी मानव-ममता को जाग्रत करते हैं कि चुनौती, इस सम्पूर्ण समाजिक संरचना को बदलने की है। समूची व्यवस्था के आमूलचूल परिवर्तन के बिना उनकी दृष्टि से, वर्ग-शोषणहीन, मानवीय समाज की रचना नहीं हो सकती।

यह व्यंजित प्रगतिशील संदेश, उनके लेखन से बार-बार गूंजता है और उनके आलोचनात्मक-विचारधारात्मक ग्रन्थों में तो यह घोषित ही है तथा कतिपय साम्यवादविरोधी मनोवृत्ति के व्यक्तियों ने डॉ. रांगय राघव को प्रगतिवादी प्रगतिशील-आंदोलन-संगठन की परम्परा से पृथक् कर उन्हें मार्क्सवाद विरोधी लेखक के रूप में पेश करने की कोशिश की है जो असंगत है क्योंकि साम्यवादी दल और सरकारों की संकीर्णताओं, कतिपय मार्क्सवादियों की कुत्सित समाजशास्त्रीय व्याख्याओं का घनघोर विरोध करने तथा द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद को अंतिम सत्य न मानने पर भी डॉ. रांगेय राघव की चेतना, दृष्टि और विवेचन-विश्लेषण पद्धति, स्पष्टतः ऐतिहासिक-भौतिकवादी थी और उनके सामाजिक उपन्यासों में भी उनकी दृष्टि वर्गवादी है, व्यक्तिवादी नहीं। वह मार्क्सवाद को मानववाद का एक उत्कृष्ट, कारगर, कार्यपरक या फंक्शनल रूप मानते थे और दल या कार्यनीति के नाम पर वैचारिक स्वतंत्रता, मानव-न्याय और मानवीय व्यवहार के समर्थक थे और उनके विचार और व्यवहार में इस मानवीयता और वैचारिक स्वतंत्रता का भरपूर प्रयोग होता था।

उनके उपन्यासों और ''गदल'' जैसी अनेक कहानियों, नाटकों और विवेचनात्मक पुस्तकों में जो मानवीय ऊर्जा, तेजस्विता या अन्याय न सहने की सीख है, वह उन्हें प्रगतिवादी-प्रगतिशील सृजनचिंतन प्रवाह का एक श्रेष्ठ रचनाकार, विचारक एवम् व्याख्याकार सिद्ध करती है। सर्वत्र, सभी प्रकार के लेखन में उनका विश्वबोध जनपक्षधर और मानवता को मान्यता देने वाला है, वह कहीं भी समाज की क़ीमत पर व्यक्ति की और व्यक्ति के मूल्य पर समाज की सराहना नहीं करते। संस्कृति और समाज द्रष्टा डॉ. रागेय राघव ने अपने प्रगतिशील मानवतावादी दृष्टिकोण और समाजवादी मूल्यों के लिए कभी समझौता नहीं किया और उन्होंने व्यक्तित्व को दबाने, उसे विरूपित करने, उनके दृष्टिकोण को विकृत या बदनाम करने वालों को कभी नहीं बख़्शा। जिस तरह चिंतन, व्याख्या और सृजन के क्षेत्रों में उन्होंने अग्रगामिता की चुनौती को स्वीकार कर अहिर्निश कार्य कर अपने को अभूतपूर्व साबित किया, इसी तरह डॉ. राघव ने प्रगतिशीलों—ग़ैरप्रगतिशालों के मध्य सदा चलने वाले वादविवाद/शास्त्रार्थ (पोलीमिक्स) में भाग लिया जिसे उनके 'प्रगतिशील साहित्य के मानदण्ड'' पुस्तक में देखा जा सकता है। उनमें इतनी दूर-दृष्टि और भविष्य को भाँपने की शक्ति थी कि साम्यवादी व्यवस्थामें उनके द्वारा सुझाए गए सुधार जो तब स्वीकृत नहीं हुए थे अब स्थितिवश स्वयं स्वीकृत होकर कार्यरूप में परिणत हो रहे हैं।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रमुखतः डॉ. रामविलास शर्मा के साथ ठनी इस बहस में इतनी तथ्यप्रियता, तर्कशीलता, बिन्दुप्रतिबिन्दुपरकता और वेधकता है, व्यंग्य और विद्रूप के ऐसे दावपेच हैं कि इस किताब में संकलित उनके लेखों से हिन्दी गद्य को एक नया तेज़तर्रार आयाम मिलता है। कहना न होगा कि डॉ. रांगेय राघव के ही विकट प्रतिवाद के कारण, प्रगतिशील-आंदोलन और संगठन में, संकीर्णतावादी और तानाशाही या कुछ आलोचकों की दादागीरी पर अंकुश लगा और उनका रुख रचनात्मक लेखनकर्ताओं के प्रति अधिक ग्रहणशील और कोमल हुआ।

अतएव, डॉ. रांगेय राघव का वैचारिक विद्वतापरक कार्य उनकी रचनात्मकता से कम मूल्यवान नहीं है। "भारतीय पुनर्जागरण की भूमिका", "भारतीय चिन्तन", "संगम और संघर्ष", समीक्षा और आदर्श", "हिन्दी साहित्य की धार्मिक और सामाजिक पूर्वपीठिका", "काव्यकला और शास्त्र", "महाकाव्य विवेचन", तुलसीदास का कथाशिल्प", "आधुनिक कविता में प्रेम और श्रृंगार" तथा "आधुनिक हिन्दी कविता में विषय और शैली"।

सांस्कृतिक साहित्यिक धरोहर में जो भी श्रेष्ठ और मानवीय है, उसे हिन्दी में लाने के लिए डॉ. रांगेयराघव ने कालिदास, शूद्रक, विशाखदत्त, दण्डी, पंडितराज जगन्नाथ, जयदेव, गेटे, शेक्सपियर, मायकोवस्की, होमर, टेनीसन, चौसर और ग्रीक नाटककारों के अनुवाद किए। यह दुःख का विषय है कि कई प्रकाशक उनके अनुवादों की पाण्डुलिपियों को दाबे बैठे हैं। यदि डॉ. राघव के सभी अनुवाद प्रकाशित हो जाएँ तो उनकी प्रतिभा का एक और आयाम पूर्णता के साथ सामने आ सकेगा।

डॉ. रांगेय राघव अपने को मूलतः कवि मानते थे और यह सच भी है कि संवेदनहील स्वभाव, कल्पनामयता और भावात्मक तरंगशीलता उनमें एक कवि जैसी ही थी पर बौद्धिक और कथात्मक रचनावैपुल्य से उनका कवि दब सा गया तथापि "मेनका", "मृत्युशीत" "नर्तकी का अतिथि", "घाटी का फूल", "अजेय खण्डर" हौर "मेधावी" जैसी रचनाएँ उपेक्षणीय नहीं हैं। जिस तरह भगवतीचरण वर्मा के "टेढ़ेमेढें रास्ते" उपन्यास का जबाब उन्होंने "सीधे सादे रास्ते" में दिया, उसी तरह डॉ. राघव ने जयशंकर प्रसाद की "कामायनी" का प्रत्युत्तर "मेधावी" में दिया। स्तालिनग्राद में सोवियत रूस के, नाज़ियों के विरुद्ध भयंकर और बलिदानी संग्राम का चटकीले रंगों में वर्णन, "अजेय खण्डहर" में मिलता है। रचना और आलोचक दोनों में प्रतिपक्षों को तुर्की-ब-तुर्की जबाब देने और स्वपक्ष की चमकदार-प्रस्तुति में वह बेजोड़ थे।

इसके सिवा १९४२ के बंगाल अकाल के जो रिपोर्ताज़ लिखे गए, वे तो प्रगतिशील रिपोर्ताजों की अपने में आज भी मिसाल बने हुए हैं।

डॉ. रांगेय राघव विभिन्न विधाओं के उत्कृष्ट लेखक और विचारक होने के अतिरिक्त चित्रकार भी थे, पुरातत्ववेत्ता भी। उनकी विविध विषय स्पर्शिनी प्रतिभा को देखकर हैरत होती है, लेखन-त्वरा और भाषा-शक्ति देखकर भी। मंदमति (मिडियाकर) लेखक और

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ईर्ष्यालु टिप्पणीकार उन पर बहु लेखन के कारण ख़राब और शीघ्रलेखन के आरोप लगाते थे किन्तु डॉ. रांगेय राघव के भीतर इतनी सर्जनाकुल मेधा थी, सोच विचार का ऐसा सागर हिलोरें लेता था कि उन्हें न किसी विधा से बांधा जा सकता है, न किसी अन्य कोटि (Catagory) से। वह एक ऐसी अलबेली सामर्थ्य लेकर जनमें थे कि उन्हें अप्रतिहत वेग–संवेग के साथ, अधिक से अधिक अपने को अभिव्यक्त करना था। जिस तरह कोई महान् नद, वेग और विपुलता में, कूल किनारे तोड़ता हुआ बहता है, उसी तरह उन्होंने प्रगतिशील साहित्य और विचारणा के क्षेत्र में पहले के बंधे बांधों और विचार रीतियों को तोड़कर अपनी रचना और विवेचना से अपने को प्रकाशस्तम्भ के रूप में स्थापित किया, उच्चतर प्रतिमान के रूप में भी, जो अभी तक अतुलनीय है।

प्रगतिशील साहित्य-परम्परा पर समग्रतः दृष्टिपात करने पर डॉ. रांगेय राघव का कृतित्व असाधारण लगता है। प्रेमचन्द की सामाजिक यथार्थवादी चेतना को उन्होंने "मुर्दों का टीला" और "कब तक पुकारू" जैसे श्रेष्ठ उपन्यासों और "गदल" जैसी कहानियों से अग्रसारित किया, "मैधावी" जैसे काव्य से, छायावादी कविता की सीमाओं को तोड़कर कविता को विचार-कविता बनाया, भारतीय समाज और संस्कृति की मार्क्सवादी दृष्टि से पुनर्व्याख्या की और "भारतीय इतिहास और परम्परा" जैसा गहन विद्वत्ता का ग्रंथ पेश किया। "गुरु गोराखनाथ" जैसे अनुसंधानग्रंथ से उन्होंने, वर्णवर्गवादी भारतीय समाज व्यवस्था से शताब्दियों तक टकराने वाली योग-परम्परा का उद्धार किया और प्रगतिशील साहित्य की क़द्रदानी के लिए कुत्सितसमाज-शास्त्रीय प्रवृत्तियों का निर्मम खंडन किया।

डॉ. रांगेय राघव को अधिक आयु और कार्य सुविधा मिलती, तो वह और अधिक व्यवस्थित और स्थिर होकर योगदान कर सकते थे। उन्हें जीवन स्तर निर्वाह और स्वाभिमानीः स्वतंत्र जीवन के लिए भरती का काम भी करना पड़ा पर प्रायः सीमित दृष्टि के मूल्यांकनकर्त्ता यह भूलते हैं कि बहुविधि कार्यभर के दबाव और बड़ी चुनौतियों से चेतना में उपजने वाली चिलक से जो अप्रत्याशित रूप से, साधारण के बीच असाधारण रचना की सृष्टि हो जाती है वह मंथर और मंद जीवनविधि अपनाने पर संभव नहीं हो सकता था।

डॉ. रांगेय राघव, साहित्य और विशेषकर प्रगतिशील साहित्यक्षेत्र के एक चमत्कार नक्षत्र थे। वह महापंडित राहुल के परवर्त्ती संस्करण और प्रेमचन्दोत्तर युग के प्रेमचन्द थे।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

राष्ट्रीयता और रचनाशीलता

'राष्ट्रीयता' शब्द से जो अर्थ लिया जाता है, वह आधुनिककालीन है। परम्परा में 'राष्ट्र' शब्द वैदिक युगीन है किन्तु वहां भी किसी विशिष्ट भौगोलिक सीमा की ओर संकेत है। पुराणकाल में देश या राष्ट्र 'द्वीप' और खण्ड (जम्बू द्वीपे, भरत खण्डे) के रूप में सर्वस्वीकृत प्रत्यय थे और विष्णुपुराण में भारतवर्ष की भौगोलिक सीमाओं का स्पष्ट उल्लेख है। राजनैतिक दृष्टि से, भारतवर्ष के विभिन्न प्रदेशों में पृथक्-पृथक् राज्यसत्ताओं के बावजूद, भारतीय मानस में, विशेषकर प्रभुत्वशाली और प्रबुद्ध वर्गों में चक्रवर्ती सम्राट' की अवधारणा बहुत प्रिय और प्राप्य रही है और एक केन्द्रीयसत्ता के लिए सम्पूर्ण भारतीय इतिहास में, जिसमें मध्यकाल भी शामिल है, सर्वदा सैनिक अभियान होते रहे हैं।

अतएव 'राष्ट्रीयता' का जो आधुनिक अर्थ है, उसका कुछ अंश इस देश की परम्परा में, भारतीय राजनीति में विद्यमान था, कौटिल्य का राजनैतिक-अर्थशास्त्र इसका प्रमाण है।

सांस्कृतिक दृष्टि से तो भारत राष्ट्र की परम्परा अविच्छिन्न और अटूट रही है। यह सर्वविदित है किन्तु जिस बिन्दु पर ध्यान जाना चाहिए, वह है प्राचीन भारतीयों का संतुलनप्रेम। भारतीय विचारकों ने मनुष्य के ममत्व या भावात्मक-आलम्बनों में संकीर्णता और अतिवाद इन दोनों का विरोध कर, परस्पर विरोधी प्रतीत होनेवाले प्रत्ययों (CONCEPTS) में अविरोध स्थापित करने का प्रयत्न किया है जो आधुनिक राष्ट्र प्रेमियों के लिए बहुत वांछनीय है।

मनुष्य के मन में परिवार-ग्राम-जनपद-देश और विश्व या ब्रह्माण्ड, इन सबके प्रति लगाव पनपता है किन्तु इन सबके प्रति उचित मात्रा में प्रतिबद्धता होने पर भी जो इस मूल्य और ममत्व का निर्णायक तत्व या शक्ति है, वह मनुष्य के भीतर उसकी चेतना या आत्मा है। अतः निर्णयकारी चेतना का मूल्य सर्वोच्च है। यदि चेतना या आत्मा विकसित है, सांसारिक या वैयक्तिक मोह-मदादि से परे है तो वही चेतना मानवीय लगावों और प्रतिबद्धताओं का स्वरूप निर्धारण कर सकती है। ऐसे क्षण आ सकते हैं, आते हैं जब एक राग-द्वेषातीत चेतना यह महसूस करती है कि परिवार-ग्राम-नगर-जनपद-देश और देशों के समूह, संघ ग़लती कर रहे हैं तब वह चेतना अकेले ही कर्त्तव्य का मूल्य निर्धारित करती है जैसे श्री कृष्ण ने गीता में किया, कौटिल्य ने अर्थशास्त्र और राजनीति में, कार्ल मार्क्स ने 'पूंजी' में। इसीलिए यह कहा गया था कि व्यापक के लिए सीमित का त्याग ज़रूरी हैं, परिवार, ग्राम के लिए, ग्राम को जनपद के लिए, जनपद को देश के लिए, देश को विश्व लिए और विश्वभर को अपनी आत्मा या चेतना के लिए छोड़ देना चाहिए।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

'राष्ट्रीयता' इसी अर्थ में मान्य हो सकती है कि व्यक्ति अपने देश से प्रेम करे, उसके हित के लिए तत्पर हो किन्तु मानवहित, देशहित तक सीमित नहीं है। वह व्यापक विश्व और प्रकृति तथा प्राणिमात्र तक फैला हुआ है और यदि राष्ट्रवाद दूसरे राष्ट्रों के लिए विनाशक बनता है तो व्यापक हित या अंतर्राष्ट्रीयता की दृष्टि से उसका परिसीमन अनिवार्यतः करणीय है अन्यथा राष्ट्रवाद अंधराष्ट्रवाद- शावनिज़्म या फ़ासिज़्म में बदल जाएगा।

व्यवस्था की दृष्टि से भी राष्ट्रीयता की धारणा व्याख्यायित होती है। दासप्रथा के समाजों में दासों से राष्ट्रप्रेम की आशा करना ज़्यादती थी। भारत में भी निम्न शोषित-शासित वर्गों में यह भावना रही है और अभी भी एक हद तक है कि राजा कोई भी हो, हमें तो स्वामियों की सेवा ही करनी है : "कोई नृप होउ हमें का हानी, चेरी छांडि न होइब रानी।" अतएव समाज की व्यवस्था यदि प्रजा-दोहन पर आधारित है तो दमित-दलित-अचेत-अभावग्रस्त समुदायों में राष्ट्रीयता के प्रति स्वतः उच्छलित प्रेम नहीं पनपेगा अतः सम्पत्ति के संसाधनों या उत्पादन-विवरण के माध्यमों पर यदि मात्र कुछ श्रेणियों का एकाधिकार है तो ऐसी समाज व्यवस्था, बहुमत वाली जनता में विरोध और प्रतिशोध उत्पन्न करेगी।

आधुनिक राष्ट्रीयता, इस दृष्टि से पूंजीवादी समाज व्यवस्था की चीज़ है और पश्चिमी योरोप का राष्ट्रवाद इसका नमूना पेश करता है। इस प्रकार की पूंजीवादी या बूर्ज्वा राष्ट्रीयता में राष्ट्रवाद व्यापक मानवहितों की प्रायः परवाह नहीं करता और दृष्टि अपने-अपने देशों के हितों की पूर्ति तक सीमित रह जाती है। बूर्ज्वा राष्ट्रवाद के कारण ही, दो-दो विश्वयुद्ध हुए और तृतीय की तैयारी जारी है। अतएव समाजवाद की दृष्टि से, राष्ट्रवाद की परिभाषा यह होगी :

'राष्ट्रवाद बूर्ज्वा या पूंजीवादी विचारधारा तथा राजनीति का सिद्धान्त है। यह राष्ट्रों के अ-लगाव का समर्थन करता है अतः उनमें अविश्वास, शत्रुता और पृथक्ता पनपाता है। यह राष्ट्रवाद, राष्ट्रों के विकास की प्रक्रिया का परिणाम है और इसका नियमन पूंजीवाद के विशिष्ट विकास से हुआ है अतएव 'महाराष्ट्र' शावनिज़्म (CHAUVINISM) का विचार उत्पन्न हुआ, जिसमें अन्य राष्ट्रों के प्रति नफ़रत का भाव रहता है। साम्पत्तिक विषमता के रक्षक लोग, राष्ट्रवाद के द्वारा श्रमिकों की वगचेतना को दबाए रखते हैं और राष्ट्रों के मध्य युद्धों और उपनिवेशवाद का समर्थन करते हैं। मेहनतकश जनता इस प्रकार के बूर्ज्वाराष्ट्रवाद को स्वीकार नहीं कर सकती क्योंकि उसका हित सर्वहारा और समाजवादी अंतर्राष्ट्रीयतावाद में है किन्तु उपनिवेशवादी राष्ट्रों के विरुद्ध पराधीन राष्ट्रों के मुक्ति संग्राम में समाजवादियों को मुक्तिकामी राष्ट्रवाद का पक्ष लेना चाहिए क्योंकि ऐसे जनवादी राष्ट्रवाद में जनतांत्रिक अंतर्वस्तु रहती है, इस रूप में कि स्वतंत्रताकामी राष्ट्र समाजवाद का विरोध करते हैं और आर्थिक तथा रानैतिक स्वाधीनता और आत्मनिर्भरता के लिए संघर्ष करते हैं तथापि यह देखना होगा कि पूर्वपराधीन राष्ट्र, स्वतंत्र हो जाने पर भी उत्पादन

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

के साधनों पर उच्च समुदायों का एकाधिकार बनाए रखना चाहते हैं और राष्ट्रवाद के नाम पर आर्थिक समता और वैयक्तिक पूंजी की जगह सामाजिक स्वामित्व का समर्थन नहीं करते। लघु सम्पत्तिशाली समुदाय (पैटीबूर्ज्वा वर्ग) प्रायः इस प्रकार के राष्ट्रवाद को मानते हैं क्योंकि वे सम्पत्ति और पूंजी का समाजीकरण नहीं चाहते अतएव समाजवादी व्यव्यवस्था में ही ऐसी राष्ट्रीयता का विकास संभव है जिसमें स्थानीय और व्यापक हितों में विरोध न हो और वर्गहीन, शोषणविहीन समाज संरचना संभव हो सके ताकि शोषणमुक्त प्रत्येक जन में राष्ट्र के प्रति स्वतः प्रेरित प्रेम उत्पन्न हो और राष्ट्रवाद जनवैशिष्ट्य का प्रतीक बन सके।

यह आदर्श है। इसकी प्राप्ति के प्रयत्न में समाजवादी देश भी कभी-कभी अंधराष्ट्रवादी प्रवृत्तियों से ग्रस्त हो जाते हैं और राष्ट्रवाद तथा अंतर्राष्ट्रीयतावाद के मध्य संतुलन भंग हो जाता है। संकीर्ण राष्ट्रवाद के कारण ही, अंतराष्ट्रीय स्तर पा संगठन लुप्त हो गया जिसे कार्ल मार्क्स और लेनिन ने बहुत महत्त्व दिया था। अंतर्राष्ट्रीय स्तर की पंचायत या सोवियत के बिना, राष्ट्रीय स्तर पर पंचायती राज्य परस्पर मतभेद होने पर विग्रह को कैसे दूर कर पाएंगे ? इस न्यूनता के कारण ही समाजवादी देशों के आपसी विग्रहों-सैनिक अभियानों से समाजवादी साम्यवादी आंदोलन में खींचतान उपजती है। ऐसे में प्राचीन भारतीयों की संतुलनकारी अवधारणा याद आती है कि राष्ट्रवाद वैश्विक हितों के आगे उपेक्षणीय है।

असंतुलित राष्ट्रवाद के कारण ही, राष्ट्रसंघ (यू.एन.) जैसे संगठनों को दयनीय बनना पड़ता है। यह आश्चर्य और दुःख का विषय है कि असंतुलित राष्ट्रवाद के कारण, बीसवीं शताब्दी में, वैश्विक धरातल पर मानवचेतना उस उत्कर्ष पर नहीं पहुंच सकी, जिस पर वैज्ञानिकता और तकनीक की बौद्धिकक्षमता पहुंच गई अतएव संकीर्ण राष्ट्रीयता के कारण मानवीयता और बौद्धिकता के मध्य असमन्वय की खाई को पाटा नहीं जा सका और अगली शताब्दी में व्यक्ति और राष्ट्र के रूप में हमारा भविष्य इसी संतुलन की उपलब्धि पर निर्भर है।

कला और साहित्य, दर्शन और मूल्यमीमांसा के लिए यही चुनौती और चिन्ता है कि वह ऐसा सृजन करे जिससे मनुष्य मात्र के मन में अपने देश के प्रति प्रेम बढ़े किन्तु दूसरे देशों के जन का हित ओझल न हो।

"राष्ट्रीयता और रचनाशीलता का कई कारणों से अविनाभावेन जुड़ाव है। बचपन से एक विशेष राष्ट्र में प्रतिवर्त्तन (कंडीशनिंग) के कारण हमारे मानस और व्यक्तित्व पर एक राष्ट्रीय छाप पड़ती है। हमारा तादात्म्य हमारे देश के भूगोल, संस्कृति, भाषा, भाव, जीवनविधि और संस्कारों के प्रति चिरसाहचर्य के कारण स्वाभाविक रूप से होता है किन्तु अपने देश के सौन्दर्य और गौरव-गायन के साथ-साथ मानवचेतना में विश्वभर के प्रति सम्पृक्ति-संवेदना भी उदित होती है या कुछ उदारचेताओं में उपज सकती है अतएव साहित्य में एक ओर तो अपने देश तक सीमित दृष्टि से हुई सृष्टि मिलती है तो दूसरी ओर ऐसी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

रचनाएं भी हैं जिनमें राष्ट्रीयता के उन्माद् या अंधता या शोषक वर्गों द्वारा यथास्थिति की रचना के षड़यंत्र से उत्पन्न संकीर्णता का विरोध होता है जैसे मंटो की 'टोबाटेकसिंह' शीर्षक कहानी में। हेमिंग्वे के एक उपन्यास में युद्ध के मोर्चे पर लड़ता हुआ सैनिक सोचता है कि जब इतना जनहानि के बाद भी लोग पराजय स्वीकार नहीं करते तब युद्ध से फ़ायदा क्या है? मनुष्य अविजेय है, वह हार जाने पर भी हार मानता नहीं है और पुनः लड़ने की कोशिश करता है अतः निष्कर्ष यही है कि प्रेम की विजय ही स्थायी हो सकती है। हेमिंग्वे के 'शस्त्रों से विदाई' उपन्यास का भी यही संदेश है।

इसका अर्थ संघर्षहीनता नहीं है। अनिवार्य हो जाने पर, अन्याय और शोषण के निराकरण के लिए जनतांत्रिक या सशस्त्र युद्ध करने ही पड़ते हैं किन्तु विचारणीय बिन्दु यह है कि उसके पूर्व क्या अन्य विकल्पों का प्रयोग कर लिया गया है?

इतिहास गवाह है कि राष्ट्रों के राष्ट्रों पर और वर्गों के वर्गों पर प्रभुत्व या एकाधिकार को संघर्ष के बिना नहीं हटाया जा सका और यह परिस्थितियों पर निर्भर रहा है। राष्ट्र की, समग्रता में चिन्ता के सिवा, उसके भीतर वर्गशासन चले या जनवादी नयी संरचना हो? क्या देश के भीतर पूँजी और सम्पत्ति पर काबिजों को, वर्गसंघर्ष के बिना बेदख़ल किया जा सकता है?

इसी प्रश्न के सन्दर्भ में ऐसे वर्गबोधक, जननिष्ठ परिवर्तनकारी चेतना के उत्पादक साहित्य को राष्ट्रप्रेमी साहित्य माना जाना चाहिए जो देश के भीतर वर्गदोहन, कदाचार और दूसरी सामाजिक विसंगतियों के विरुद्ध लोगों की चेतना को बतचाता है किन्तु साहित्य में मात्र वे ही कवि और लेखक 'राष्ट्रीय' माने जाते हैं जो अमूर्तरूप में देशप्रेम और देश गौरव के गायक होते हैं। सवाल यह है कि मैथिलीशरण गुप्त और दिनकर 'राष्ट्रकवि' क्यों कहलाते हैं, निराला, मुक्तिबोध और नागार्जुन आदि क्यों नहीं? राष्ट्र के बहुमत वाले जनगण के दुःख और अभावआदि को तीव्रता से चित्रित करने लले लेखक और कवि 'राष्ट्ररचनाकार' या राष्ट्रकवि क्यों नहीं कहलाते? क्या राष्ट्र का अर्थ सिर्फ़ उसके भूगोल, अतीत की उपलब्धियों, उसके पुराणों या पुराण-पात्रों आदि तक ही सीमित है? क्या राष्ट्र में वह बहुसंख्यक जनसमूह शामिल नहीं है जिसके हित की बात करने वाले रचनाकार राष्ट्ररचनाकार की कोटि से बाहर हो जाते हैं?

यह द्रष्टव्य है कि भारतीय साहित्य में भारतवर्ष के प्रति अनुराग की निरन्तर छलक के बावजूद, उसमें संकीर्णता का अभाव है। इसका अर्थ यह है कि देश की अंतरात्मा या आंतरिक चेतना स्वस्थ और उदात्त है, व्यापक और उदार है और यह कितनी वंदनीय है कि पृथकतावाद और डरावने धार्मिक-उन्माद से जन्य मज़हबी फासिज़्म के आतंक के मध्य जीवित भारतीय कवि और लेखक भारतीय राष्ट्र तथा मानवता के साथ हैं। 'प्रीतिलड़ी' के सम्पादक और पाश जैसे कवि, भारतीय साहित्य की महत्ता के चरमशिखर के प्रतीक हैं और यही स्थिति अन्य भारतीय भाषाओं में है।

राष्ट्रीयता के सर्वाधिक शत्रु वे व्यक्ति और समुदाय हैं, राजनैतिक संगठन और मज़हबीगढ़ हैं जो भाषा-धर्म-जाति-क्षेत्र आदि संवेदनशील तत्वों का इस्तेमाल कर सत्ता

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पाना चाहते हैं। साहित्य में पेशेवर या सिद्धान्तहीन राजनीति अथवा सत्ता और व्यवस्था के विरुद्ध गहरा आक्रोश और बुनियादी तब्दीली की व्यग्रता एवम् उग्रता है। साहित्य इसी अर्थ में, सत्ता और व्यवस्था का एकमात्र विपक्ष है, पेशेवर विपक्ष और सत्तापक्ष में कोई विशेष अंतर नहीं प्रतीत होता। इसी अर्थ में साहित्य राजनीति के आगे चलने वाला ज्योतिध्वज-वाहक है।

इसका अर्थ यह नहीं है कि साम्प्रदायिक संगठनों से जुड़े और तंगनज़री और तंगदिली को हाब्दों मे बांधने वाले लेखक नहीं हैं। वे हैं किन्तु साहित्य की मुख्य मानवप्रेमी धारा में वे नहीं हैं। गड़बड़ तब होती है जब साम्प्रदायिक तत्व, साहित्य के मुख्य प्रवाह का मुहावरा बोलने लगते हैं और प्रतिबद्ध उन दलों या संगठनों के प्रति रहते हैं जो जनमुक्ति के विरोधी या पुनरुत्थानवादी होते हैं।

राष्ट्रीयता और रचनात्मकता के सन्दर्भ मे एक अन्य बिन्दु यह भी है कि देशभक्ति के साहित्य को, शुद्ध साहित्य से पृथक् कर लिया जाता है। विशुद्ध रचनात्मकता यदि अभीष्ट सामाजिक परिवर्तन के क्षेत्र में संभव है तो वह राष्ट्रप्रेम के प्रसंग में ग़ैर साहित्यिक, अर्धसाहित्यिक क्यों हो जाती है? पाठ्यक्रम निर्धारण के समय भी यह द्वेष काम कर रहा है और अब जब राष्ट्रीयता की भावना का दृढ़ीकरण अनिवार्य हो गया है, हमें देशप्रेम या हुब्बुलवतनी के अदब या साहित्य को, 'शुद्धसाहित्य' के साथ-साथ पढ़ना चाहिए और साहित्यिक गोष्ठियों तथा पत्र-पत्रिकाओं मे जनचिन्ता और देशचिन्ता, दोनों पर लिखी रचनाओं स्थान को देना चाहिए।

ऐतिहासिक पात्रों के विषय में भी एक अजीब दुविधा और समानान्तरता समाज और साहित्य में देखी जाती है। प्रश्न यह है कि सम्प्रदायवादी दृष्टि शिवाजी, महाराणा प्रताप आदि को अपना प्रतीक चुनती है जबकि ये महापुरुष एक ज़ालिम निज़ाम के विरुद्ध लड़े थे और इनकी सेनाओं में सभी धर्मों के लोग थे। इसी तरह पुनरुत्थानलदी लेखक पुराणों और पौराणिक पात्रो का इस तरह वर्णन करते हैं गोया वे मात्र विश्वासों के वाहक थे। वसुतः वे मिथकीयपात्र जो जनमानस में मान्य हैं; जनहित और जनपक्षधरता तथा मानवीयता के समर्थक थे। उन्हें इसी दृष्टि से प्रस्तुत करना चाहिए किन्तु पुनरुत्थानवादी लेखक ही नहीं, संचारमाध्यम भी पुराण को प्रासंगिक नहीं बनाते या बहुत कम बनाते हैं। उदाहरण के लिए दूरदर्शन भक्तिकालीन अर्धश्रद्धा की दृष्टि से राम और कृष्ण को पेश करता है–जबकि ईश्वरों को महामानव के रुप में चित्रित किया जाना था और पौराणिक घटनाओं की बौद्धिक व्याख्या की ज़रूरत है।

सच्ची राष्ट्रीयता, मानव मस्तिष्क के मध्यकालीनीकरण से विकसित उग्रता या धार्मिक-उन्माद में नहीं है, जो मध्य एशिया से भारत की ओर उसी तरह बढ़ रहा है जैसे वह पूर्वमध्यकाल में आया था। इस कट्टर, असहिष्णु रक्तपिपासु और प्रबोधन (एनलाइटिनमेंट) के विरोधी मज़हबी फ़ासिज़्म से देश के विखंडन का भय है और इसकी प्रतिक्रिया में हिन्दू-फसिज़्म प्रबल हो रहा है। साहित्य और समाज, इस तूफ़ान का सामना

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

 Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

तभी कर सकते हैं जब सामाजिक विचारधाराओं द्वारा इस अंधविश्वासी विचारधारा से लड़ा जाए यानी राष्ट्रहित के लिए संस्कृति और धर्म के नाम पर पनपने वाले अंधविश्वास के विरुद्ध विवेक और विज्ञान के बल पर संघर्ष किया जाए।

भारतीय मध्यकाल में भक्तिकालीन मानवतावाद के बावजूद प्रबोधन या विवेकवाद (रैशनलिज़्म) का जो बुद्धिवादी संघर्ष योरोप में पुनर्जागरणकाल में चला था, वह यहां नहीं चल सका अतः भारतीय मानस पर अंधविश्वास, पौराणिकता और मज़हबीपन का विकट प्रभाव है। पुनरुत्थानवादी मानसिकता के विरुद्ध हमारे आधुनिक भारतीय साहित्य ने बौद्धिक पुनर्जागरण में महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा की है तथापि राष्ट्रीयता के अंधविश्वासनिरपेक्ष विकास के हेतु समकालीन साहित्यकारों और आलोचकों को और अधिक सचेत, सजग और सावधान होकर ज्ञानात्मक भूमिका अदा करनी होगी। यही आशा और उद्धार का एक अवलम्ब है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भाषावाद बनाम जनवाद

भाषा के विषय में जननिष्ठ दृष्टि यह है कि ध्यान जन पर रहे, जनसमूह पर क्योंकि भाषा अपने में साध्य नहीं, वह मनुष्य के व्यवहार, विनिमय, हित और संस्कृति की साधन है। साध्य मनुष्य है, भाषा उसी के लिए है, वह भाषा के लिए नहीं है क्योंकि मनुष्य भाषा सीख सकता है, एक से अधिक भाषाएँ अपना सकता है, और भाषा के प्रति विवेकसंगत दृष्टिकोण रख सकता है।

जनवादी दृष्टि से भाषा की समस्या का समाधान यह है कि जहाँ जो जनसमूह जिस भाषा का प्रयोग करता हो, उस भाषा में उस जनसमूह की शिक्षा दीक्षा, वासन-प्रवासन, कला-साहित्य, ज्ञान-विज्ञान, प्रयोग/प्रशिक्षण आदि सभी हो और यदि किसी जनसमूह की भाषा विकसित न हो तो उसे विकसित किया जाए, आधुनिक भाषा तकनीक इतनी उन्नत हो गई है कि किसी भाषा से कोई भी काम लिया जा सकता है।

जनसमूह, जातियाँ (नेशनलिटीज़) उपराष्ट्रीय समुदाय आदि किसी राष्ट्र में रहते हैं अतएव एक सामान्य राजभाषा और राष्ट्रभाषा चाहिए। ऐसी भाषा ही राष्ट्रभाषा बन सकती है जिसको बहुसंख्यक जानते समझते हों। भारत में ऐसी भाषा हिन्दी है जो लगभग साढ़े छः-सौ (६५०) बोलियों विभाषाओं और भाषाओं का इस्तेमाल करने-वाले जनों को जोड़ती है, एक सामान्य माध्यम देती है।

सामन्तकाल में देश के प्रत्येक अंचल, प्रान्त या प्रदेश या उप प्रदेश का एक-सा विकास नहीं हुआ अतः कुछ बोलियाँ भाषाएँ नहीं बन गईं और लाखों, करोड़ों जनों द्वारा बोली जाने वाली बोलियाँ भाषाएँ नहीं बन पाईं और लाखों, करोड़ों जनों द्वारा बोली जाने वाली अनेक बोलियाँ, बोलियाँ ही बनी रह गईं अतः स्वतंत्रता के बाद बड़े भाषा समूहों के सामने सैकड़ों बोलियों के क्षेत्रों की वाणी दबी रही और आज भी यही स्थिति है।

राजस्थान को ही लें। राजस्थान बहुबोलियों का प्रान्त है, हिन्दी उन्हें जोड़े हुए है और यक़ीनन् भद्रजनों को अंगरेज़ी भी एक किए हुए है। अब यदि हिन्दी के स्थान पर मारवाड़ी को राजस्थान की भाषा बनाने की बात की जाएगी तो ब्रजभाषा, मेवाती, मेवाड़ी, ढूँढाड़ी, हाड़ौती, पंजा, भीली, बागड़ी आदि बोलियों के अंचलों के लोग पृथकता की माँग करेंगे और हिन्दी के साथ अथवा हिन्दी को हटा कर या उसके प्रयोग को सीमित करके, अपनी स्थानीय बोलियों को सर्वत्र चलाएँगे।

यदि कहें कि मेवाड़ी, हाड़ौती शेखावाटी, ढूँढाड़ी, मारवाड़ी बोली से बहुत भिन्न नहीं है और यदि मारवाड़ी को मेवाड़ी-हाड़ौती,-शेखावाटी और जयपुरी वाले मान लें तो

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

राजस्थान में मारवाड़ी को भाषा का दर्जा मिल सकता है और हिन्दीकरण के साथ या उसे घटा कर मारवाड़ीकरण हो सकता है तो सवाल यह उठेगा कि ब्रजभाषा-भाषी क्षेत्रों के बच्चों पर मारवाड़ी कैसें लादी जा सकेगी क्योंकि वह मारवाड़ी तो ब्रजक्षेत्र में समझा में नहीं आती है। स्पष्ट है कि राजस्थान मारवाड़ीकरण से राजस्थान की एकता और अखण्डता को खतरा है और भाषावादी विग्रहों-झगड़ों का भी।

राजस्थान में हिन्दी का व्यापक प्रयोग देखकर नगरों और कस्बों तक में हिन्दीकरण हो जाने से राजस्थान के बुद्धिमान और राष्ट्रवादी नेताओं ने हिन्दी को राजस्थान की भाषा मान लिया था और यह कि हिन्दी के साथ राजस्तान की सभी बोलियों और विभाषाओं के विकास और प्रयोग की, संस्कृति और साहित्य, कला और विश्वास (धर्म) के माध्यम के रूप में मारवाड़ी, मेवाती, हाड़ौती, ब्रजभाषा के प्रयोग की पूरी गुंजाइश थी और है।

किन्तु राजस्थान राज्य के टुकड़ीकरण की भी चिन्ता न करें, राजस्थानी के नाम पर कतिपय भाषावादी व्यक्ति तथा ग्रुप सिर्फ़ मारवाड़ी को, राजस्थानी के नाम पर चलाना चाहते हैं और अन्य बोलियों विभाषाओं की उन्हें कोई परवाह नहीं है यानी उनकी कोई भाषानीति नहीं है, अतः एक भाषावादी आतंकवाद-सा पनप रहा है। इनमें से कुछ लोग, राजस्थानी या मारवाड़ी के साथ मुड़िया या महाजनी लिपि को, राजस्थानी लिपि सिद्ध कर रहे हैं जबकि मुड़िया लिपि मात्र साहूकारों-सेठों की लिपि थी और वे जनता को मूर्ख बनाने और हिसाब में मनमानी करने के लिए मुड़िया का प्रयोग करते थे।

भाषावाद

आश्चर्य और दुःख का विषय तो यह है कि सम्पूर्ण विश्व की जनता की मुक्ति और एकता के पक्षधर, प्रगतिशील लेखक संघ में भी कुछ तत्त्व भाषावादी हैं। इन्हीं तत्त्वों ने प्रलेस की स्वर्णजयन्ती, लखनऊ के अवसर पर असह्य दबाव डाला कि उर्दू को उत्तर प्रदेश की दूसरी राज्यभाषा मान लिया जाए! अदूरदर्शी राजनीतिज्ञ, बोट प्राप्त करने के लिए कुछ भी करने को तैयार हो जाते हैं किन्तु विवेकशील-प्रगतिशील व्यक्तियों का कर्त्तव्य है कि वे इस तथ्य को न भुला दें कि कितनी बड़ी लड़ाई लड़कर, हिन्दी को उत्तर प्रदेश में, अंग्रेजी राज्य में स्वीकृति मिली थी और यह कि विरोध उर्दू का नहीं, उसके प्रयोग और विकास का नहीं, उसे राज्यभाषा बनाए जाने का है, क्योंकि उर्दू यानी अरबी-फ़ारसी से लदी उर्दू जनभाषा नहीं है और वह अल्पसंख्यक ''इलीट'' या कुछ शिक्षितों तक सीमित है। मुसलमानों की बड़ी आबादी गाँवों और कस्बों में, स्थानीय बोली बोलती है।

दूसरा भय यह है कि उर्दू को राज्यभाषा बनाए जाने पर, अवधी, ब्रजभाषा, कन्नौजी, बुंदेलखंडी आदि को राज्यभाषा बनाए जाने की माँग होगी या पृथ्क् राज्य बनाने की।

यदि प्रत्येक बोली के आधार पर राज्य बनेंगे तो देश में छ सौ पचास राज्य हो जाएँगे जो एक असम्भव दशा होगी और देश का विघटन हो जाएगा अतः बड़े भाषासमूह बनाने पड़ेंगे और बड़े भाषा समूहों में सभी बोलियाँ और भाषाएँ राजभाषा नहीं बन सकतीं, वह अव्यावहारिक होगा।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

 Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इसी तरह मारवाड़ी को राजस्थानी का पर्याय मानने से कठिनाइयाँ पनपेंगी। इसका एक समाधान यह है कि मरुदेश या पश्चिमी राजस्थान को पृथक् प्रान्त बना दिया जाए जैसा कि भारतीय जनता पार्टी के श्री गुमानमल लोढ़ा कह रहे हैं, किंतु क्या मारवाड़ी के उग्र समर्थक यह मान लेंगे? मान भी लें तो मरु प्रदेश के भीतर भी अन्य बोलियों की समस्या बनी रहेगी।

जो हो, ''राजस्थान प्रगतिहील-लेखक संघ जैसे महान् और व्यापक जनहित–समर्थक संगठन के नाम का प्रयोग, संकीर्ण भाषावादी कार्यनीति के लिए नहीं किया जाना चाहिए और श्री राजस्थान प्रलेस के महामन्त्री श्री वेद व्यास और श्री मरुधर मृदुल ने यही किया है।

स्वर्गीय श्री सीताराम लालस के–''संक्षिप्त राजस्थानी-हिन्दी शब्द कोष'' का प्रकाशन राजस्थान प्राच्यविद्या प्रतिष्ठान, जोधपुर से हो रहा है। श्री लालस ने एक भूमिका लिखी, जिसमें कहा गया कि ''राजस्थानी'' (मारवाड़ी) स्वतंत्र और हिन्दी से पृथक् भाषा है और उसकी लिपि मुड़िया है। स्वभावतः इस विचार पर मतभेद हो सकता है।

श्री मरुधर मृदुल, वेदव्यास, विजयदान देथा के ग्रुप ने राजस्थान हाईकोर्ट में एक याचिका प्रस्तुत कर दी। यह उनका अधिकार था पर उन्होंने अपने नाम से नहीं, ''राजस्थान प्रगतिशील लेखक संघ'' के नाम का, बिना उसकी अनुमति के प्रयोग किया जो ग़ैर क़ानूनी है, 'प्रलेस' के साथ ज़्यादती भी है।

यह ज्ञात होने पर मैंने, रजिस्ट्रार, हाई कोर्ट, जयपुर को यह पत्र लिखा है:

''श्रीमन् श्री मरुधर मृदुल, एड्वोकेट, द्वारा दायर रिट पिटीशन, संख्या, २२६१/८७ में, ''राजस्थान प्रोग्रैसिव रायटर्स एसोसियेशन बनाम राजस्थान स्टेट'' शब्द (शीर्षक) पढ़कर मुझे आश्चर्य और क्षोभ हुआ क्योंकि ''राजस्थान प्रोग्रैसिव रायटर्स एसोसियेशन'' ने कभी भी यह विधिवत् निर्णय नहीं लिया कि ऐसा रिट पिटीशन दायर किया जाए। ऐसा पिटीशन दायर हो कि यह निर्णय श्री मरुधर मृदुल या श्री वेदव्यास, जनरल सैक्रेटरी, ''राजस्थान प्रोग्रैसिव रायटर्स एसोसियेशन'' का हो सकता है परन्तु उन्हें व्यक्तिगत निर्णय के लिए, बिना विधिवत् अनुमति लिए, ''राज. प्रो. रा. एसोसियेशन'' या ''राज. प्र.ले. संघ'' शब्द के प्रयोग का कोई अधिकार नहीं है और बिना विधिवत् निर्णय कराए इस शब्द का प्रयोग सामान्य न्याय के विरुद्ध तो है ही, उक्त लेखक संघ की दृष्टि से अपयशपरक और भ्रान्तिजनक भी हो सकता है।

अतएव, मेरा निवेदन है कि उक्त रिट पिटीशन, २२६१/८७ में प्रयुक्त ''राज. प्रो. रा. एसोसियेशन'' शब्द हटा दिया जाए क्योंकि यह तथ्य संगत नहीं है और इसलिए न्याय संगत भी नहीं है। दस सम्बंध में तथ्य यह है कि राजस्थान प्रगतिशील लेखक संघ के अध्यक्षमंडल, कार्य कारिणी और सामान्य सभा, किसी भी अवयव की विधिवत् बैठक नहीं बुलायी गयी और न कभी उक्त विषय (श्री सीताराम लालास की भूमिका, शब्दकोश के साथ छपे या न छपे) को विचारार्थ प्रस्तुत ही किया गया। अतः जनरल सेक्रेटरी श्री

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वेद व्यास और श्री मरुधर मृदुल, किसी भी जगह ''राजस्थान प्रो. रायटर्स एसोसियेशन'' नाम का इस्तेमाल तब तक नहीं कर सकते, जब तक कि विधिवत् राजस्थान प्रो. रा. अ. से अनुमति न ले ली जाए।

अतः पिटीशन संख्या २२६१/८७ से उक्त शीर्षक को हटा दिया जाए।

२०-५-८८ **विश्वम्भर नाथ उपाध्याय**

इस भाषावादी रुख की बढ़त देखकर भूतपूर्व केन्द्रीयमंत्री तथा राष्ट्रवादी वयोवृद्ध नेता श्री राजबहादुर (भरतपुर) ने, राजस्थान के मुख्यमंत्री श्री शिवचरण माथुर को जो पत्र लिखा है, वह स्वयं में स्पष्ट है और भाषावादी भय और राजस्थान राज्य तथा देश की एकता और अखंडता के विषय में चिंता को प्रकट करने वाला है। उसका यहाँ उद्धरण प्रासंगिक होगा :

प्रिय शिवचरण जी,

कुछ समय से मेरा स्वास्थ्य ठीक नहीं चल रहा है अतएव मैं अवकाशप्राप्त जीवन जी रहा हूँ।

तथापि, कभी ऐसी घटनाएँ घट जाती हैं जिससे क्षोभ और चिंता हो जाती है। इस तरह की एक चीज़ हुई है जिससे अपनी जनता में और अधिक विभाजन, पृथकता और विघटन का भय उपस्थित हो गया है जबकि आवश्यकता एकता और संयुक्तता की है।

मुझे ज्ञात हुआ है कि मारवाड़-क्षेत्र में एक ग्रुप उभरा है जो दावा करता है कि मारवाड़ क्षेत्र में प्रयुक्त बोली ही राजस्थानी'' है और यह मारवाड़ी बोली, हिन्दी से भिन्न और पृथक् भाषा है। यह गुट पूर्णतः अन्य बोलियों के अस्तित्व की उपेक्षा करते हैं, यथा, ''मेवाड़ी'', ''हाड़ौती'', ''ढूँढाड़ी'' और ब्रजभाषा आदि। यह ग्रुप यह भी दावा करता है कि ''राजस्थानी'' की लिपि देवनागरी नहीं, महाजनी लिपि है। वह इस सीमा तक भी चला गया है कि राजस्थानी-हिन्दी शब्दकोश'' का निर्माण कर। करा रहा है और सम्बंधित राजकीय विभाग पर दबाव डालकर कोशिश कर रहा है कि इसे मान्यता मिले और इसे राजकीयप्रकाशन मान लिया जाए।

यह सब, सार्वभौमिक रूप से स्वीकृत हिन्दी और देवनागरी लिपि तथा हिन्दी भाषा भाषियों की एकता पर सीधा धन प्रहार है।

यदि एक स्थानीय बोली के लिए अविवेकपूर्ण और संकीर्ण दृष्टि से उत्पन्न भाषायी, उन्माद को सह लिया गया और सम्बन्धित विभाग द्वारा मौन स्वीकृति द्वारा प्रोत्साहित किया गया तो इससे जनएकता नष्ट होगी और अपने राज्य को भी, अन्य राज्यों की तरह, भाषायी-झगड़ों का सामना करना पड़ेगा।

मैं इस भाव से प्रेरित होकर अपने मस्तिष्क पर लदे चिंताभार को उतार दिया है और मैं आपको, जनएकता तथा अक्षतता के संदर्भ में उचित कार्यवाही के लिए लिख रहा हूँ।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इस पत्र के उत्तर में आपके कतिपय शब्दों की अपेक्षा करेगा।

भवदीय
राजबहादुर
एन-३३, पंचशील मार्ग,
नई दिल्ली-११००१७
दूरभाष: ६४३६४७७

दिनांक–१२-३-१९८८

मैं समझता हूँ कि श्री राजबहादुर जी की चिन्ता हम सबकी चिन्ता है और राजस्थान राज्य की अखंडता तथा सभी जनभाषाओं के साथ न्याय कीदृष्टि से यह ज़रूरी है कि सभी विद्वान् और लेखक इस बिन्दु पर विचार करें और तब एक बुद्धिमानी की राय बने।''

इस सम्बन्ध में यह भी आवश्यक है कि सभी प्रकार के शोषणों और विषमताओं का विरोधी प्रगतिशील लेखक संघ, विशेषकर ''राजस्थान-प्रलेस'', गंभीरता से जननिष्ठ दृष्टि से भाषा समस्या पर विचार करे और अध्यक्ष मंडल के सदस्य भी मरुधर मृदुल और महामंत्री वेद व्यास से कहे, कि वे अविलमब उक्त रिट पिटीशन से, राजस्थान प्रलेस का नाम हटाएँ।

मुझे यह भी लग रहा है कि भारतवर्ष के विभाजन में किस तरह उर्दू के सवाल को हवा दी गई थी, उसी तरह विघटनकारी शक्तियाँ, देश में भाषा समस्या को भड़काकर पुनः पुनः विखंडन कराने के दुष्चक्र में हैं अतएव लेखकों और विचारकों आदि को इसका जम कर विरोध करना चाहिए।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हिन्दी लेखन की नई दिशाएँ—कविता

बदलती वास्तविकताओं के दबाव को हिन्दी के अधिकतर कविता लेखक महसूस कर रहे हैं। १९६५ से १९७५ तक की कालावधि में कविता में जो सपाट आक्रामकता, मुक्त-व्यंग्य और विकट विद्रूप था, वह आठवें दहाक के अंत तक आते आते, शायद आपात्काल के प्रभाव से, अपना बड़बोलापन खोकर, अधिक बारीक और आंतरिक हो गया है, जैसे अब कवि अधिक गहराई में उतर कर बोल रहा हो। उदाहरण के लिए "अभी बिल्कुल अभी" में केदारनाथ सिंह की "चुनाव की पूर्व संध्या पर" शीर्षक कविता, पूर्ववर्ती कविताओं से भिन्न, यथार्थ से सीधे टक्कर लेती जान पड़ती है :

भेड़िये ने फिर कहा है
अपने जबड़ों को खुला रखें
यह सारा देश, उसमें झांक कर देखना चाहता है
अपना चेहरा, अपनी आँखें, अपना ललाट
......शहर को ज़हरीली गैसों से
अब भी बचाया जा सकता है, अगर
सिर्फ़ पता चल जाये कि सड़क पर
पहला जो आदमी मिलेगा
उसका नाम क्या है
या फिर अगले बजट में,
कितने विशेषण और सर्वनाम होंगे !

षष्ठ दर्शकीय "नयी कविता" के अमूर्तन और सौन्दर्य-बोध को छोड़कर, वास्तविकता, जीवन के स्पष्ट असौन्दर्य की पकड़, खासकर रघुलेर सहाय, केदारनाथ सिंह और गिरिजाकुमार माथुर की कविताओं तथा इधर की कविताओं को नयी दिशा देती है। अतः उनकी भाषा में भी जो पहले छायावादात्मकता थी, अनुभूतियों में जो छायाभास था, वह कम होता गया है।.

किन्तु यही बात समग्रतः सप्तम दशक में उभरे कवियों के विषय में नहीं कही जा सकती। मसलन् "महास्वप्न का मध्यान्तर" में कैलाश वाजपेयी में नयी दिशा इतनी ही है कि कहीं-कहीं कवि सर्वातीत होने का उपक्रम करता है वरना अधिकांशतः वह अपने हृदय की पूर्ण नफ़रत के साथ वर्तमान सामाजिक व्यवस्था को अनावृत करता है :

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

"एक ऐसे समाज में जगह खोजते हुए, जहां हर कोई, किसी और के पैरों पर खड़ा है और दिन को न ठीक से दिन कहना ठीक है, न रात को रात। मैं एक खोखली तलाश हो गया हूँ।"

कविता की वापसी

"ताप के ताए हुए दिन" में त्रिलोचन और "खिचड़ी विप्लव देखा हमने" में नागार्जुन अपने बार-बार आज़माये हुए काव्य कौशल का ही प्रयोग करते हैं। यहाँ जनवादी कविता क्लासिक-प्रौढ़ता प्राप्त करती जान पड़ती है, किन्तु पुराने प्रगतिशील कवियों–शमशेर, त्रिलोचन, केदारनाथ अग्रवाल के नवीनतम लेखन में भी कोई नयी काव्य-दिशा या अभिव्यक्ति के नये प्रयोग नहीं मिलते। अधिकांशतः कवियों की पूर्ववर्ती रचनाओं का अब प्रकाशन हो रहा है और इससे भ्रम होता है कि कविता की वापसी हो रही है जबकि यह वापसी, पूर्ववर्ती कविता-प्रकारों और बहुप्रयुक्त अनुभूतियों की ही है, क्योंकि जिस तरह, साठोतरी कविता में पूर्ववर्ती कविता से गुणात्मक भिन्नता दिखायी पड़ी थी, वैसा स्पष्ट विभाजक-बिन्दु अभी नहीं आया है अर्थात् साठोतरी कविता में व्यवस्था-विरोध, विद्रोह और आक्रोश ने, कविता का जो कायापलट किया था, वही क्रम अभी तक चल रहा है।

इसका कारण यह है कि यह अहसास अब सार्वजनिक हो गया है कि दोष व्यक्ति का उतना नहीं, जितना सामाजिक राजनीतिक-सांस्कृतिक संरचना या व्यवस्था का है, क्योंकि व्यवस्था ही एक ऐसा वातावरण बनाती है, जिसमें व्यक्ति बनता बिगड़ता है। इस मूल अनुभूति और बोध को हम साम्प्रतिक कवितामें स्पष्ट देख सकते हैं अतः कविता की दिशा और लक्ष्य अथवा परिवर्तन की पुकार में कोई अंतर नहीं आया है, अंतर इस अनुभूति के गुण और मात्रा में आया है। इधर की कविता में, विद्रोह या आक्रोश सघन या प्रगाढ़ होता गया है और उफान कम हुआ है।

राजस्थान के ही कतिपय कवियों को लेकर इस प्रवृत्ति को परखा जा सकता है। श्री नंद चतुर्वेदी, डा. जयसिंह नीरज, ऋतुराज, हरीश भादानी की इधर की कविताओं में स्थिति-बोध का विश्लेषण अधिक है अथवा वस्तुस्थिति को समझाने के लिए तर्कशीलता है। हरीश भादानी में भावावेश अभी भी अधिक है और यह योगेन्द्र किसलय के "प्रलाप" में सर्वाधिक है, किन्तु यह वेधक-उद्वेग समूची व्यवस्था को उखाड़ता-पछाड़ता है और 'धूमिल' की कविता को नैरन्तर्य देता है। जय सिंह नीरज ने "पांचू कुम्हार" में स्थितियों को व्यक्ति के चित्र देकर लिखा है।

सामाजिक अहसास से जुड़ी कविताएं

सप्तम दशक में, हिन्दी कविता की एक धारा में सब कुछ को नकारने की प्रवृत्ति थी। निषेध की यह प्रबलता 'अकविता' में अधिक थी, किन्तु अब दिविक रमेश के एक सम्पादित काव्य संग्रह का नाम ही 'निषेध के बाद' है यानी हिंदी कविता में सर्व निषेध के स्थान पर मात्र अवांछनीय की ही नकार का रुख आया है। 'निषेध के बाद' के कवियों

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मे अतुल अरोड़ा, अब्दुल बिस्मिलाह, अवधेश कुमार, चन्द्रकांत देवताले, मालती शर्मा, राजेश जोशी, श्याम विमल, सोमदत्त, विश्वम्भरनाथ उपाध्याय आदि कविता लेखक हैं और इन सब की रचनाओं में समष्टि की त्रासदी को, व्यक्ति के माध्यम से कहने की कला है अर्थात् आप बीती के तरीके से सर्वव्यापी दुःख, कष्ट, शोषण और अन्याय की ओर पाठक का ध्यानाकर्षण किया गया है।

इस वैयक्तिक-विधि के कई उपयोग हैं। इससे कवि का कथ्य वक्तव्य नहीं बनता, वह अनुभूत सत्य बन जाता है क्योंकि व्यक्तिगत धरातल से उठायी गयी बात में अनौपचारिक स्वर रहता है और कविता भाषण से बच कर, आत्मपरामर्श या संवाद या बातचीत का रूप लेती है। इस विधि में सपाटता की जगह वास्तविकता का आंतरिकीकरण अधिक होता है, 'निषेध के बाद' में छपी हमारी पंक्तियों को देखें :

तांबे के तारों से बना हूँ
विद्युत दौड़ती है त्वरित
किसी तिनके की नोंक तक
मुझ से सहन नहीं होती
मैं सूंघ कर बता सकता हूँ
कि इस भीमकाय पहाड़ में दर्रे कहाँ हैं
और किन-किन घाटियों से
सिंहों की दहाड़ उठती है !

यहां व्यवस्था के लिए 'भीमकाय पहाड़' और मुक्ति मार्ग के लिए दर्रे का प्रयोग हुआ है। सुरेश ऋतुपर्ण, राजेश जोशी जैसे युवा कवियों ने बच्चों और चिड़ियों के ज़रिये, सामाजिक-संकटों को इंगित किया है, यानी, अब कवि स्थितियों का सीधा खुलासा न कर, दुर्गतियों को सूचीबद्ध न कर, किसी व्यक्ति, पशु, पक्षी या किसी प्रकृति-दृश्य पर ध्यान जमाता है और फिर धीमे से, मनुष्य विरोधी शक्तियों या संरचनाओं की ओर इशारे कर देता है। राजेश जोशी ने, ''एक दिन बोलेंगे पेड़'' में, बच्चे पर सांकेतिक कविता लिखी है–''एक बच्चा, करीब सात-आठ के लगभग अपनी छोटी-छोटी हथेलियों में गोल-गोल घुमाता है गेंद। उसने हवा में उछाल दिया। सूरज ! तुम्हारी उम्र क्या रही होगी उस वक्त ?''

लेकिन सर्वत्र ऐसा नहीं है। अप्रत्यक्ष विधि अपना कर चलने वाले कवि भी, बीच-बीच में प्रत्यक्ष और प्रहारक हो जाते हैं और व्यंग्य और विद्रूप से जनघाती निज़ाम और जननियतिनिर्धारकों पर चोट करते हैं। 'वेणु गोपाल प्राक्सी नं.......१' में यही प्रत्यक्षता अपनाते हैं।

''जो सड़क पर गिरा, वह न तो नेता था और न अभिनेता। सिर्फ़ नेता की ग़ैरहाज़िरी में उसकी ''प्राक्सी'' कर रहा था। दरअसल रिहर्सल हो रही थी और कानून और व्यवस्था ने गलती से उसे नाटक का ''शो'' समझ लिया था और अपना सनातन रोल निभाते हुए

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

फायरिंग करवा दी थी और वह मारा गया था प्रॉक्सी करते हुए।" (हवाएँ चुप नहीं रहतीं" ।)

भवानीप्रसाद मिश्र और नरेन्द्र वशिष्ठ इस प्रत्यक्षता के विपरीत कठोर सत्य को कोमल तरीके से कहते हैं, जबकि मनोज सोनकर। ("घंटाघर" ।), अब्दुल बिस्मिल्लाह, पुरुषोत्तम प्रशांत जैसे नवयुवक कवि सीधी मार का विकल्प अपनाते हैं। और दरअसल, प्रौढ़ और नयी उम्र के कविता लेखकों में दिशा एक होने पर भी प्रत्यक्षता और अप्रत्यक्षता की विधियों में अंतर है। यों ऐसे कवि भी हैं जो प्रौढ़वयस् होने पर भी, औद्धत्य और अमर्ष में युवाओं को भी मात दे जाते हैं। नागार्जुन की "हरिजन गाथा" ऐसी ही प्रसिद्ध कविता है।

"चतुर्थ तारसप्तक" के कवियों–कवपयित्रियों की रचनाओं मे वैयक्तिकता अधिक है और इसलिए अमूर्तन और अंतर्मुखता भी। प्रयाग शुक्ल के "यह एक दिन है" में– प्रकृति के मामूली दृश्यों को ग़ैरमामूली नज़र से देखा गया है। दूसरे धरातल पर अमृता भारती, वीरेन्द्र कुमार जैन, अज्ञेय और नरेश मेहता की इधर की रचनाओं की दिशा सांस्कृतिक औदात्त्य और कहीं-कहीं रहस्यवाद भी है। यह "नवरहस्यवाद" "नवरोमांसवाद" के साथ, हिन्दी कविता में चल रहा है किन्तु वह परिधि पर है। केन्द्रवर्ती धारा अभी भी सामाजिक-चेतना के प्रज्वलन की है। यह दूसरी बात है कि कविता अब विस्फोटक न बनकर, कली की तरह खिलती हो या उसमें, आक्रोश के ठहराव के कारण घनीभूत गुस्सा, राग की तरह गूँजता हो पर तथ्य यही है, और हिन्दी क़विता का केन्द्रीय लक्ष्य यही है कि रचना का सम्बन्ध, नयी सामाजिक संरचना से हो और वह मनोगतियों के पूरे वैविध्य के साथ व्यक्त हो।

हिन्दी कविता में सार्थकता बोध

ताजालेखन के लिए पत्रिकाओं के काव्य-विशेषांक महत्त्वपूर्ण होते हैं। अलवर की "कविता" शीर्षक पत्रिका, जयपुर की "मधुमाधवी" त्रैमासिकी "सनीचर" का कविता-विशेषांक, संचेतना का कविता विशेषांक, और ऐसे ही अनेक कविताओं के विशेषांकों में आज के कविता लेखन पर दृष्टिपात् करने से यह ज्ञात होता है कि आज की कविता की दिशा भी पूर्वनिश्चित है यानी सामाजिक–बदलाव की दिशा किन्तु, इन कविताओं में, अपने पूर्वविन्यासों से बचकर कुछ नया करने कहने की प्रवृत्ति है। यदि कथन प्रकारों या अभिव्यक्त विधियों का आकलन किया जाये तो सिद्ध होगा कि पिछले कुछ वर्षों, में हिन्दी कविता बात कहने के नये अंदाज़ ढूँढती रही है और उसका अन्दाज़ेबयाँ "सार्थक वक्तव्य से सार्थक संकेत" की ओर बढ़ा है।

रीतिकाल को छोड़कर, हिन्दी कविता विरोध की कविता रही है। उस विरोध के बीच अन्य कोमल मधुर मनःस्थितियों में भी कवि गये हैं किन्तु समग्रतः चिंता, सामाजिक-परिवर्तन और राजनीतिक संरचना में परिवर्तन पर व्यक्त की गयी है, अतः आज की कविता में भी कथ्य प्रधानता प्राप्त कर लेता है। कवि मात्र रूप पर श्रम नहीं करता, वह कथ्य अथवा वस्तुस्थिति के बोध से उपजे ग़म, गुस्सा या पलायन की स्थिति में सौन्दर्य

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रियता के मूड में बहता है और उसी प्रवाह या निमग्न स्थिति में लिखता है। इस मानसिकता में मात्र रूप या कला पर अतिरिक्त एकाग्रता संभव नहीं है किन्तु इसका यह अर्थ नहीं है कि हिन्दी कविता के आज के दौर में बातों को कहने के नये लहज़े नहीं हैं या सर्वत्र मात्र दुहराव है। लीलाधर जगूडी के "घबराये हुए शब्द" जैसे ताजा-कविता संग्रहों में यह कविता लेखक अपने पूर्व ढाँचों को तोड़ता है और आकर्षक सूक्ति-संग्रह के स्थान पर, अब बेधक वर्णनों की ओर बढ़ता है। इससे अमर्ष फेनिल न रह कर वास्तविकता और प्रकृति के दृश्यों के रूप में रूपायित होता है, अतः कथ्य में सम्पूर्णता और बिम्बात्मकता आती है :

"हो सकता है सुबह की ट्रेन से, वह आपके शहर आया हो, हो सकता है, आप से मिलते ही, भौंचक आदमी के चेहरे से वह मिलता-जुलता हो जाये। सूचना अलग से देने की जरूरत नहीं, ज्योंही वह मिलेगा, भाषा में खुद-ब-खुद घण्टी बज उठेगी।"

निष्कर्ष यह कि हिन्दी कविता की दिशाएं तो पूर्व निर्धारित हैं किन्तु उसकी दशाओं में बराबर नवीनताएं आ रही हैं और भाषा में कविता की घण्टी बजने लगी है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

व्यंग्य साहित्य सृजन—राजस्थान के परिप्रेक्ष्य में

हास्य और व्यंग्य, विशेषकर व्यंग्यं को समाज और जीवन की विसंगति के बोध का परिणाम माना जाता है। बर्गसों ने "हास" (लांफटर) शीर्षक प्रसिद्ध ग्रन्थ में भी इसी तरह चिन्तन किया है। जो स्वीकृत रीतिनीति या आचार-शिष्टाचार (नार्मस) होते हैं, उनके विपरीत आचरण से हास की सृष्टि होती है और ऐसे हास को विशुद्ध हास माना जाता है क्योंकि उसमें स्वीकृत या प्रचलित आचार-व्यवहार से भिन्न व्यवहार को तथा मानव-जीवन और समाज की असंगतियों और विसंगतियों को व्यंग्य का विषय बनाया जाता है क्योंकि असंगति कष्ट कारक, कभी-कभी विनाशक भी होती हैं अतः व्यंग्य एक प्रकार का प्रतिकार या प्रतिशोध होने सें वह चुभनहील होता है। प्रसिद्ध अंग्रेजी कवि अलेक्जैंडर पोप ने व्यंग्य पर लिखी कविता मे कहा था कि व्यंग्य, हथियार होता है जिससे सब डरते हैं। व्यंग्य सुधार के काम आता है, सीख के काम आ सकता है, ध्वंस के काम आ सकता है और हृदय परिवर्तन एवम् बोध के बदलाव के भी काम आ सकता है। समकालीन व्यंग्य साहित्य लेखन व्यापक बदलाव की भूमिका अदा करने में संलग्न है।

सरल, शुद्ध हास की तुलना में व्यंग्य अधिक लिखा जाता है क्योंकि सामाजिक राजनैतिक-आर्थिक अंतर्विरोधों की भरमार हैं। अंतर्विरोध नहीं होंगे तो रस पनपेगा, व्यंग्य नहीं, हास उपजेगा, विडम्बना और वेधक लयंग्य नहीं किन्तु आजादी के पूर्व और विशेषकर स्वाधीनता प्राप्ति के बाद हिन्दी में विषमताओं और तज्जन्य विसंगतियों की जो बाढ़ आई है, उसके प्रति सचेत होने से व्यंग्यकारों की पंक्ति बढ़ती चली गई है और हिन्दी में हरिशंकर परसाई, रवीन्द्रनाथ त्यागी, शरद जोशी जैसे उत्तम व्यंग्यकार हैं। राजस्थान में भी व्यंग्य साहित्य का सृजन हुआ है।

यों तो व्यंग्य, कविता-कहानी-आलोचनात्मक लेखन में भी हैं किन्तु शुद्ध व्यंग्य लेखकों में राजस्थान में श्री पूरन शर्मा, डॉ. धनराज चौधरी, श्री मालीराम शर्मा, भगवतीलाल व्यास, डॉ. प्रेमचंद गोस्वामी, त्रिभुवन चतुर्वेदी, ओम शर्मा, मंगल, बादल आदि हैं। राजस्थानी भाषा में, सांवर दइया, बुलाकी शर्मा, पूरन शर्मा, त्रिलोक गोयल, बुद्धिप्रकाश पारीक जैसे कई व्यंग्यकार हैं।

संग्रहों की दृष्टि से सर्वाधिक-पुस्तकें पूरन शर्मा की प्रकाशित हुई हैं, "एक थी बकरी", आत्महत्या से पहले", "स्वयंवर : आधुनिक सीता", तैमूरलंग का तोहफा, चमचे का जन्म, वगैरः। पूरन सरमा के कविता-संग्रह "शब्दों के सलीब", में भी व्यंग्यात्मक कविताएं हैं :

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

"ये मनहूस हैं, उन्हें रोटी नहीं मिलती
ये भूख से दम तोड़ते हैं, समझे बच्चे
उनकी शक्ल कभी मत देखना!"

यहाँ उच्चभ्रू वर्ग पर व्यंग्य हैं किन्तु प्रत्येक व्यंग्यकार की तरह पूरन शर्मा के व्यंग्य की पृष्ठभूमि में भी मानव प्रेम और मानव करुणा हैं। यह आधार हैं जिसके सहारे, जिसके माध्यम से, व्यंग्यकार मानवविरोधी वर्गों, व्यक्तियो और शक्तियों का अनावरण कर जनता को सचेत करता है ताकि वह अपने प्रतिकूल तत्त्वों को पहचान कर संघर्ष करे

"......मानसून आया और मुख्यमंत्री के सामने हाथ बांधकर खड़ा हो गया। मुख्यमंत्री ने पूछा, "कौन हो तुम?" "मैं मानसून हूँ। आप कहें तो आपके वासन में बरस पड़ूँ–

......मुख्यमंत्री ने कहा, ऐसा है मानसून जी, थोड़े दिन आप यहीं रहें। मैं आपका केस आज (फाइल पर)–चलाऊँगा। लगभग एक महीने में आपको परमीशन मिल जाएगी।"

नौकरीशाही-नेताशाही-तस्करशाही-बुद्धिजीवीशक्ति साहित्यकारी-रोमान्स-रिश्वतखोरी-गरज़, अनेक सामयिक विषयों पर पूरन शर्मा ने लिखा है। वह साहित्यकारों के पाखण्डों-प्रपंचों को भी उधेड़ते हैं और साहित्य की संस्थाओं को भी : "साहित्य-अकादमी ने आयोजन के लिए पांच हज़ार रुपए दिए हैं–

तथा खर्चे के हजार मैं ले जाऊँगा–शेष आयोजक डकारेगा......ऐसे में बचे साहित्यकार सोंएं नहीं तो जागकर क्या लेंगे?"

व्यंग्य की शक्ति, असंगति की पकड़ में होती हैं और उक्ति की वक्रता में। दोनों में "पूरन सरमा निपुण हैं"–"यदि आप प्रेमिका के साथ आत्महत्या करने जा रहे हैं, तो आप पानी में डूब कर मरने को वरीयता दें। ऐसे मामलों में ट्रेन से कटना और ज़हर आदि खाना, आपकी जान के लिए खतरनाक हो सकता है......पानी में पहले प्रेमिका को डूबने दें.....उसके डूब जाने पर......आप घर लौट आएँ।"

चूँकि आलोचक और तथाकथित बड़े या गंभीर साहित्यकार व्यंग्य : हास को साहित्य सृजन से बाहर रखते हैं अतः पूरन सरमा उनका जमकर बार-बार मज़ाक़ उड़ाते हैं। पूरन सरमा के व्यंग्य की विशेषता यह भी हैं कि वह कटु नहीं होते। वह हल्का-फुल्कापन बनाए रहते हैं किन्तु वह प्रत्येक स्थिति में छिपे व्यंग्य को पहचान लेते हैं किन्तु विडम्बक और विध्वंसक भंगिमा नहीं अपनाते अतएव वे हँसाते अधिक हैं, वे तिलमिलाते नहीं हैं।

डॉ. धनराज चौधरी के व्यंग्यों में शालीनता किन्तु मूलगामी असंगति बोध अधिक है। कहते हैं : "अंतराष्ट्रीय विवाद की फाइल को मोटा करने हेतु भेजे गए विरोध पत्र क्वान्टा और जनता के उज्ज्वल भविष्य के सपने दिखाने के लिए समाजवाद नामक अफवाह-तरंग हैं......एक योजना चलाने हेतु "क" राष्ट्र से उधार लेते हैं और उसका कर्ज अदा करने हेतु ख की ओर ताकते हैं......।" "गौतमबुद्ध और दुःखी आत्मा :" के व्यंग्यों में धनराज चौधरी ने साबित किया है कि वैसानिक मात्र पदार्थ और प्राणी जगत्

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

के ही पर्यवेक्षक नहीं होते उनमें डॉ. धनराज चौधरी जैसे सहृदय और अहले नज़र वैज्ञानिक भी हैं जो समाज के भी सूक्ष्म निरीक्षण में पटु हैं और वे व्यंग्यों से अवांछनीयों को वेध रहे हैं।

चित्रकार डॉ. प्रेमचन्द गोस्वामी भी कभी-कभी व्यंग्य लिखते हैं, लिख सकते हैं। स्वभावतः जनसंवेदना उन्हें व्यंग्य की ओर उन्मुख करती हैं, लिखा है : "धोखे के साथ (राजनेता) गरीबी हटाने का मसला मिलाते हैं तो कभी बेकारी और बेरोजगारी को जड़ से उखाड़ने की जड़ी-बूटी।"

राजस्थान में तीन व्यंग्य स्तम्भकारों ने सबका ध्यान आकर्षित किया है, श्री ओम शर्मा, पूरन सरमा और श्री मालीराम शर्मा। इनमें पूरन सरमा में बांकपन हैं किन्तु ओम शर्मा के व्यंग्य लेखन में वह वक्रता और बात में से बात निकालने, बात से बात बटने या बातों की बुनावट करने की शक्ति अधिक है। बहुविषय स्पर्शिनी श्री ओम हार्मा की लेखनी रोज, राजस्थान पत्रिका की "बात-करामत" में......अपनी व्यंग्य की धार दिखाती हैं। वह किसी भी विषय पर लिखते हैं लेकिन उनकी तान राजनीति के विरोधाभासों पर ही टूटती हैं : ......धन की कोई कमी तो नहीं है लेकिन अपना धन चुनाव में कोई शेखचिल्ली ही लगाता होगा। अपने धन से तो आजकल लोग उद्योग धंधे भी नहीं करते आप चुनाव में लगाने की बात करते हैं......उनकी हारजीत में मेरी कोई दिलचस्पी नहीं है लेकिन......जनतंत्र को जातितंत्र और धनतंत्र बना डालने मे सक्रिय हैं। (आज. पत्रिका, ८ फरवरी, १९९०)।

श्री पूरन सरमा और श्री ओम शर्मा, राजस्थान के शरद जोशी हैं किन्तु अभी तक हरिशंकर परसाई की व्यंग्य-सामर्थ्य के स्तर को उपलब्ध किया जाना है। श्री मालीराम हार्मा "नवज्योति" में लगातार व्यंग्य लिख रहे हैं, किन्तु वाणी में वक्रता का अभाव होने अथवा बातों के रचाव की ताकत कम होने से उतना आकर्षण नहीं पनपता किन्तु श्री मालीराम शर्मा......जनता की असली हालात से शुरू करते हैं, प्रायः कोई प्रसंग उठाते हैं फिर उस प्रसंग से उस स्थिति में निहित व्यंग्य को निकालते हैं।

राजस्थान के व्यंग्य लेखन को पढ़ने से, ठोस। वास्तविक जनसमस्याओं का पता चलता है यह कि कहाँ कौन-सीं, जनोद्धार में बाधाएं तथा बाध्यताएँ, हैं। कौन व्यक्ति या वर्ग हैं जो राजस्थान तथा देश के जनसाधारण का नाश कर रहे हैं, उससे चुनाव में समर्थन पाने के लिए उसे बोट बना रहे हैं, बनाते आ रहे हैं। यह जो आम आदमी के बोट बन जाने की नियति हैं उसे हमारे व्यंग्यकारों ने पहचाना है और इसको बदलने के लिए पाटकों को उकसाया है।

जहाँ तक व्यंग्यविधि का प्रहन है, हमारे व्यंग्यकारों ने, अन्य सभी व्यंग्य लेखकों की तरह, जनविरोधी-मानव मूल्य विरोधी और अवांछनीय तत्त्वों के डीग्लोरीफ़िकेशन की पद्धति अपनाई है। समाज में अपनी धन-शक्ति और अन्य छलों-बलों से व्यक्तिऔर वर्ग, अपने को महिमान्वित कराने में, अपने गौरव-यश-प्रतिष्ठा-मानसम्मान को स्थापित

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

करा लेने में सपल हो जाते हैं। वे सुहावने ढोलों की तरह-सर्वय बजते-गूँजते हैं किन्तु भीतर पोल होती हैं। राजस्थान के व्यंग्यकारों ने इस ढोल की पोल खोली है, और उन्होंने निरन्तर प्रपंचों-पाखण्डों को निर्वसन किया है। इस व्यंग्य साहित्य का मूल्य यह है कि इसे पढ़े बिना राजस्थान तथा देश की व्यवस्था और बेहूदगी का ब्यौरा नहीं मिल सकता। भूल कहाँ हो रही है, अभव्यता कहाँ है, अमनुष्यता किस कारण हैं,......असुन्दरता के लिए कौन उत्तरदायी हैं, यह परिज्ञान राजस्थान के व्यंग्य लेखन से हो सकता है।

जिस तरह १८-१९वीं शताब्दी में इंग्लैंड में और ह्विग और टोरी राजनैतिक संगठनों के द्वन्द्व में व्यंग्यकारों ने अपने-अपने पक्ष चुनकर प्रतिपक्षियों के विरुद्ध ज़ोरदार व्यंग्य लेखन कर अँग्रेजी गद्य को सशक्त और पैना बनाया था, उसी तरह हिन्दी और अन्य भारतीय भाषाओं के व्यंग्य लेखन से भारतीय गद्य को वेधकता मिली है। अब कोई पोप, स्विफ्ट और ऐसे ही विश्वविख्यात व्यंग्यकारों से राजस्थान के व्यंग्यकारों से तुलना करे और उसे "गुलविर ट्रैविल्स" जैसी व्यंग्यकथा न मिले तो निराशा या हीनभाव का कोई कारण नहीं है क्योंकि जिस तेज़ी और तीखेपन के साथ राजस्थान में व्यंग्यसाहित्य का सृजन हो रहा है, उससे आशा बँधती है कि अपनी सजीवता या जिन्दादिली, वाणी के बाँकेपन और यथार्थ के अवलोकन की शक्ति के बल पर भविष्य में व्यंग्यसाहित्य अपनी चरम सीमा उपलब्ध करेगा। इसके लिए व्यंग्य को गंभीरता से लेने की जरूरत है व्यंग्यकार का अध्ययन-अवलोकन, समझ और बौद्धिक जागरूकता का वृत जितना ही बड़ा होगा गहरा, उतनी ही उसके व्यंग्य में वास्तविकता को व्यंजित करने की बारीकी आएगी,.....उतनी ही विडम्बक-हाक्ति (आयरनी) बढ़ेगी अन्यथा वह अपने को हल्केपन, सतही प्रतिक्रियाओं अथवा जर्नलिस्टी या पत्रकारात्मकता से बचा नहीं सकता......अभी तक साहित्य में जिस तरह हास्यकविता को उच्च्व सृजन से निम्नस्तरीय माना जाता है, उसी तरह व्यंग्यलेखन को उच्च्व कोटि के सृजन में नहीं गिना जाता। राजस्थान के व्यंग्यकारों के सम्मुख चुनौती यह है कि अपने व्यंग्य-सृजन को गंभीरता से लें, तब उन्हे अपने रचनाकर्म पर गौरव की अनुभूति होगी, आलोचकों को भी।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रतिक्रिया

'जाग मच्छन्दर' गोरख आया' के विषय में यह टिप्पणी इसलिए दी जा रही है कि प्रथम संस्करण से अनेक रोचक भ्रम उपजे और उपन्यास के मूल मंतव्य के विषय में ही शास्त्रार्थ की स्थिति आ गई, प्रसन्नता और गौरव का विषय यह रहा कि प्रायः सभी आलोचका-समीक्षकों और व्याख्याकारों ने इस उपन्यास को उपन्यास रूप में सराहा यों प्रशंसा के प्रेरक कारण तर्क भिन्न-भिन्न रहे।

प्रथम भ्रम यह हुआ, कई टिप्पणीकों को कि यह उपन्यास किसके विषय में है? पाठकों को शायद याद हो कि मत्स्येन्द्रनाथ नाम से यह उपन्यास 'मत्स्येन्द्रनाथ' नाम से ही, 'धर्मयुग' में छपा था। अन्य कई अध्याय, मधुमाधवी, मधुमती, निकष (अब 'विषयवस्तु') आदि साहित्यिक पत्रिकाओं में प्रकाशित हुए थे। अर्थात् इसका प्रचार 'मत्स्येन्द्रनाथ' नाम से ही हुआ था और 'जाग मछन्दर गोरख आर्या' इसका उपशीर्षक था।

प्रकाशक महोदय ने, उपशीर्षक को मुख्य शीर्षक शायद इसलिए कर दिया क्योंकि 'जाग मछन्दर गोरख आया' लोकप्रसिद्ध उक्ति है और उससे, जनता में विख्यात जोगियों की कथा, उपन्यास के प्रति पाठक को स्वभावतः आकर्षित कर देगी। यह हुआ भी क्योंकि यह गोरख द्वारा मछन्दरनाथ के उद्धार की चमत्कारक कहानी जगजाहिर है और वह लोकमानस की गहराइयों में उत्तर चुकी है। यह कहानी, मिथक भी है, निजन्धर या गाथा (लीजेण्ड) भी है, रहस्यमय कल्पना भी है और इतिहास भी है। सब कुछ इस लोकवृत्त या लोकवार्त्ता (फोकटेल) में मिलजुल गया है अतः यह एकरेखीय नहीं, बहुआयामी, बहुधरातलीय, परत-दर-परत वाली दास्तान, है जिसमें कई अर्थ या अभिप्राय एक साथ लिपटे हुए हैं, जिन्हें बहुत बार अलगाना भी मुश्किल हो जाता है क्योंकि रहस्यमय अंतर्वस्तु वाली लोकवार्त्ताओं को खोलते वक्त यह लगता है कि केला या प्याज की पर्त उतारते-उतारते जैसे अन्त में कुछ नहीं निकलता, उसी तरह, लोकावचेतन में काल की दूरी के कारण जो स्थितियों और पात्रों के विषय में जो एक रहस्य सा छा जाता है और कोई ठोस चीज़ अन्त में नहीं मिलती।

यह रहस्य, 'मत्स्येन्द्रनाथ' (मछन्दरनाथ) और वाममार्ग के विषय में बहुत अधिक मात्रा में है क्योंकि यह साधना इन्द्रियभोग से, इन्द्रियातीत अनुभवों तक पहुँचाने का दावा करती थी और इसलिए, सहज या सुखकर होने के कारण, इतिहास की एक अवधि में बहुत प्रभाव डाल चुकी थी अतः मेरे मन में यह जिज्ञासा थी कि अन्ततः इस भोग से

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

योग की साधना का पतन क्यों और कैसे हुआ ? ऊपरी कारण तो स्पष्ट थे, जैसे सामाजिक-नैतिकता को न मानना और स्वेच्छाचार, विधि-निषेध का अतिवादी विरोध आदि परन्तु मनोवैज्ञानिक कारण यानी भीतरी मुख्य अंतर्विरोध क्या था ? भोगवाद की मूल असंगति क्या है ?

पुराने समाजों में उच्चभोक्ता वर्ग भोगवादी था और आधुनिक युग में पूंजीवादी भद्रसमाज भी उपभोक्ता-समाज (कन्ज़्यूमर-सोसायटी) है अतः मैं मत्स्येन्द्रनाथ के साधनमर्ग की कहानी कहकर, उसके विशद मनोविज्ञान को यथासंभव तटस्थ होकर प्रस्तुत करते हुए, उस वाम या वामा-साधना के दर्शन और तर्क को, संक्षेप में सामने लाकर उसके पतन या ह्रास के वर्णन द्वारा यह मंतव्य सम्प्रेषित करना चाहता था कि व्यक्ति की दृष्टि से भोगवाद असमर्थनीय है क्योंकि वह ऊर्जा की अनन्तता की पूर्वकल्पना (एज़म्पशन) पर आधारित है। चूँकि ऊर्जा सीमित है, असीमित नहीं अतः मनमाने भोगविलास को अनुभव या साधना या विश्रान्ति का माध्यम बनाना अयुक्त है और सामाजिक परिवर्तन की तीव्रती की दृष्टि से संयम की साधना ही वरेण्य है क्योंकि वह ऊर्जा की रक्षा करती है, उसके सामाजिक और व्यक्तिगत उत्थान या ऊर्ध्वीकरण में प्रयुक्त करती है।

अतः मत्स्येन्द्रनाथ' ही उपन्यास के केन्द्रीय पात्र हैं, नायक भी कह सकते हैं। उनका विरोध-पक्ष (कन्ट्रास्ट) प्रस्तुत करने के लिए गोखनाथ की कथा है अतः उसको कम स्थान दिया गया है ताकि मत्स्येन्द्र की साधना या भोग या साधनात्मक भोग या भोगात्मक साधना को पूरे रंगरोग़न के साथ पेश करने से गोरक्ष के हस्तक्षेप की आवश्यता महसूस हो। तथापि गोरक्ष के पक्ष की साधना, दर्शन और तर्क को भी प्रस्तुति आवश्यक थी अन्यथा दोनों पक्षों का रूप खड़ा नहीं होता और कला की दृष्टि से भी न्यूनता सी रहती अतः गोरक्ष के व्यक्तित्व और भूमिका को पर्याप्त मात्रा में उभारा गया है। गोरक्ष पर स्वतंत्र उपन्यास आगे लिखा जाएगा।

दूसरा आयाम इतिहास का है। डॉ. गोपीनाथ शर्मा, प्रसिद्ध राजस्थान इतिहासविद् के नवीनतम इहिास (राजस्थान का इतिहास) को पढ़ते समय मुझे आठवीं शताब्दी के अन्त और नवमी शताब्दी के प्रारम्भ के विषय में नए तथ्य मिले। बस, इतना करना था कि गोरक्ष को मैं एकताप्रेरक के रूप में चित्रित कर देता। वही किया है। यह अवश्य है कि मैंने गोरखपंथ को 'गोरख जगायो जोग, भगति भगायो लोग' वाले वैष्णव प्रचार से प्रभावित न होकर गोरक्ष और उनके पंथ को, सम्प्रदाय के रूप में नहीं, एक समसमाजद्रष्टा जनान्दोलन के रूप में देखा है, जिसके लिए अनेक ठोस प्रमाण हैं। उपन्यास में यथास्थान ऐसे संकेत दे दिये गए हैं। आश्चर्य तो यह है कि अपने को 'प्रगतिशील', 'जनवादी' या क्रांतिकारी दृष्टि और मूल्यों का समर्थक मानने वाले भी गोरक्ष के 'जनयोग' को पूरी तरह नहीं समझ सके।

वस्तुतः आगमपरम्परा या तांत्रिक परम्परा के मूल में, सामाजिक दृष्टि से, निगम परम्परा वाली ब्राह्मणवादी यानी वर्णवादी समाजिक संरचना के विरुद्ध विद्रोह की चेतना

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

और चेष्टा थी जो विभिन्न रूपों, मात्राओं और गुणवत्ताओं के साथ प्रकट हुई यथा, वाममार्गी, तांत्रिक बौद्धों-शाक्तों-शैवों की धारा में यह 'व्यवस्था विरोध' अतिवाद पर पहुँच कर भ्रष्ट हो गया। जबकि दक्षिण पंथी या शुद्धाचारी शाक्त-पांचराभ वैष्णव शैव सम्प्रदाय निगम या वैदिक परम्परा यानी ब्राह्मणवादी वर्ण समाज के समर्थक तत्वों में घुल मिल गए अतः समाज में सर्वाधिक बदनाम वाममार्गियों को किया गया क्योंकि वे वर्ण समाज के आडम्बर, भेदभाव और विषमता को घोर विरोधी थे। समाज में समता स्थापित करने में सफल न होने पर भी वे सांकेतिक या प्रतीकात्मक रूप में, साधना प्रसंगों में समता का विनियोग करते रहे अतः हमें भारतीय आगम या वाम-परम्परा में रहस्यमय पहेलियों-सी लगने वाली कथाओं या वृत्तों या मिथकों को वेध कर उसके सारतत्व को पकड़ना-पहचानना चाहिए और उनके साधनात्मक जालजंजाल को उनकी एकांतिक साधना मान कर उसे पृथक् कर लेना चाहिए।

यह तभी सम्भव है जब उस मार्ग के पात्रों और उनके दर्शन और मानसिकता को निस्संग होकर समझा जाए यानी उसे ऐतिहासिक वस्तुगत दृष्टि से देखा जाए और उसके मूल में छिपे सामाजिक और मानवीय सत्य को, उसके सारतत्व के रूप में ले लिया जाए। मिथकों या रहस्यों के भीतर जो विवेकात्मक गिरी या गुठली होती है, उसे पाया जाए। कार्लमार्क्स ने रहस्यवादी-अध्यात्मवादियों के रहस्यवाद में से इस ज्ञान की गुठली को पाने की प्रेरणा दी थी।

इस दृष्टि से मत्स्येन्द्र द्वारा नारी स्वातंत्र्य के लिए मातृसत्तात्मक व्यवस्थ का समर्थन, कुत्सित नृशंस प्रयोगों का विरोध और साधना या प्रयोग-स्वातंत्र्य में नारी को पूर्ण अधिकार देने के वृत्त संकेतात्मक हैं, यह भी मत्स्येन्द्र की चेतना की चाल में एक द्वन्द्वात्मकता है। मात्र बर्हिद्वन्द्व में ही द्वन्द्वात्मकता नहीं होती, वह चेतना के संचरण में, उसकी गति में भी होती है। सार्त्र ने इस चेतनात्मक द्वन्द्वात्मकता को तात्विक और सर्जनात्मक स्तर पर विस्तार से दिखाया है और उसे वह "आंतरिक द्वन्द्वात्मकता" मानता है। हमारे मिथकीय लगने वाले पुराने भारतीय तत्वज्ञान और रहस्यवाद और साधना में एक प्रकार की द्वन्द्वात्मकता है, इसे भी इस उपन्यास में देखा जाना चहिए।

'जाग मच्छन्द गोख आया' के गूढ़ तत्व या सार रूप में प्राप्य 'मन' (मत्स्येन्द्र) और 'मूल्य' (गोरक्ष) का द्वन्द्व भी है, जिसे स्वतंत्र रूप में भी हृदयंगम किया जा सकता है। मन न बंधन मानता है, न सीमा पर अन्त में हारता है और मूल्य या आदर्श में ही कल्याण देखता है। इस दृष्टि से उपन्यास का शीर्षक प्रतीकात्मक अर्थ से ओतप्रोत है।

इस उपन्यास पर इतनी चर्चा हुई है, इतना लिखा गया है, इतना लिख जा रहा है कि सुखद विस्मय होता है। उपन्यास की बहुआयामता, पहेलीपन या गूढ़ता, रहस्यमयता, ऐतिहासिकता और मिथकीयता के मिले जुले स्तर शायद व्याख्या के लिए जिज्ञासुओं को उकसाते हैं। चमत्कारों की बुनावट यद्यपि तत्कालीन परिवेश और मानसिकता या विश्वासपरकता को दिखाने के लिए की गई है किन्तु प्रकृति के नए आविष्कार, सोवियत

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

 Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

रूस जैसे साम्यवादी देश में 'योग' पर होने वाले नए प्रयोग, योगियों के चमत्कारों के प्रति जिज्ञासा जगाते हैं कि क्या जिन्हें हम अन्धविश्वास या मात्र फेंटेसी समझते हैं, वे क्या विज्ञान से प्राप्तव्य हैं?

और तब यह रहस्य और भी चुनौतीपूर्ण हो जाता है जब उपन्यास में फैंटेसी, चमत्कार (मिरेकिल) और साधनात्मक प्रयोग मिलजुल गए हों अतः यह उपन्यास रहस्यग्रन्थि-विमोचन (डीकोडिंग) के लिए भी उकसाता है, विवाद खड़ा करता है।

मार्क्सवाद के लिए तो विज्ञान से सिद्ध सत्य ही सत्य है पर मनोविज्ञान के जो विषय हैं, वे 'पावलोप' के मनोविज्ञान और प्रतिबिम्ब के सिद्धांत' (Reflection) को नयी चुनौती देते हैं। योग, धर्म निरपेक्ष विषय है अतः यह एक खुला हुआ विषय है। मैंने तो, तब इतिहास के उस युग में, योग को जिस तरह, जिस भाषा और भाव के साथ समझा जाता था, प्रस्तुत कर दिया है।

श्री जगदीश बोरा (अब स्वर्गीय), डॉ. राघव प्रकाश (मधुमाधवी), डॉ. धनराज चौधरी (मधुमती), डॉ. बच्चनसिंह (विषयवस्तु), डॉ. श्यामसुन्दर घोष (नयी धारा)देवेन्द्र उपाध्याय (विषयवस्तु) आदि के सिवा कादम्बिनी और दस्तावेज़ में समीक्षाएँ प्रकाशित हुई हैं और कई लेखक भी लिख रहे हैं, यथा डॉ. वीरेन्द्रसिंह और नलिनी उपाध्याय (मधुमाधवी और डॉ. रमेशकुन्तल मेघ व केदार मिश्र आदि।

हम इन सब साथियों के प्रति आभारी हैं, उनके प्रति भी, जिन्होंने बद्धमूल दृष्टि या पूर्वाग्रह या अबोधता से इस रचना पर आक्षेप या आक्रमण किए। उन्होंने विवाद को भड़काया अतः उनका भी उपकार है।[१]

अन्त में, मैं राजपाल एण्ड सन्स को, विशेषकर, श्री ईश्वरचन्द्र को ध्न्यवाद देत हूँ, जिनकी प्रेरणा-प्रोत्साहन से मैं मत्स्येन्द्रनाथ और गोरक्षनाथ को पुनर्जीवित कर सका और यह कि उन्होंने उपन्यास को सर्वत्रा पहुँचा दिया। इससे द्वितीय संस्करण काा प्रकाशन सम्भव हुआ।

वह मुझे 'भूतनाथ' गोरक्ष और भर्त्तहरि पर लिखने के लिए कौंच रहे हैं।

---

१. इस सम्बन्ध में मुझे अलथूसर की यह बात ठीक लगती है कि विचारधारा को ज्ञान में बाधक नहीं बनने देना चाहिए। विचारधारा से व्यक्ति वर्गचेतना के प्रति सचेत होता है और उसके लिए लड़ता है। विचारधारात्मक संघर्ष व्यापक वर्गसंघर्ष का एक हिस्सा है तथापि विचारधारा का सिद्धान्तवाद वैज्ञानिक-ज्ञान में सदैव एक ख़तरे के रूप में रहता है–

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भाग २

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सप्तम दशक की समकालीन कविता की अन्तर्यात्रा

(रसानुभूति बनाम विषानुभूति)

समकालीन सृष्टि रस–सृष्टि नहीं, विष-सृष्टि है। रचनाकार अपने परिवेशों, प्रजापतियों और सम्पूर्ण, सम्बन्ध-व्यवस्थाओं से क्षुब्ध है। बिगड़ी हुई हालत को देखते-देखते, सोचते-धोकते और कोई मार्ग न पाकर लेखक के मानस में क्रोध लावा की तरह उछलता है। ज्वालामुखी पर्वत की भूमिका का निर्वाह तमाशा नहीं है। न यह व्यसन है, न यह यश–आकांक्षा है। निरन्तर प्रज्वलन, अन्तर्दाह, तीव्र उद्वेलन, गड़गड़ाहट और अन्त मे अग्नि प्रवाह–यह जैसे आज के लेखक के साथ स्वतः हो रहा है। परिप्रेक्ष्यप्रिय विचारक इस प्रवृत्ति में विधाता या इतिहास की प्रक्रिया और प्रतिक्रिया देख सकते हैं, पर पहले घटना घटती है, फिर उसे किसी परिप्रेक्ष्य में देखा जाता है। लेखक जिस रूप में घट रहा है, उसके अनेक आयाम हैं, रुख और रुझान हैं, लेकिन सभी शब्दशस्त्रजीवियों के अतल में जो भूकम्पन हो रहा है और जिससे ऊपर के स्तर नष्ट हो रहे हैं, उसे देखकर और महसूस कर ऐसा लगता है, जैसे यह कोई प्राकृतिक क्रिया है।

प्राकृतिक क्रिया या घटना के पीछे कोई आशय है या वह स्वतः स्फुरित है, इस बिन्दु पर पाठक इन पंक्तियों के लेखक से मतभेद रख सकता है, किन्तु समकालीन साहित्य में जो भयानक ऊर्जा का विस्फोट है, उसके विषय में कोई मतभेद नहीं हो सकता। विस्फोटक स्थितियों से आदमी गुज़रता है, सहता है और सोचता है। परिवर्तन के पकाव की कलाविधि मानव सन्दर्भ और मानव–शक्तियों पर निर्भर करती है। देश, काल और पात्रों के कर्त्तव्य के समुच्चय से, पात्रों की सचेतन भूमिका से विस्फोटक क्षण क्रमशः निकट आता है और अचानक धाड़-धड़ाम शुरू हो जाती है। मात्र रचना की राह से गुज़रने वाले विवेचक, साहित्य और सन्दर्भ की एकता अथवा उसे परस्पर बिम्बात्मक अस्तित्व को नहीं समझना चाहते।

किसी भयंकर मानव-स्थिति से गुज़र रहे व्यक्ति को वही रचना अपनी लगती है, जिसमें असह्य मानव-दशा का उतना ही तिक्त अनुभव हो, जितना और जिस रूप में वह वास्तविक जीवन में मिलता है। नरक से गुज़रने वाला व्यक्ति अपनी अचूक अन्तर्दृष्टि से जानता है कि नरक की सच्ची अनुभूति कहां है, उसमें कितनी अतिरंजना है, कल्पना है। इस तरह की अचूक अन्तर्दृष्टि मात्र रचना की राह से गुज़रने से नहीं मिल सकती। रचना के सन्दर्भ ही नहीं, रचना को प्रेरित करने वाली शक्तियों पर बिना विचार किये

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हुए उस वस्तु तत्त्व को रूपायित करने वाली रचना की राह मिल ही नहीं सकती। अतः बीज से बात शुरू न कर, पुष्प और फल पर ही मुग्ध या अमुग्ध रहना अथवा पत्ते गिनते रहने से बौद्धिक चमत्कार प्रमाणित हो सकता है, पर मानव स्थिति को बिना गहराई से समझे रचना में सीधे उतरने पर डूब मरने का ख़तरा है, अथवा इस प्रत्यक्ष और औपचारिक प्रविधि से स्वयं रचना का कोई एक अवयव प्रकाशित हो पायेगा, और एक से अधिक पक्षों के आलोकित होने पर पाठक के मन में उन पक्षों के मूल लेखकीय दृष्टि से साथ जुड़ने की आकांक्षा बनी रहेगी।

सन्दर्भ और शक्तियों पर निगाह जाते ही आधुनिक ग्रीक कविता के एक प्रतिष्ठित कवि–कांस्टैन्टाइन कैवेल्फी[1] की वह बर्बर विनाशेच्छा सामयिक लगती है, जिसमें चंगेज़ खाँ, और हलाकू जैसे नागरिक-सभ्यता के शत्रुओं ने मुक्त और सरल जीवन-पद्धति को सही मानकर यह तय किया था कि नगरों में पापी रहते हैं और उनका नाश धर्म है। आधुनिक ग्रीक कविता का जनक इसीलिए उन बर्बरों में मुक्ति का स्वप्न देखता है और विकल्प भी इशारतन बता देता है। इस रचना से कवि की वद्ध मूल घृणा और क्रोध की अनन्तता का अनुमान होता है। रचना, कवि की मृत्यु के बाद, अपनी जाति की रचनाओं की तलाश रकती है। वास्तविक सन्दर्भ की ऊर्जस्वी शक्तियां अपने ऊपर के लदावों के बावजूद भूगर्भीय कम्पनों और तरंगों की शक्ल में आग के रेले जनतीं हुई बढ़ती जातीं हैं। इन अग्नितरंगों में पत्थर उबलता है तथा मिट्टी के अम्बार बारूद की तरह जलते हैं। यदि वह नहीं होता, यदि ज्वालामुखी-रचना की प्रेरक मानव शक्तियां कमज़ोर हैं और मामूली झटके देकर गतिशीत ताक़तें थम जाती हैं तो रचनाकार निराशा में अपने होठ काटता है, परेशान होता है, उसे कुछ नहीं सुहाता, वह विनाशोन्माद में बर्बरों की याद करता है :

What does this Sudden uneasiness means and this confusion? (how grave the faces have become!) Why are the streets and squares rapidly emptying, and why is everyone going back home so lost in thought? Because it is night and the Barbarians have not come and they say that there are no barbarians...... and now what will become of us without barbarians? Those people were a kind of Solution.[2]

क्या यह मसीहाई थी या स्थिति की सही समझ और गहरी अनुभूति थी ? जो लोग क्रोध देखते हैं, क्रोध के कारणों की मीमांसा नहीं करना चाहते, उन कारणों के उन्मूलन के लिए साहित्यिक शक्ति का प्रयोग नहीं करना चाहते वे इस विनाशेच्छा को हताश व्यक्ति का श्राप कहेंगे। पशुपति (प्रजापति) समझता है, आदमी मूलतः जानवर है, वह अपनी

1. **Constantine Cavefy**
2. **Waiting for the end—L.A. Friendler, Page 272**

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रकृति से ऊपर नहीं उठ सकता और उसकी इस कमज़ोरी का इस्तैमाल कर उस पर शासन किया जा सकता है। इसलिए प्रजापति–पशुपति, प्रजा के सम्मुख इच्छा का संसार रचता है। वह मूल्यों को न अपने ऊपर सवारी करने देता है, न अपनी जमात के लोगों पर। वह शासकों की क़तारों को बचाता हुआ आम ख़ल्कत को इच्छाओं की अनन्त दौड़ में उलझाता है और थोड़ी-थोड़ी–इच्छा पूरी करते हुए वह उन्हें वहीं बनाए रखना चाहता है, जहां वे थे। वे अपने निम्नतम बिन्दु से निम्नतर बिन्दु तक आ जाते हैं और निम्नतम स्तर पर जीने वालों की तुलना में गर्व भी अनुभव कर सकते हैं पर शासक-समूह अपने प्रस्थान बिन्दु से लम्बी-लम्बी छलाँगें लगाता है और ख़ास तबक़े खट्टे आम की तरह खूब फलते फूलते जाते हैं।

आदमी होकर छोटा, तिरस्कृत, हीनभावग्रस्त, शासित और स्थिर बने रहना उसकी गरिमा को चुनौती है और इस चुनौती को अधिकाधिक व्यक्ति अपनाते जा रहे हैं। वैश्विक स्तर पर मानव गरिमा, स्वतंत्रता, समता, बंधुत्व और ऐसे ही उच्च कोटि के मानवमूल्यों के लिए सतत् संग्राम में मानवीय गरिमा के प्रति सचेत व्यक्ति अवश्य प्रतिक्रिया प्रकट करेगा और विस्फोट का बिन्दु प्रत्येक प्रतिक्रिया से प्रभावित होता है। प्रतिक्रियाओं की निरन्तरता, क्षेत्र विस्तार और ऊर्जा के अनुसार विस्फोटक्षण आंदोलित होता है, वह टरबराने लगता है:

"नष्ट हो गया नष्ट!
मेरा वक़्त गुजर चुका है, घड़ी रुक गई
बौना मकान ढेर हो चुका।
अब जल्दी ही मैं अनन्त शून्यता में मिल जाऊँगा।
और दूँगा विराट श्राप इस मनुष्य जाति को
ओह, यह अनन्त शून्यता, यह हमारा अन्तहीन दुःख
शब्दातीत, असीम
मौत
घिनौनी कृत्रिमता जो हमारा मज़ाक उड़ाती है
हम जो समयबद्ध दृष्टिहीन, यांत्रिक
हम जो दिक् काल के मूर्ख, पंचांग बने होने
के अतिरिक्त कोई मक़सद नहीं जिनका नष्ट होना
ताकि नष्ट होने के लिए कुछ तो हो
सृष्टि में कुछ कमी तो होनी ही थी
गूँगे दुःख की छटपटाहट उसके चारों ओर लिपटी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

एक पैशाचिक आत्मा नाचती हुई हवा में
......अब जल्दी करो, फैसला होने को है।[1]

अमानवीय और असंगत सभ्यता और उसकी संरचनाओं के समूचे ध्वंस की इच्छा हताश वक्तव्य नहीं, शुद्ध मानवीय इच्छा का प्रकाशन है। यह कविता भी पुरानी है। ये विस्फोटक रचनाएं आज की रचनाओं की दादियां हैं, विद्रोह और क्रान्ति तब तक प्राकृतिक अनिवार्यता है, जब तक आदमी-आदमी की तरह नहीं बरतता। विनाशेच्छा अधिक दबाव से उपजी उछाल है जो दमन के कारणों के उन्मूलन से ही शांत हो सकती है। मगर उसके लिए बड़े लोग तैयार नहीं होते, क्योंकि यह मान लेने पर, उनका सारा संसार ही नष्ट हो जाएगा। वे अपने संसार को बचाने के लिए, दूसरों की दुनिया उजाड़ने या उन्हें कमज़ोर रखने के लिए अभिशप्त हैं। इस स्थिति में शुद्ध कला या रूपसाधना काम नहीं देती अतएव रूप, प्रबल वस्तुतत्व के अधीन हो जाता है। पहले शिल्प रचकर पिर उसमें प्राणप्रतिष्ठा नहीं की जाती, अब प्राणशक्ति के प्रवाह से स्वयं रास्ते और किनारे बनते हैं। रचना नदी, नालों, की तरह होती है और मरुस्थल (उपभोक्ता समाज) में खो जाती है। पर रास्ते में यह जगह-जगह अगाध जलगर्त्त छोड़ जाती है, अगले वर्ष वे भी नदी बन जाते हैं।

निश्चय ही शुद्धकला रचनात्मक प्रयत्न है। उससे आकर्षक कलाकृतियाँ मिलती हैं, मिली हैं। इनमें कई अप्रत्याशित अनुभूतियां हो सकती हैं मगर यह चमत्कार वस्तुतत्व की क़ीमत पर होता है। भीतर की दीर्घकालीन उथल-पुथल से, असीम पीड़ा से, जो संवेग-विस्फोट होता है, वह मौलिक ऊर्जा होने के कारण मौलिक मार्ग खोज लेता है। उसमें नवीनता स्वयमेव आती है, उसके लिए ''मॉडल'' नहीं ढूँढने पड़ते, न यहां नक़ल की गुंजायश की गुंजाइश है।

आकर्षक रूप की खोज के स्थान पर सार्थकता और मूल्यवत्ता पर बलाघात समकालीन साहित्य की प्रवृत्ति है। मूल्यहीन, आदर्शरहित, भोगी समाज व्यवस्था को तोड़ने के क्रम में, उसकी पोल खोलने और उसकी मर्यादा का चरित्रहरण करने वाला साहित्य रूप को आनुषंगिक और स्वतः आगत चीज़ मानता है अतएव वह अपनी विरुद्ध मनोदशा में फटता फूटता है। उसकी रचना में उसका अस्तित्व उसके समाज का अस्तित्व बहता है। उसका अहसास कसैला, तीखा और ज़हरीला होता है। लाखों पंक्तियों मे फूत्कारक यह हलाहल आतंक और भय से भरा हुआ सम्मोहन भी रखता है। हवा में घुले हुए पानी में गले हुए खाद्य पदार्थों में मिले हुए पग-पग पर अवरोधों और दमनशील दबावों से चारों तरफ पीलिया रोग को फैलाने वाले इस ज़हर को यह लेखकों का ज़हर ही काट सकता है। विषदाता विष से ही मरता है, मर सकता है, समकालीन साहित्य ऐसा ही विष है।

---

१. ''आलेनेम'', शीर्षक एक अधूरी ट्रैजडी के लेखक कार्ल मार्क्स की एक रचना–
''हम'' (पत्रिका) सम्पादक–मंजुल उपाध्याय,१९७३, अनुवादक ऋतुराज

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वर्ण्य को, परिस्थिति और पात्र को, उनकी अनुभूतियाँ और भावनाओं को क्रीड़ाशील दृष्टि से देखने पर ''कलात्मक रस'' (ईस्थैटिक एक्सपीरियेंस) की सृष्टि होती है। कुछ तटस्थ और क्रीड़ाशील रह कर ही कलाकृति से आनन्दित हुआ जा सकता है। क्लासीकल कला और साहित्य में यही प्रवृत्ति है और इस नज़रिए से प्राचीनों ने महान रचनाओं की सृष्टि की है। परन्तु समकालीन साहित्य में कर्त्ता की कृति में पूर्ण निमग्नता है। वह विनाश में अवश्य क्रीड़ाशील होता है, वह खिला-खिला कर मारता है, व्यंग्य करता है, विद्रूप की मनोगति में मुँह चिढ़ाता है पर वहाँ भी वह अपने पक्ष के प्रति आश्वस्त होकर पूर्ण निमग्न हैं, यहाँ तक कि कृति रचना से वक्तव्य में बदलने लगती है पर वहाँ भी बीच-बीच वह शब्दों की बिजलियाँ चमका जाता है।

क्लासीकल कला और साहित्य में लेखक वर्णित परिस्थिति और पात्रों के साथ निमग्न हो ही नहीं सकता था क्योंकि वे लोग इतिहास या पुराणों से वर्ण्य विषय चुनते थे और संवेगों को उनकी सामान्यता में पड़कते थे। उनकी विशिष्टता या निजता का वे साधारणीकरण कर देते थे। अपनी सामान्यता-शक्ति के कारण उन्होंने सार्वभौमिकता प्राप्त की और आज भी क्लासीकल साहित्य अपने मानवीय व्यक्तित्व से हमें बाँध लेता है। पर समकालीन साहित्य का लक्ष्य सामान्य भावनाओं का वर्णन नहीं, वास्तविक भावनाओं का वर्णन है। वास्तविक का पूर्ण साधारणीकरण असंभव है क्योंकि वास्तविक संसार मे अखंड रस की स्थिति कल्पित और मसख़री सी लगती है। क्लासीकल कला-काव्य–सिद्धान्त की रक्षा, उसे व्यापक बना कर की जा सकती है। मसलन् यह कहा जा सकता है कि साधारणीकरण को सिर्फ़ सम्प्रेषण का सिद्धान्त मान लेना चाहिए, वर्ण्य पात्रों और परिस्थितियों के विषय में लेखक को पूरी स्वतंत्रता दी जाए। किन्तु जो सचमुच घट रहा है, बड़े पैमाने पर यह जो आदमी पर आदमी का आरोहण हैं, महायुद्ध का भय है, शिविरों के पारस्परिक संघर्ष हैं, शीत युद्ध है, इन तनावों में कसा फँसा और निरर्थक मेहनत और कोल्हू के बैल जैसे जीवन में घुलते ज़हर को पीता हुआ आज का आदमी, अपनी स्थिति का पुनः साक्षात्कार पुनः अनुभव, उस पर मनन और विकल्प चाहता है। ऐसी पक्षधर कलाकृति में घटित का अनुकरण नहीं, अनुरणन या ध्वनन होता है। अवांछनीय यथार्थ, व्यक्ति और वर्गों की एक-एक हरकत की खोज ख़बर जहाँ उपन्यासों में ली गई है, वहीं कविता में इन व्याधियों, बिच्छुओं और वारुणी ग्रस्त मतवालों के समूह के प्रति विषैली भर्त्सनाएँ हैं। इन्हें सुनकर प्रतिपक्ष का व्यक्ति तन्मय न होकर, वर्गमय हो जाता है और स्वपक्ष का व्यक्ति वर्गसचेत बन जाता है। रचना एक आवेश की सृष्टि करती है, और रचनाकार की अधिकतर रचनाओं का स्थायी मनोभाव यही आवेश होता है। लेखक की दृष्टि से यह आवेश व्यक्तिगत भी है, सामाजिक भी, क्योंकि अपनी परिणति में वह उसे कल्याणकारी मानता है। प्रक्रिया में यह 'विरुद्ध व्यक्ति' का आवेश पूरे ढाँचे

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

की सम्पूर्ण रीति, नीति और मर्यादाओं का, उत्पादन-ढाँचे, वितरण की पद्धतियों का, सम्बन्धों और संस्कारों का, सभी का विरोध करता है।

आज का उत्तेजित, स्वपक्ष के प्रति आश्वस्त और अपनी नियति का स्वयं निर्माता लेखक अपने अनुभव और भावशक्ति को, अनुभूतियों और कल्पनाओं को इसलिए पेश नहीं करता कि उनसे सभी तरह के लोग आंनन्दित हो जाएं, सभी एक उच्च कलात्मक, निज पर के पक्षों से परे धरातल पर पहुँच जाएँ, जैसाकि अविवादास्पद पदार्थों या स्थितियों के विषय में होता है। वह पाठक से रचना के सारे सन्दर्भ को समझने, उसकी प्रेरक शक्तियों का साथ देने और अग्रगामी होने की माँग करता है। यह कलात्मक सृष्टि नहीं, मानव-समाज और उसकी व्यवस्थाओं, जीवन पद्धतियों, मूल्यों और राजनैतिक लक्ष्यों, रणनीतियों एवम् कार्यनीतियों के विषय में लेखक की अपनी लड़ाई है। इस लेखकीय संघर्ष को क्लासीकल नज़र से देखने पर उसके मर्म का पता नहीं चल सकता।

समकालीन साहित्य के बीज सामान्यतः पूरी मानववादी परम्पराओं में मिलते हैं पर विशेष रूप से समकालीन साहित्य की जड़ें रोमांटिक साहित्य में हैं। क्लासीकल कला और साहित्य में विद्रोह तथा वर्ग युद्ध बहुत दबा हुआ है। उच्चवर्गीय साहित्य के समानात्तर तथा वर्गच्युत अथवा वर्गातीत सिद्धों, योगियों, फक्कड़ों और सन्तों के साहित्य में वह है। यह विद्रोही साहित्य हमारे समकालीन साहित्य का पूर्वज है, प्रेरक है। किन्तु इस फक्कड़ी साहित्य पर साहित्यिक रूढ़ियों के अनुगामी यथास्थितिशील भद्र व्यक्ति हमेशा नाक मुँह सिकोड़ते रहे हैं। विद्वानों ने तत्कालीन समाज में शास्त्रों या पवित्र पुस्तकों को प्रमाण न मानने वाले स्वानुभूतिवादियों योगियों-सिद्धों-नाथों-सन्तों को वह महत्त्व और मान्यता नहीं दी, जो यथास्थितिशील वर्गों में शंकराचार्य तथा अन्य धर्म सुधारकों और उनसे समर्थित साहित्यिकों को प्राप्त थी क्योंकि अपरिग्रही, जातिवाद-विरोधी, अक्खड़ योगी और सिद्ध, वर्णवर्गजाति की संरचना को चुनौती देते थे। इस विद्रोही परम्परा को समझे बग़ैर सरहपा और कबीर जैसे कवि हीनभावग्रस्त व्यक्ति लगेंगे। हिन्दी में डॉ. नगेन्द्र कबीर के विद्रोह को मनोविश्लेषण के निकष पर कसते हैं पर वह विद्रोह प्राचीनतर था और उसके कारण सामाजिक अंतर्विरोध थे, साधकों-सिद्धों के मनोविकार नहीं। मनोविकारों को तो वे जीत चुके थे। वे अपने दुःख सुख से निस्संग थे मगर वे अपने को सर्व का अंश मानते थे अतएव उनके क्रोध के मूल में करुणा थी।

विद्रोह का वह सरल, स्पष्ट निर्भ्रान्त और वेलौस बोध, समकालीन साहित्य में दुर्लभ है क्योंकि अब मनुष्य को केवल जाति, वर्ण और आडम्बर से ही भय नहीं है वह अधिक अमूर्त, अबोध्य और विश्वव्यापी कष्टों से पीड़ित और भयभीत है। अब असंगतियों के अनेक वृत्त हैं, अभावों के अनेक प्रवाह हैं, आशंकाओं के अनन्त आघात हैं। अपने देश में एक तरफ तकनीकी विकास की चाह है, पर साथ ही तकनीकी सभ्यता का भय भी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

है। यंत्रीकरण से आदमी भी यंत्र में बदलने लगा है। विश्वविनाश की आशंका है। एक तरफ नागरिक जीवन की आकांक्षाएं हैं तो दूसरी तरफ नगरों में व्याप्त अलगाव, आत्मनिर्वासन, प्रदूषण, सम्बन्धों की ऊष्मा का अभाव और निरन्तर गत्यात्मकता के तनावों की तक़लीफें हैं। एक ओर ग़रीबी से मुक्ति, ग़रीबी के कारणों के उच्छेदन, शोषकों के विरुद्ध रोष और पिछड़ेपन की घुटन है तो दूसरी तरफ समृद्ध देशों में व्याप्त आत्मतुष्टि, एकरसता, ऊब और जड़ता है। एक ओर समाजवादी साम्यवादी सोवियत रूस चीन, हंगेरी, रूमानियॉ, पूर्वी पोलैंड की शोषणहीन समाज व्यवस्था, ग़रीब भारतीयों को आकर्षित करती है मगर साथ ही दूसरी तरफ दल की मनमानी और अभिव्यक्तियों पर अंकुशों का डर भी लगा हुआ है। नेहरू ने इस द्वन्द्व से बचने के लिए मिश्रित अर्थ व्यवस्था, या मिश्रित समाज व्यवस्था चलाई पर इसमें भी डर यह है कि हम इस मिश्रण में किसका क्या अनुपात रखें? कभी हम दक्षिण पंथ की ओर झुकते हैं, कभी वामपंथ की ओर। कोई एक मार्ग चुनने में हमें उलझने ही उलझनें नज़र आती हैं और अब तो सोवियत साम्यवाद के नमूने के विनाश से स्वयं "समाजवाद" पर ही प्रश्नचिह्न लग गया है।

मूल्यों, विकल्पों और विचारधाराओं के इस धक्कम-धक्के में हिन्दी का साहित्यकार या तो सर्वनिषेध का रुख़ अपनाता है या किसी एक विकल्प को चुनकर, उसके मानमूल्यों को रूपायित करता है अथवा इसके अभाव में वह मात्र स्थिति की अपनी समझ और संवेदना को व्यक्त करता रहता है। यही कारण है कि मूल्यों और विकल्पों की उलझन से, समकालीन अनिश्चित, अतृप्त, अतर्क्य और विवेकनिरपेक्ष (इररैशनल) स्वर बहुत प्रबल हैं। इन विभिन्न और प्रायः परस्पर विरोधी स्वरों का आकलन आवश्यक है।

मसलन, कैलाश बाजपेयी में संक्रान्त संवेदन है। वह कोई विकल्प न पाकर वस्तुस्थिति के ठीक विपरीत चल कर चालू हालात पर छींटाकशी करते रहते हैं। उन्हें कहीं कोई आशा या उत्साह नहीं मिलता। उन्हें लगता है, यह सम्पूर्ण सभ्यता विनाशोन्मुख है, इसका कोई इलाज नहीं है–

देह के अंधेरे में काक्रोच लिपटा कॉक्रोच भागा, उलट गया
तिल-तिल खाये जाने तक अब वह उत्तान ही रहेगा।[1]

कैलाश बाजपेयी पाश्चात्य देशों की सभ्यता और समाजवादी देशों की सभ्यता में कोई अंतर नहीं मानते, न वह आज़ादी के बाद नवनिर्माण की ओर देखते हैं। उन्हें वर्तमान विसंगत और भविष्य अंधकारमय लगता है। वह आत्मतुष्ट लोगों पर चोट करते हैं मगर सामाजिक विसंगतियों के विरुद्ध संघर्षशील शक्तियों को नहीं देखते। शक्तियों को विषय में कवि का यह सनकी दृष्टिकोण उसे विपरीत पंथी बनाता है––

1. सभ्यता की नियति–संक्रान्त, पृष्ठ-88

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

तुम्हारी परिस्थिति से ठीक विपरीत हूँ
हर्ष मुझे नहीं, यंत्रणा मुझे नहीं, संक्रान्त
मैं नहीं नहीं
मैं वस्तुस्थिति के ठीक विपरीत हूँ।[1]

सिर्फ़ उलटे चलने या सोचने से व्यक्ति अकेलेपन से ही ग्रस्त हो सकता है। वह विपरीतमार्गी बनकर अच्छे और बुरे को, निर्माण और ध्वंस को, निराशा और सांत्वना को दिशा हीनता और दिशा बोध को, सम्बन्धों की मधुरता और सम्बन्धजन्य रुक्षता को, मित्र और अमित्र को, एक ही पलड़े में रख देता है। वह अमूर्त रूप में हर बात मे संकट की अनुभूति खोजता है। उसे इतिहासबद्धता से घृणा है, प्रगति पर अविश्वास है, साथियों के प्रति शंका है। उसकी शक्ति अस्वीकार में हैं, ध्वंस और धक्कों में मगर वह कोई दृष्टि पाठक में सम्प्रेषित नहीं करता, सिर्फ़, अंध और उग्र असंतोष सिखाता है–

बदसूरत यादों, बेहूदा घटनाओं अनचाहे योगों का
एक बड़ा फूहड़ सा खोल मढ़ गया है जीवन में
हम विवश जिसे भीतर भुनग रहे
खोल की दिशा में दुनग रहे।[2]

'व्यस्त, अनिश्चित नंगी दुनिया में निर्वासित सा जीवन' बिताने वाले कैलाश वाजपेयी जैसे रचनाकार अस्तित्ववादियों की तरह समाज या राजनीति के प्रति ही नहीं, मानव जीवन के प्रति भी घृणा की दृष्टि रखते हैं। यह नज़र भारतीय अस्तित्ववादियों ने उधार ली है, यह उनकी अपनी कमायी हुई निगाह नहीं है अतएव संक्रान्त संवेदना, प्रतिकूल परिवेश के प्रति मात्र एक विरोधी दृष्टि बन कर रह जाती है। उसमें विधायक शक्ति नहीं है, वह स्थिति को नकार कर, उस पर विजय पाना चाहती है, अपने को बचाना चाहती है। उसमें प्रतिक्रिया की ताक़त है परन्तु सार्थक क्रिया को वह उत्तेजित नहीं करती। कैलाश का रचना संसार अस्तित्व, सचेत संवेदनशील अस्तित्व की ऊब, घुटन, अमर्ष, घृणा और अमान्यीकरण का संसार है। उसमें प्रचलित व्यवस्था और तज्जन्य संस्कृति के आंतरिक क्षय को तीव्रता से महसूस किया गया है और उसे 'प्रचलित से भिन्न' नए लहजे में कहा गया है। नयी कविता के लेखकों की तरह कैलाश कथ्य के बेलौसपन के साथ-साथ बातें बना-बनाकर और रूपाकृतियों की रचना करते हुए चलते हैं–

त्रस्त सभ्यता के विक्रान्त अंधकार में
वहाँ जहाँ अभी एक तटस्थ किरण फूटी थी
देखता हूँ अकस्मात् एक सर्प सरक आया है

1. सभ्यता की नियति–संक्रान्त, पृष्ठ--12
2. इतिहासवद्ध संक्रान्त, पृष्ठ-12

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कट पिट गया है आकाश
और बर्फ़ के होठों पर रक्त छलक आया है।[1]

संक्रान्त सवेदन में यदि निगाह सिर्फ़ अपने में होने वाली प्रतिक्रियाओं पर रहे, कोई रास्ता न सूझे तो घृणा की उछाल द्वारा आत्मपीड़न पर किसी हद तक विजय पाई जा सकती है। अकवियों के प्रतिनिधि जगदीश चतुर्वेदी के रचना संसार में आक्रामक घृणा और अपने को अनावृत करने का साहस है। यहाँ जो ध्वंसेच्छा है, जिघांसा है, वह कार्ल मार्क्स की विनाशेच्छा से प्रकृतितः भिन्न है। मार्क्स के विचारों से हम परिचित हैं अतः उनकी घृणा के पीछे एक समाज-दर्शन है, स्पष्ट विकल्प है, अतः वह घृणा बाँझ नहीं, उर्वर घृणा है। जगदीश की घृणा दृष्टिहीन है परन्तु ऊर्जा और साफगोई के कारण साहसिक और आकर्षक लगती है। उसमें विनाश में आनन्द लेने का दम है–

एक आकाश को भर कर बाज़ुओं में
उछलता हूँ किलकारों के साथ
ज्वालामुखी सा धधकता हूँ लावे सा सराबोर
और कौमार्यभंग की अतृप्ति से भरा हुआ
लौटता हूँ बदहवास।

घृणा, अस्वीकृति और विनाशेच्छा की तरंगों में दोलित मनोगति मात्र घृणा से कुछ न होता देख अपने को तोड़ती है। कवि निजी जीवन में स्वतंत्र होने की कोशिश करता है पर पग-पग पर रूढ़-मूढ़ समाज से मार खाता है। फिर भी, उसके साहस और 'आधुनिकता' की सराहना होती है। अन्ततः उसने इस सड़े समाज की मिथ्या मान-मर्यादाओं को तोड़ा तो, यह चीज़ प्रशंसा की बात बन जाती है। किसी स्पष्ट विकल्प वाले मगर रूढ़िग्रस्त जीवन विधि के शिकार लोगों के बीच भी वर्जना-विरोधी अपने 'विद्रोह' के कारण प्रशंसनीय बनता है।

विकट प्रतिक्रिया को विकट अभिव्यक्ति देने से प्रचलित विन्यासों के प्रति अरुचि जगती है। ऐसा लगने लगता है कि 'कविता' में सत्य और अहसास को धुंधलाया अधिक गया है अतएव अकविता में ही अनुभूत को कहा जा सकता है। आज़ादी के बाद नवयुवकों में वर्जनाओं से मुक्ति का भीषणबोध जगा था, वह इस अकविता की तरफ खिंचा था लोग अमर्यादित, अश्लील और नग्न सत्यों को एकांत में या यारों से कहते हैं, मगर अकवियों ने उन एकांत कथनों को 'कविता' बना कर उन्हे गोपनीयता के विरुद्ध के रूप में पेश किया। यह अचतेन में पड़े, निषिद्ध पदार्थों को कविता में प्रयुक्त करने की कोशिश थी।

'व्यक्तिसत्ता' तथा अनुभूत सत्य तक अपने अनुभव और समझ को सीमित करना कोई अभूतपूर्व कार्य नहीं है। 'नयी कविता' में भी 'व्यक्ति और निजी अनुभव' की ही

1. युद्धचेतना, संक्रान्त, पृष्ठ-80

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

 Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

बहार थी। समकलीन कविता के विकास पर एक साथ नज़र डालते वक़्त 'नयी कविता' और 'अकविता' की चित्तवृत्ति के सादृश्य पर ध्यान जाता है।

'प्रारम्भ' में राजकमल चौधरी की भी कुछ कविताएं छपी हैं। इन कविताओं मे एक कविता है, 'एक बीमार जिन्दगी'। इसमें अकवितापन आत्मीय और ग़ैर पैग़म्बरी लहज़े में लाया गया है। काश, अकविता के लेखक इस सहज मगर गहरे अन्दाज़ेबयाँ को पकड़ते–

इस दवा की गंध में बेहद तीखापन है
दीवालों पर शाम के सूरज की पीली किरनें
फर्श पर फैले हुए पुराने अख़बार
एक दोस्त ने डाल दी है
टेबुल पर पानी के गिलास में नरगिस की टहनियाँ
वह खुद उठकर बन्द कर लेता है खिड़कियाँ......
बममारी के बाद खाइयों से निकले हुए शहर के लोग
अपना घर ढूँढते रहते हैं
जैसे यह बीमार ढूँढता रहता है सिरहाने में
किसी का कोई खत।[1]

इस आत्मीय अवसाद के समानान्तर जगदीश चतुर्वेदी की अकविता तुलनीय है–

टूटकर अर्राकर गिरते पहाड़, गंधक भरी नदियाँ
झरनों के श्वेत फेनों पर लावे की अनगिनत परतें
असंतुलित जीवन और हाहाकर।
एक नगर मरता है
और तमाम गलियों में फैलता है मृत्यु विष
भर गया है ज्वालामुखी निरापद जीवन को असहाय
गायों सी ढोती घरेलू औरतें
पानी मे नाव चलाते बच्चे डूब रहे हैं भयभीत निकल रही है अश्रुधार
अंधों से टकरा रहे हैं मूर्ख विदूषकों के घबराए हुए चेहरे ......।[2]

मात्र 'रचना की राह से' देखने पर यह नहीं बताया जा सकता कि उक्त दोनों कविताओं में व्यक्त मनोगतियों की प्रकृति में क्यों और क्या अंतर है? सामाजिक सन्दर्भ में होने वाली क्रियाओं को समझ कर ही यह अंतर समझा जा सकता है। राजकमल चौधरी परिवेश की असंगति को तीव्रता से महसूस करते थे और उसी में डूबते रहते थे। उसके दबाव से बचने के लिए वह यौन-प्रसंगों में पलायन करते थे पर होश आते ही पुनः बाह्य

1. 'प्रारम्भ'–सम्पादक, जगदीश चतुर्वेदी
2. 'इतिहासहन्ता' एक जिघांसु का वक्तव्य

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

यथार्थ दबोच लेता था अतएव वह कवि इस द्वन्द्व में रुग्ण होकर मर गया। जगदीश चतुर्वेदी की मनोगति ध्वंसात्मक है। उसमे ध्वंसावेश उतरने पर आत्मपीड़ा, यौनासक्ति और विपरीत पंथानुगामिता भी है पर रक्त संचार तीव्र होने पर वह समूचे वातावरण और व्यवस्थाओं का सत्यानाश करने लगता है।

इस बुनियादी अंतर को पकड़ लेने पर यह समझ में आ सकता है कि जगदीश की अकविता में कविता पुनरावृत्तियों, शब्द-अपव्ययों में क्यों फँस जाती है। कविता को वक्तव्य बनाने के यही ख़तरे हैं। इनसे बचना दुष्कर है जैसे, एक जिघांसु का वक्तव्य' में आकर्षक पंक्तियों के साथ बासी माल भी संग्रथित कर दिया गया है और चयन शक्ति के अभाव में रचना, अख़बारीपन से ग्रस्त हो जाती है–

आकर्षक पंक्ति–'टूट कर .... गंधक भरी नदियाँ
अनाकर्षक पंक्ति–ज्वालामुखी के मुखों का विषैला धुआँ
इस महानगर की निरापद शांति में
भाग रही है चीखती चिल्लाती निरापद जीवन की
असहाय गायों-सी ढोती घरेलू औरतें......।

'ज्वालमुखी' कहने के बाद 'मुख' शब्द का प्रयोग शब्द-अपव्यय मात्र हैं। 'विषैला' विशेषण की जगह कोई और चटक रंगों का विशेषण चुनना चाहिए था। 'निरापद' शब्द एक ही परिच्छेद में दो बार आया है और 'भाग रही हैं' वाले वाक्य में परिचित प्रकार के शब्दों को ठूँस दिया गया है। 'अकविता' के नाम पर इन अरचनात्मक तत्त्वों को रचनात्मक तत्त्व नहीं सिद्ध किया जा सकता।

अकवियों की मानसिक जिघांसा का स्रोत श्याम परमार ने अभावों, तृष्णाओं और विसंगतियों में बताया है–

'निश्चिन्हित एवं अभावग्रस्त तृष्णाएँ विसंगति की त्रासदी से अकविता में प्रायः ऊलजलूल की एक ऐसी स्थिति भी उत्पन्न करती हैं, जहाँ कायिक क्षमता (?) केवल मानसिक जिघांसा में संतृप्त होती है। यह अकविता की मानस भूमि है।'

जो हो रहा है, वह संवेदनशील लेखकों को ऊलजलूल लगता है, यही अहसास अकविता के मूल में है। पर इसे कब तक दुहराते रहा जाए ? विसंगति सार्थक और संगठित क्रिया से ही टूट सकती है, इस ओर अकवि सोचते तक नहीं। अतएव अकविता के विरुद्ध उग्र होती हुई प्रतिक्रियाओं में, अकवियों की कथनी और करनी की समानान्तरता पर प्रश्नचिह्न लगाया जाने लगा और यह ठीक ही हुआ क्योंकि अकविता मात्र 'नयी कविता' की धुंधली अनुचिन्तनात्मकता और आत्मगुप्तता के विरुद्ध विद्रोह ही नहीं थी अपितु अकविता में 'नयी कविता' की एक सीमा तक निरन्तरता भी थी। एक ओर वह शिल्प और अ़भिव्यक्ति के स्तर पर बेलौसपन की माँग करती थी मगर कथ्य के स्तर पर वह

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri
व्यक्तिगत कुंठाओं, रुग्ण और क्लीव उग्रताओं, अश्लील आक्रोशों और दिशाहीन विनाशों की अभिभावक बनती गई और यह चीज़ चलने वाली नहीं थी क्योंकि दिशाहीनता उतनी ही कष्टकर होती है, जितनी तृष्णा और ऊब।

सर्वनाश चाहने वाला व्यक्ति जनमानस में शताब्दियों से एकत्र क्रोध को व्यक्त करता है, इस बिन्दु तक अकविता, जड़ता और आत्मतृप्ति की तुलना में अधिक उपयोगी है क्योंकि उसमें तीव्र असंतोष व्यक्त हुआ है। अकविता जो संदेश प्रस्तुत करती है, उसमें विसंगतियों को दूर करने की ध्वनि है परन्तु अकवियों का व्यक्तित्व अंतर्विरोधग्रस्त होने से यह संदेश निषेधों और हयनिनादों में छुप जाता है–

अकवि और नव नलेखन के ठेकेदार अपने वक्तव्यों में एक बात कहते हैं, कविता में दूसरी और वे जो जीवन जीते हैं, वह उसी चाटुकार, येनकेन प्रकारेण अपनी महत्त्वाकांक्षा को संतुष्ट करने वाले क्लर्क या अध्यापक का है। इसीलिए उन्हें यह भी पता नहीं चला कि उनका कौन-सा चेहरा असली है, कौन-सा नकली।[1]

अकविता की संभावना उसकी अवधारणा में थी। बिम्बवाद के प्रवक्ताओं जैसा अकविता को कोई प्रवक्ता नहीं मिला, जो रचनात्मकता के धरातल पर उसे एक सैद्धान्तिक स्तर देता। 'अकविता' एक गर्भित शब्द है। उसके द्वारा कवियों की अलंकृत, बिम्बों–प्रतीकों से लदी, अस्पष्ट और अमूर्त भाषा के खिलाफ लड़ा जा सकता था लेकिन आपाधापी में, प्रयोग के समय मनमानियों और असभ्य जुमलों की बाढ़ से सच्चे कविता–प्रेमियों का भी जी मिचलाने लगा। श्याम परमार ने 'शोहदे लहज़ों' और 'गुंडा आशयों' (जगदीश चतुर्वेदी की कविता में) की ओर इशारा भी किया था।[2]

'अकविता' की अवधारणा का मूल सैद्धान्तिक दृष्टि से विलियम वर्ड्सवर्थ के 'लिरीकल बैलड़स' की भूमिका में मिलता है–

The majority of the following poems are to be considered as experiments. They were written chiefly with a view to ascertain how for the language of Conversation in the middle and lower classes of society is adapted to the purposes of poetic pleasure. Gaudiness accustomed to the gaudiness and inane phraseology of many. Modern writers...... will perhaps frequently have to struggle with feelings of strangeness and awakwardness. They will look around for poetry and will be induced to enquire by what species of courtesy these attemp can be prmitted to assume that title.[3]

---

1. संस्मरणारम्भ, पृष्ठ-19
2. कविताएँ–श्याम परमार
3. Advertisement to lyrical Ballads.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वर्ड्सवर्थ तात्कालिक रोमानी कविता को 'प्रयोगशील' कहता है और यह कि वे मुख्यत: इसे देखने के लिए लिखी गई थीं कि कितनी दूर तक निम्नतर वर्गों के व्यक्तियों की भाषा का प्रयोग सफलता के साथ कविता में किया जा सकता है। उस समय बहुत से प्रबुद्ध और भद्र पाठकों में पूर्वकाल से चली आ रही कविता की कृत्रिम भाषा के विरुद्ध रोज़मर्रा की भाषा में, 'आम आदमी' की बोलचाल की जुबान में कविता लिखने की प्रेरणा रोमांटिक कवियों में जगी, क्लासिक अभिजात्यवर्गीय काव्यभाषा' (पोयटिकडिक्शन) को छोड़ दिया गया और महान्, सार्वभौमिक रोमांटिक काव्यान्दोलन उठ खड़ा हुआ।

वर्ड्सवर्थ केवल पूर्व प्रचलित काव्य रुचि के स्थान पर, दूसरी काव्य रुचि स्थापित करने के साथ-साथ, काव्य का कथ्य भी बदलना चाहते थे। तभी वे एक नए काव्य-युग की अवतारणा में सफल हुए।

किन्तु 'लिरीकल बैलड्स' की भूमिका वाली गंभीरता, काव्य रुचि की चिन्ता, नए काव्य पाठकों के साथ आत्मीयता पारदर्शी सच्चाई और उच्च सैद्धान्तिक स्वर 'अकविता' में नहीं है। अकविता ही नहीं, मैंने सप्तमदशक के प्रायः सभी काव्यादोलनों की घोषणाएं और विज्ञापन पढ़े हैं परन्तु सहज कविता, नकविता, अनागरिक कविता, श्मशानी कविता आदि कहीं भी अवधारणात्मक चिंतन का उच्च स्तर नहीं मिला। यह अवश्य है कि उनमें प्रचलित चित्तवृत्ति से उग्र टकराहट अवश्य है। कविता में जो रुख सामने आया, उसकी कमियाँ बताकर उसका वारा न्यारा कर देने और अपनी बात को ज़ोर-शोर से कहने की ताक़त अवश्य है लेकिन 'विद्रोही कविता' (केशनी चौरसिया) से लेकर किस्म-किस्म की अनेक शाखाओं की कविताओं के प्रस्तोताओं ने यह कष्ट नहीं उठाया कि वह टी.ई. ह्यूम और एजरा पौंड की तरह अपने दृष्टिकोण को, दूसरों से अलगाएँ और संवेदना, विचार भाव, और शिल्प के स्तरों पर अपनी-अपनी काव्य दृष्टियों को गंभीरता से विकसित करें। सप्तम दशक के काव्यालेकन में साहित्यिक पत्रकारिता का यह मुख्य अंतर्विरोध है, जो अभी भी जारी है।

आम बोल चाल की भाषा का काव्य में प्रयोग, कवितापन यानी कृत्रिम काव्यभाषा को तोड़ने के उपाय, ये सब अभूतपूर्व कार्य नहीं थे। क्लासीकल युग के बाद लगातार प्रयोग ही तो होते आ रहे हैं, मगर आम आदमी की भाषा के नाम पर कविता जैसी संवेदनशील, सूक्ष्म बहुस्तरीय, बहुअर्थीय विद्या से पत्रकारिता का काम लेना संभव नहीं था। कवियों के रूप में पत्रकारों की भयंकर घुसपैठ ने हर काव्यान्दोलन को सतही, प्रचारात्मक और बचकाना बना दिया।

'अकविता' यदि एक छोर पर है (और वह अब रंग बदल रही है, रूप भी) तो दूसरे छोर पर आध्यात्मिक कविता है। अकविता में यदि वर्जना विरोधी, नकारू-निषेधी स्वर है तो आध्यात्मिक कविता में सर्वातीत् धरातलों की टोह या साक्षात्कार है। दोनों ही दृष्टियाँ

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इस यथार्थ को कष्टकर मानती हैं और अकविता निषेध द्वारा तथा आध्यात्मिक कविता अतिक्रमण द्वारा वर्तमान वास्तविकता की प्रतिकूलता को संकेतित करती है। यदि वर्तमान काल प्रतिकूल है, मानव जीवन असहाय और अभावग्रस्त है तो निषेध, अतिक्रमण या पलायन के सिवा सामान्य व्यक्ति और क्या करे? तीसरा विकल्प परिवर्तन की शक्तियों से जुड़ना है पर इस 'जुड़ाव' की प्रक्रिया में इतना कष्ट और प्रतीक्षा है कि कविगण सामाजिक-शक्तियों से भी दूर भागते हैं कि कहीं उनके साहित्यिक दामन पर धूलि न लग जाए, कहीं उनकी स्वतंत्रता पर अंकुश न लग जाए। इस भय के रहते यही संभव है कि कवि या तो 'नवाब नकारू' हो जाए, या फिर वास्तविक जीवन के संघर्षों का अतिक्रमण कर ऊपर उठता हुआ सर्वातीत सत्ता के साथ रहस्यमय अनुभवों में डूबने उतराने लगें। वहाँ न दिक् का भय है, न काल का, न राशन और नौकरी का।

सुमित्रानन्दन पन्त, अज्ञेय और वीरेन्द्र कुमार जैन ने अन्त में यही अतिक्रमण का मार्ग, अपनाया। इनमें वीरेन्द्र कुमार जैन की कविताएं अधिक हैं क्योंकि उनमें एक शोषित और सामान्य व्यक्ति का आत्मसंघर्ष देखा जा सकता है, वहाँ लचारी और गूढ़ वेदना और दंश पाया जाता है जो आज के जीवित व्यक्ति की नियति बन चुकी है। पन्त और अज्ञेय में यह आत्म संघर्ष ग़ायब है। वे दोनों अनुचिन्तनात्मक क्षणों में, रहस्य के संचरण की आहटों में, मौन की स्थितियों में अचानक उभरते किसी दृश्य या स्फुरणा या 'सत्य' की ध्वनियों में लगे रहते हैं मगर वीरेन्द्र कुमार जैन की कविताओं में मौन के संसार की ऊब डूब नहीं अपितु इस वास्तविक संसार में असफल, साधनहीन, प्रभावहीन, परवश और अतृप्त रह जाने की कसक है जो सच्ची और खरी है और उसे छिपाया नहीं गया है।

ग़रीबी में गुण यह है कि वह आदमी को असली जिन्दगी के निकट रखती है। वास्तविक गरीब व्यक्ति हमदर्द होता है, उसकी संवेदना बारीक और पारद जैसी हो जाती है जो जरा-सी बात या आघात से डोलने लगती है। गरीबी इसी रूप में कविता की सहायता करती है। वीरेन्द्र कुमार जैन की आध्यात्मिकता, भारत के पाठक के लिए चिरपरिचित है, मगर इस सर्वातिक्रमण के बीच-बीच जो दुःखी मन की पुकार है, दाह और द्वन्द्व है, वही वीरेन्द्र की कविता को पन्त और अज्ञेय की ठण्डी और भावहीन कविता से अलग कर देता है। पन्त और अज्ञेय की तुलना में वीरेन्द्र कुमार जैन की कविता, बावजूद अपने अध्यात्मवाद के, आज के संघर्षशील आदमी के अधिक निकट है क्योंकि उसमें एक संघर्षशील बोझों और चिंताओं से ग्रस्त व्यक्ति की आत्मयात्रा है।

वीरेन्द्र चराचर जगत् में एक ही सत्ता का चमत्कार देखते और महसूस करते हैं। वह जीवन और आदमी की मूल एकता को बार-बार रेखांकित करते हैं। यह दृष्टि और प्रक्रिया रहस्य दर्शियों की पूरी परम्परा में मिल जाती है पर प्रकृति और मानव जीवन मे जिस दिव्य सौन्दर्य का साक्षात्कार वीरेन्द्र करते हैं, उसमें संकेत से अधिक मांसलता

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

और मिलन की प्यास है। यानी अवधारणा पर कवि की जीवनानुभूति विजयी हो जाती है जबकि वीरेन्द्र कुमार समझते यह है कि उनकी आध्यात्मिक अनुभूति जीवन को पीछे छोड़कर उन्हें दिककालीत धरातलों की ओर ले जाने में सफल हो गई है। असलियत यह है कि आध्यात्मिक उड़ान और परिदृश्यों के मध्य वास्तविक जीवन के दुःख सुखों की ये चमकें ही वीरेन्द्र की कविता को 'शून्यपुरुषों' (पन्त और अज्ञेय) की कविता से अधिक मानवीय या आत्मीय बनाती है–

अदृश्य में झूलती छुरियों की छाया में
जादुई रत्नदीपों से आलोकित सर्पशैयाओं पर रमण
मेरी आत्मा की हर अगली उमड़न में
व्यर्थ होता है एक आलिंगन
मेरी हर करवट में व्यर्थ होती एक शैया
मेरी हर ठहराव में व्यर्थ होता एक घर।[1]

यह यातना का अत्यन्त गहरा असीम और अनन्त अहसास न तो पत्रकारनुमा कवियों में हैं, न शून्यपुरुषों में। मुक्तिबोध में ही इस यातना का सादृश्य मिल सकता है। मुक्तिबोध तो मुक्त हो गए मगर उनके साथी वीरेन्द्र कुमार टटपूंजियों से लांछित और 'बड़पूंजियों' से अपमानित होकर आज भी भटक रहे हैं। दुःख की गहराई, अन्तहीन यातनाओं से ही आती है। दृश्यों की कल्पना हो सकती है पर दुःख का अहसास भोग कर ही होता है। और इस दशा में दहकते-रमते वीरेन्द्र दा अंततः रुग्ण होकर खामोश हो गए।

अभाव और रोमांस का सीधा सम्बन्ध होता है। अभावग्रस्त व्यक्ति कल्पना द्वारा अपनी क्षति पूर्ति करता है। वीरेन्द्र कुमार की कविताओं में सम्बद्ध और सृजनात्मक कल्पना के चमत्कार इतने बहुरंगी हैं कि 'शून्यपुरुषों' की काव्य कल्पना फीकी लगने लगती है। मगर कल्पना के इन चमत्कारों से हम छायावाद में परिचित हो चुके हैं। वे अब प्रबुद्ध काव्य-पाठक को मुग्ध नहीं करते पर उनके बीच वीरेन्द्र के मन का साक्षात्कार हमें समूची दुःखी और स्वप्नशील मानवता के साथ जोड़ देता है।

आध्यात्मिक रमण और सम्भोग में वस्तुतः वास्तविक जीवन की अतृप्तियों का ही उत्प्रेरण होता है। वीरेन्द्र में यह बहुत अधिक मात्रा में हैं पर इस 'संभोग से समाधि' वाले कामाध्यात्म के मध्य जो कवि की कसक कौंधती है, वही असली हैं, शेष सब कल्पना के जलवे और शब्दों के खेल हैं। जीवनानुभूति के कारण ये कल्पनाएँ भी 'मानवीय' लगती हैं। अज्ञेय के 'आँगन के पार द्वार' में आध्यात्मिक सत्य की गूढ़ता भी है और अमूर्तकला के प्रयोग भी। पर वहाँ भी जीवनानुभूतियों की उपस्थिति है–

1. 'शून्यपुरुष और वस्तुएँ'–पृष्ठ-8

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सो मैं विक्षिप्त, परेशा, आत्महारा होकर चला गया,
तुम्हारे भीतर की अज्ञात दूरियों के बीहड़ प्रान्तरों में
कितना तीव्र, साफ़ और ज्वलन्त है आज यह अहसास
कि मैं कहीं घटित नहीं हुआ
सृष्टि में यदि मैं कुछ हूँ तो एक अभाव, एक महाअभाव
का शून्य
जो वस्तुओं और व्यक्तियों के बीच से
अनायास झाँक कर एक टीस दे जाता है।
चिर उपेक्षित वही मैं
एक मातृ-पितृ हीन सत्ता
परम एकाकी, अशरण
अनाथ, अनालम्ब..............
जीवन को जीने की यह अपरिसीम वासना की ज्वाला ही
क्या चरम उपलब्धि नहीं है?
एक पीड़ा है आज भीतर जो कही नहीं जा सकती
एक वर्जना है स्वयम् को, स्वयं की।
अन्तिम जिजीविषा से बड़ा
पाप या पुण्य क्या हो सकता है?
एक जलते भाले का नीला लहराता अति महीन फल
शून्य में से एक दूध से उमड़ता स्तन उभर आया।

अतिक्रमित स्तरों पर कल्पना की सहायता से पहुँचना पर जीवनानुभूतियों की स्मृतियों, शब्द, स्पर्श, रंग, रूप और गंध के विभिन्न विन्यासों और प्रबल जिजीविषा के कारण नारी के मांसल प्रेम की छवियों और सम्भोंग की स्मृतियों : इच्छाओं से वीरेन्द्र कुमार जैन की कविताओं का रचना संसार अटा पड़ा है। अध्यात्मवादियों ने वीरेन्द्र की इसलिए उपेक्षा की कि यह रचना-संसार उनकी अवधारणा से स्वतंत्र है और भौतिकवादियों : मार्क्सवादियों ने इसलिए उपेक्षा की क्योंकि वे कार्ल मार्क्स की यह बात भूल गए कि धर्म के माध्यम से पीड़ित व्यक्ति का दुःख बोलता है। दुःखी व्यक्ति की धार्मिकता उस दुःख के विरुद्ध एक प्रकार का अभियोग है पर इस आवाज़ को वे नहीं सुन समझ सकते जो साहित्य को वर्गशत्रुओं के विरुद्ध मात्र ऊपरी प्रचार बना देना चाहते हैं।

स्वतंत्र चिन्तनात्मकता के बल पर अपनी अलग राह बनाने का काम डॉ. देवराज और डॉ. गोविन्द चन्द्र पाण्डेय ने किया। यहाँ समकालीन कविता, इन कविता लेखकों की चिन्तन शक्ति द्वारा प्रभावित करती है। दर्शन का बरसों अभ्यास करने से एक अपनी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

दृष्टि विकसित होती है, यही दृष्टि की विशिष्टता इन कवियों में झलकती है। चिन्तनात्मकता को ये कवि निरावेग स्वर मे प्रकट करते हैं, लगता है जैसे कविता सिर्फ़ सोच का परिणाम हो। डा. गोविन्द चन्द्र पांडेय कविता की नींव संवेदना से भरते हैं और तब विचारणा की कविताबद्ध इमारत खड़ी करते हैं। यह विचारणा जटिल और प्रसंगगर्भित होती है और समासशैली में व्याप्त होने से पूरी तरह खुलती भी नहीं है। पर जहाँ उन सीमाओं से कविता मुक्त होती है, वहाँ कविता का आत्मीय और निजी व्यक्तित्व ध्यान को बांध लेता है–

मैं चुप रहा,
क्योंकि जाते समय कहता क्या ?
बातें अधूरी ही रहतीं सदा
बिछुड़ते ही हैं सब
और मैं तुमसे मिला कब ?
कल्पना के सिवा
मेरा यह स्वगत रिश्ता, तुम्हारे निकट कितना
यह भी नहीं पाता।[1]

× × × ×

लाल पीली साँझ, डूबता सूरज
ऊबती हवा झुलाती, थके हाथ
ताड़ के पेड़
मानो झलक रही निश्चल
दिन रात के बीच एक पतली फाँक।[2]

× × × ×

रेत में पग-छाप जाती दूर
किसने सुनी, पग-चाप जाती दूर।[3]

× × × ×

चमकीले शीशे खिड़की के नीले
नीलाम्बर रजनी, अमृताकर पूरा[4]
......पारदश्य सी गहरी ज़ेने–कविता का,
निश्चल जीवन मानो मुक्तोद्येतित।[4]

1. 'अग्नि बीज'–स्वगत, पृष्ठ 39
2. अग्नि बीज–तनुकृत, पृष्ठ 68
3. वही, अचेत, पृष्ठ 112
4. वही, ज़ेन, पृष्ठ 15

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इधर डॉ. महीप सिंह ने 'संचेतना' में 'विचारकविता' का आंदोलन चलाया है, पर इसके उत्कृष्ट उदाहरण डॉ. गोविन्द चन्द्र पांडेय हैं। पाण्डेय जी के द्वितीय संग्रह 'क्षण अनुक्षण' में भी मौलिक चिन्तन की प्रक्रियाएं-प्रतिक्रियाएं दिखाई पड़ती हैं।

'सुबह के बाद' डॉ. देवराज की प्रतिनिधि कविताओं का संग्रह है। 'उर्वशी ने कहा', 'इतिहास पुरुष' तथा 'इला और अमिताभ' आदि आपके काव्यसंग्रह हैं। इनमें 'इला और अमिताभ' एबिलार्ड (एबिला) तथा एलोईज की प्रेमकथा पर आधारित एक खण्डकाव्य है।

मैं बरसों से देवराज जी के सर्जनात्मक जीवन को देखता आ रहा हूँ। उनकी कविताओं में डा. गोविन्द चन्द्र पाण्डेय की रचनओं से अधिक आवेग और रूपासक्ति है। पर दार्शनिक होने के कारण वह प्रत्येक वृत्ति और अनुभव पर, प्रत्येक पर्यवेक्षण और संवेदन को विचारणा और विश्लेषण का विषय बनाते हैं। उनकी दृष्टि समूची मानवता और सभ्यता पर पड़ती है और इसलिए उनकी कविता में एक विशिष्ट सांस्कृतिबोध मिलता है। किसी चित्तवृत्ति या भाव मे डूबना और फिर उसे विश्लेषण का विषय बनाना, ये परस्पर विरोधी सी प्रतीत होने वाली क्रियाएं देवराज की रचनाओं मे घुल मिलकार एक हो जाती हैं। डॉ. देवराज का अपना अलग रंग और अलग ढंग है:

'कुछ सूरतें ऐसी होती हैं कि जिन्हें
बिना ऊबे सदियों तक निहारा जा सकता है......
......जहाँ तक इस विश्व का सवाल है, ए दोस्त
उसने अभी तक सिर्फ़ एक ही चीज़ ऐसी बनाई है
यानी कि तुम..................
जिसके लिए उसके प्रति सचमुच कृतज्ञ हुआ जा सकता है।''

डॉ. देवराज रूप और प्रेम में आसक्ति को मनुष्य का मौलिक अधिकार मानते हैं, उसका गरिमा सम्पन्न कार्य और धर्म भी। 'इला और अमिताभ' (1972ई.) हिन्दी कविता में एक मात्र रचना है, जिसमें मानलीय प्रेम की मादकता और तल्लीनता के साथ-साथ उसके लिए सर्वस्व का बलिदान चित्रित किया गया है। इसमें प्रेमिका, अपने प्रेमी के सामाजिक मान सम्मान की रक्षा के लिए उससे 'विवाह' करने से मना कर देती है और 'संरक्षिता' बन कर ही रह लेती है। समाज के मिथ्या रीतिरिवाज़ों और उसकी दमनशक्ति से कितने कोमल भाव हताहत हुए हैं, यह सब 'इला और अमिताभ' में वर्णित है।

इस काव्य से डॉ. देवराज स्वच्छन्द-समाज का पक्षसमर्थन करते हैं। समाज में केवल ग़रीबी ही दुःख का कारण नहीं है, बल्कि सामाजिक विधि-निषेध भी सहज मनुष्य को तोड़कर रख देते हैं। मिथ्या सामाजिक मर्यादा में बँधे बँधाए लोग अपने रागात्मक स्तरों का पूर्ण विकास नहीं कर पाते। वे एक स्वीकृत राग के बासी घेरों मे आजीवन घूमते

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हुए जान दे देते हैं मगर उनके मन कलपतेरहते हैं। प्रतिष्ठा और प्रेम के इस द्वन्द्व को डा. देवराज ने अपने कथासाहित्य और काव्य में बार-बार उठाया है पर यह झूठी मर्यादाओं में निगढ़बद्ध समाज देवराज जी की व्यक्तिगत और सामान्यीकृत पीड़ा पर कहाँ ध्यान देता है? देवराज जी इसीलिए प्रश्न करते हैं:

'क्यों न बढ़ें जीवन में हम कर स्वीकार यहाँ
ऋजु प्रतीतियाँ मन की?
'महामानव, प्रिय मेरा, पूरे इतिहास की रूपरस ज्ञान प्यासी
नरता का प्रतिनिधि है
उसकी विचार बुद्धि, रूपासक्ति,
सबमें ज्यों
खोजता समष्टि चित्त अपनी परावधि है।
उसके असंयम में मानव की आदि क्षुधा
अपना मौलिक निर्बन्ध रूप करती प्रकाशित है।

स्वयं डा. देवराज ऐसे ही महामानव हैं और ऐसा ही वह मनुष्य मात्र को मानते हैं पर उसका कारण यही है कि लोग उनकी ज्ञानासाक्ति को तो आदर देते हैं पर वे उनकी प्रेमासक्ति का उपहास करते हैं:

'दुनिया के धरा-धाम, मान-यश
छोड़, मैंने देवों से मांगी थी
प्रियतम की सेवा, साथ किन्तु कहाँ
वे सब पसीजते हैं?
× × × ×
ईर्ष्या-असूया-डाह-क्रोध वाली अक्सर
होती हैं पत्नियाँ
पति के शरीर मन धन पर एकाधिकार
चाहती है बीवियाँ'।

यही संकटबोध 'अजय की डायरी' में है, यही तकलीफ बार-बार स्फुट रचनाओं में व्यक्त होती है। गृहस्थी के बंधनों मे जकड़ी एक प्रतिभा किस प्रकार तड़पती है, इसे परखने के लिए देवराज जी की यह रचना बहुत दिलचस्प हैं–

'प्रतिभा की अभिव्यक्ति पोषण में बाधक है
जीवन गृही जन का—
प्रतिभा की पत्नी अशक्ति है, सम्बल है प्रेयसी हैं...........
............धर्म के प्रवक्ता-हितैषियों में वैर-क्रोध-अग्नियों की कैसा

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

निर्धूम ज्वलन है.........
सृष्टिभर में कहीं मेरे बंधु को ठौर नहीं, आश्रय-आधार-नहीं।'[1]

डॉ. देवराज का लहज़ा बौद्धिक का और मन रामांटिक का है। चूँकि सप्तम दशक की कविता में अभिभाषण या वकालत की जगह, आक्रमण को समकालिक माना जाता है अतएवं देवराज जी के किताबी मुहावरे और अपेक्षाकृत ठण्डे अन्दाज़ को उतना महत्त्व नहीं मिला, जितने का वह हकदार था। असलियत यह है कि देवराज ने अपने सर्धनात्मक लेखन से, 'सांस्कृतिक क्रान्ति' करनी चाही है। वर्जनाओं और दिखाऊ प्रतिष्ठानों के चक्र व्यूह में फँसे हुए बेचारे बुद्धिवादियों की ओर से **डॉ. देवराज** बोलते रहे हैं पर कोई पसीजा नहीं, तो वह क्या कर सकते हैं?

डॉ. देवराज का दूसरा धरातल समकालीन सभ्यता पर विचार विमर्श का धरातल है। वह शिविरबद्धता से ऊपर उठकर, बहुत ऊँचाई से मानव सभ्यता के अंतर्विरोधों का आकलन करते हैं और यांत्रिक प्रतिबद्धता में अंतहीन दौड़ लगाने वाले लोगों और देशों की अंधिनियति पर कटाक्ष करते हैं :

'.........इंजिनों का माथाफोड़ शोर
लोकसभा में पार्टियों का वैधानिक हंगामा
इधर तुम्हारा प्रस्ताव कि हमें इसी माह का रेडियोग्राम लेना है
उधर रूसी प्रधानमंत्री और पीकिंग के तानाशाहों के मध्ययुगीन कुश्तीबाज़ों
के अन्दाज़
वाले तेवर और इधर हमारे घर का माहौल
कि तुमने एक अरसे से मुस्करा कर बात नहीं की है
अनेक युगों का एक साथ शुभारम्भ हुआ है।[2]

देवराज विशुद्ध मानववादी कवि की तरह भयंकर राजनीति, दमनशील प्रशासन और समाज तथा आडम्बरी और संकीर्ण नैतिकबोध का विरोध करते हैं और सहज एवम् अनुरागी व्यक्तित्त्वों की रक्षा के लिए चिंतित है। वह पुराने सन्तों महात्माओं की तरह समझते हैं कि मनुष्य के मानस में उठने वाली अमानवीय तरंगों को मानवतावादी भावनाओं और अपीलों से शांत किया किया जा सकता है अतएव उन्हें साम्राज्यवादियों और समाजवादियों मे कोई अंतर नहीं दिखाई पड़ता। वह एक ओर अमरीका के स्थूल भोगवाद और प्रलोभन-प्रियता से क्षुब्ध है तो दूसरी ओर कठोर नियंत्रण के समर्थन साम्यवादी शासन भी उन्हें अप्रिय लगते हैं। निश्चय ही, डॉ. देवराज की बड़ी मुश्किल है। काश, मानव

1. हला और अमिताभ
2. सुहब के बाद', पृष्ठ 24

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इतिहास और सभ्यता पर कवियों का नियंत्रण होता!

देवराज जी की शक्ति मानवप्रेम में है, व्यवस्था-विरोध में नहीं। वे स्थितियों को बदलने वाली रचना नहीं लिखते, मन को बदलने वाली कविता लिखते हैं:

'जब-जब मैं किसी मासूम बच्चे और ख़ूबसूरत लड़की के
सलोने चेहरे को देखता हूँ
तो आश्चर्य से अवाक् रह जाता हूँ
कि इस बेमानी चक्कर काटती हुई धरती पर मनुष्य की हज़ार ग़ैर ईन्सानी
हरकतों के हंगामें में ये अलौकिक आभा और आकर्षण वाले फूल कैसे,
कहाँ से अकस्मात खिल पड़े हैं।

क्लासीकल और रोमांटिक दोनों प्रकार के कवियों की यह चिरपरिचित ज़मीन है। विचारधारा की दृष्टि से डा. देवराज समाजवाद विरोधी से लगने पर भी उनका मूलकवि उसी मानवप्रेमी परम्परा का आधुनिक संस्करण है, जिसकी अपील का असर प्रत्येक विचारधारा के व्यक्ति पर पड़ता है, बशर्ते कि वह अपने पर ऐसा असर पड़ने दे। पक्षधर साहित्य के प्रवाह में देवराज और गोविन्द चन्द्र पाण्डेय जैसे मानव प्रेमी कवियों का प्रभाव चाहे कम हो पर उसकी जड़ें मानवात्मा के केन्द्र में हैं। यह मानववादी योगदान मामूली नहीं है।

अपने अस्तित्व की बेचैनी, लगातार कुरेदन, हर अनुभव और सम्बन्ध में निरर्थकता की प्रतीति और ध्येयहीनता का एक अनोखा एवम् व्यक्तिगत संसार श्रीकान्त वर्मा के 'दिनारम्भ' और माया दर्पण' की कविताओं में मिलता है। प्रत्येक चिंतन पद्धति और मूल्यपरम्परा से अपने को मानसिक दृष्टि से मुक्त कर लेने के पश्चात् श्री कान्त अंतर्मुखता की विचित्र दुनिया में भटकते हैं। सामाजिक क्रान्तिकारी और ध्येयनिष्ठ कवि धूमिल की 'पटकथा' और श्रीकान्त वर्मा की 'दिनारम्भ' में प्रकाशित 'पटकथा' की तुलन से दृष्टि से सृष्टि का रहस्य खुल जाता है।

धूमिल की पटकथा में आज के भारत का राजनैतिक-सामाजिक पिछड़ापन और अंतर्विरोधग्रस्तता का नशा है और देश की नवनिर्मित संस्थाओं की असफल भूमिका पर प्रहार है, सशस्त्र संघर्ष का आवाहन है मगर श्रीकान्त वर्मा की पटकथा में सिर्फ़ व्यक्तिगत दृष्टि है। श्रीकान्त वर्मा को हर चीज, हर एक गतिविधि ऊलजलूल लगती है, उन्हें जीवन और समाज में, प्रकृति और परिवेश में कोई संगति नज़र नहीं आती, जैसे जो हो रहा है वह एक रहस्य है, यह व्यर्थ रहस्य:

'समझ में नहीं आने वाली कुछ ध्वनियाँ
सुबह-सुबह पड़ती हैं कानों मे

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इतना ही बहुत है कि आज भी सुबह होती है.........एक कौआ गरदन घुमा कर नासमझ नज़रों से ताकता है और अचानक उड़ जाता है।[1]

कवि की कैमरे की तरह चारों तरफ घूमती हुयी नज़र, दृश्यों में संगति और अर्थ का अभाव, बीच-बीच-सामाजिक न्यूनताओं पर चोट और सर्वोपरि एक खट्टा, ऊबा हुआ मन। **श्रीकान्त** की पटकथा धूमिल की पटकथा के समानान्तर चलती है:

एक द्वार है जो बन्द है
एक जेब में घड़ी
दूसरों में फाँसी लगाने के लिए कमन्द है
वह हाथ बढ़ाता है और पाता है
पसीने से चिपचिपायी हुयी एक चोली है
वह घबरा कर किसी और का हाथ पकड़ लेता है।
यह एक दूसरी तरह का संसार है
एक ठेकेदार जिसका नेता है।

सोचने और कहने का बाँका ढंग, सादा बयानी के बावजूद, गूढ़ार्थों की व्यंजना **श्रीकान्त वर्मा** की कविता के सबल पहलू हैं पर उनके कविता संसार में जो अस्तित्ववाद की प्रतिध्वनियाँ हैं, जीवन और समाज के प्रति जो 'एब्सर्ड दृष्टि' है, वह सामाजिकता के लिए चिंतित कवियों के बीच अप्रासांगिक सी लगती है। **श्रीकान्त** की कविता को पढ़ते वक़्त जान पड़ता है कि हम कवि की निजी अनुभूतियों के चक्रव्यूह में हैं और परेशान हैं पर न कारण का ज्ञान होता है, न रास्ते का परन्तु विसंगति का तीव्र बोध और अहसास अवश्य होता है। 'एक मुर्दे का बयान' में श्रीकान्त वर्मा चीज़ों और घटनाओं की अज्ञेयता और जीवन की निरर्थकता की यों खबर देते हैं:

मैं एक अदृश्य दनिया में न जाने क्या कर रहा हूँ
मेरे पास कुछ भी नहीं है.........
मैं ग़लत समय की कविताएं लिखता हुआ
नकली सिगरेट पी रहा हूँ।
.........मैं एक साथ ही मुर्दा हूँ और ऊद बिलाव भी
मैं एक वासी दुनिया की मिट्टी में दबा हुआ
अपने को खोद रहा हूँ।
.........मैं एक सड़ा हुआ प्रेम था
मैं एक मिथ्या कर्त्तव्य था

1. दिनारम्भ–पटकथा, पृष्ठ 56.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

.........मैं एक गलत बीवी का नेपोलियन था
मैं एक ग़लत जनता का शहीद था।

जब सब कुछ ग़लत है, जनता भी ग़लत और लेखक भी ग़लत, तब आशा का आधार क्या हो? **श्रीकान्त** के लिए आशा का आधार सचमुच कुछ नहीं है, इसीलिए उनकी कविताओं में, एक ही मूड फूलों में सूत्र की तरह सर्वत्र मिलता है। उदासी, ऊब, अवसाद, निरर्थकता, विसंगति बोध और अलगाव के इस संसार में न कोई आश्वासन है, न धनात्मक पक्षों के प्रति लगाव, एक सूना, सूखा और संकटमय विश्व है, जिसमें कवि अपनी पीठ पर अपनी ही क़ब्र का पत्थर ढो रहा है :

मैं अपनी पीठ कर अपनी ही क़ब्र के
पत्थर सा ढोता संसार।[1]

लक्ष्मीकान्त वर्मा के 'अतुकान्त' काव्यसंसार में भी कटुता, अस्वीकृति, तल्ख़ी और बेबसी का राज है पर वहाँ अस्तित्ववाद की प्रतिध्वनियाँ कम है, अपनी बेबस हस्ती का अनावरण और सव्यंग्य प्रतिक्रियाएं अधिक हैं। सप्तम दशक में प्रकाशत 'अतुकान्त', सामाजिक क्रान्ति की कविताओं के बीच, 'नयी कविता' का सप्तम दशकीय नमूना सा जान पड़ता है :

ओ माँ, सच मानो, मुझे दीमक नहीं छुएंगे
नहीं पास आएगी चींटी : चूहा
नहीं देखेगा कोई भी हिंसक
क्योंकि मैं मर कर जीवित का अभिनय हूँ।[2]

लक्ष्मीकान्त में 'रस-स्निग्ध ज्वारों' की चाह है, यही **श्रीकान्त** और **लक्ष्मीकान्त** के व्यक्तित्वों में अंतर है। **श्रीकान्त** में रस की चाह नहीं है, क्योंकि मधुरता, स्नेह और स्वीकृति आदि धनात्मक भाव **श्रीकान्त वर्मा** में वमनेच्छा जगाते हैं पर **लक्ष्मीकान्त** में बेबसी का स्वर अधिक प्रबल है।[2] उनमें वह 'मानवप्रेम' भी बचा हुआ है जिससे श्री कान्त को घृणा है :

"मेरा अपराध यह है मैंने कारनिस से गिरे हुए गौरैये के चूजे को फिर कारनिस पर रख दिया है।[3]"

यह मैंने क्या किया।।
मेरा घर हराभरा गुलस्तौं हो सकता था
एक संगीत की कड़ी बन सकता था

---

1. दिनारम्भ, पृष्ठ 42
2. अतुकान्त पृष्ठ 26
3. अनुकान्त पृष्ठ 51

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

लेकिन इस युग में मैंने वह चुना
जिसमें रेत है, मरु है, विष है, व्यंग्य है।[1]

लक्ष्मीकान्त की कविता में वक्रता की जगह बयानबाज़ी अधिक है। **श्रीकान्त वर्मा** अपने निरालेपन से जहाँ पाठक को बांध लेते हैं, **लक्ष्मीकान्त** उसे डट कर बोर करते हैं। उनमें कविता कम बयानों और वक्तव्यो का सिलसिला है। **लक्ष्मीकान्त** में 'चयनशक्ति' और कसावट का अभाव होने से सचमुच उनकी कविता 'अतुकान्त' बन गयी है, बीच-बीच **लक्ष्मीकान्त** की अनुभूतियों पर पकड़ अवश्य साबित होती है :

उस दिन शाम उदास नहीं थी
लेकिन वह चाहती थी, शाम उदास लगे।[2]

यह कविता की प्रारम्भिक पंक्तियां हैं। मनोगति की समझ यहाँ है पर लक्ष्मीकान्त ही क्या, जो वह कविता को 'बतंगड़' न बना दें। बात को बिला बात फैलाना, और नये के साथ परिचित की पुनरावृत्तियों को ठूँसने की अतुकान्तकला में **लक्ष्मीकान्त** बेजोड़ है। ऊपर की बढ़िया लाइन के बाद **लक्ष्मीकान्त** कहने लगते हैं :

उस दिन उसकी साँस खुली नहीं थी
लेकिन उसे लगा, उसकी प्रत्येक सांस खुली हुई लगे
उसे किसी की याद सता नहीं रही थी,
पर वह चाहती थी कि कोई याद बन कर आये,
वह कुछ गुनगुनाये।

और इन परिचित अनुभूतियों की ठूँसठाँस के बाद लम्बा सा फोटोग्राफ़िक बयान। कविता में जो लड़की शाम को घूमने चली थी और जिसमें नयी अनुभूतियाँ आ जा रहीं थीं, उसके साथ न चल कर **लक्ष्मीकान्त** जी बात बढ़ाने लगते हैं। इसे मानवविश्रृंखलता जैसा कुछ कहा जा सकता है या नहीं, यह तो मनोवेत्ता और हकीम जी जानें, मगर यह तय है कि **लक्ष्मीकान्त** कवि पर नेता तुरन्त सवार हो जाता है और जहाँ सार्थक वक्तव्य की ज़रूरत होती है, वहाँ वह वह अपने नेतामन को हटा कर कवि को बिठा देते हैं। इनके काव्य–संसार में सचेत कवि का चेहरा नहीं, मिलता। वहाँ रचना, अंतिम रूप में नहीं है, रचना होने के पहले के प्रारूप **लक्ष्मीकान्त** में अधिक हैं, इसीलिए सप्तमदशक मं वह अचर्चित रहे।

नेमिचन्द्र जैन के 'एकान्त' में 'पुरानी-नयी कविताओं के अतिरिक्त कुछ सप्तम दशकीय रचनाएँ भी हैं किन्तु उनमें कुछ उल्लेखनीय नहीं लगा। **लक्ष्मीकान्त, नेमिचन्द्र जैन, अजितकुमार** के इधर के काव्य संसार में बोध, व्यक्तित्त्व और रचना की दृष्टि से

1. अनुकान्त, पृष्ठ 60
2. अतुकान्त, पृष्ठ 175

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इनके पिछड़ जाने जैसा महसूस होता है, यों यहाँ भी बीच-बीच ये कवि, अपना जादू दिखा जाते हैं :

एक उद्धत चिरैया किए जाती है चें चें
बार बार डर लगता कि कहीं चूक न हो जाए
है उसी का सहारा, अथाह सूनेपन में
व्यक्त की है उसी ने तो मेरी हाय।[1]
हम तलाशते थे गुनहगार एक बच्चे को
तुम कहाँ से उठा लहिं
दम तोड़ता हुआ यह बुड्ढा, दफ़नाओ[2]

आत्मीय स्वरों में यथार्थ को पकड़ने-पहचाने की यह प्रवृत्ति, पुरानी-नयी कवयित्रियों में और भी अधिक सहज रूप में मिलती है। सम्बन्धों में स्वतंत्रता की प्रबल कामना पर साहस के अभाव से उत्पन्न अवसाद, पस्तहिम्मती, मीठेमन में डूबी यादें, दिलों पर दबावों के दुःख और विवशता से इन रचनाओं में मुक्ति के लिए छटपटाती नारी की कोमल मगर अधूरी शाख्सियत की शक्ल सामने आती है :

'अब कविताई अपनी कुछ काम नहीं आती
मन की पीड़ा झर-झर शब्दों में झरती थी
.........यह क्या से क्या हो गया
कि मेरी रचना का चातुर्य वही
अभिव्यक्त मगर अव्यक्त मूक ही रह जाता।[3]

शिक्षित और सचेत नारी की समस्या यह है वह अपने पारम्परिक ढाँचे को पूरी तरह नहीं छोड़ना चाहती, क्यों कि उसमें चुनौती नहीं, सुरक्षा है, सुख है पर दुःख जहाँ तोड़ता है, वहाँ वह चेतना को सोने नहीं देता, वह उसमें अपने चिन्गारियाँ पैदा करता रहता है। चेतना को चटकाते रहने की शक्ति से ही दुःखों और अभावों से साहित्य और विचार के अस्त्रों ने हमें प्रतिक्रिया व्यक्त करने की ताक़त दी है, लगातार भिड़े रहने, रोम-रोम से सतर्क, सन्नद्ध रहने का रुख दिया है। सुरक्षा और सुख, सुख की स्थितियों में कबीर और निराला जैसे लोग नहीं उगते। विस्फोटों के मूल में हमारे दुःख हैं मगर कुछ न करने की स्थिति में वह दुःख, टीस के रूप में समृद्ध और आत्मसंतुष्ट व्यक्तियों के सहवास में भी, भीतर टीसता रहता है। इस टीस का अस्तित्त्व पुराने अभिजात लोगों में भी था। यह टीस नवीन और सामाजिक अभिप्रायों से जुड़ी हुई नहीं है। उसमें आधुनिक वीरता

1. 'यह फूल नहीं' अजितकुमार पृष्ठ 80
2. वही, पृष्ठ 91
3. 'खुले हुए आसमान के नीचे', कीर्ति चौधरी, पृष्ठ 23

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

या वोल्डनैस का अभाव है, वह दबी-घुटी चीख़ की तरह है, जो मुक्ति की आकुलता या पूर्णता की प्यास को व्यक्त करती है। मुक्ति के प्रयत्न में जूझने वाली मनोवृत्ति वहाँ नहीं है। अतएव बुझती हुई ज्योति के यहाँ दर्शन होते हैं:

दीवारों कगूरों पर से बहता
पिघले सीसे सा यह अंधकार
नस नस में जमता ही जाता
युग बोझिल है
धुँधली धुँधली होती जाती है दृष्टि
यही क्या अथ है?

यह सुखी और सुरक्षित होकर रहने और स्वाधीनता के लिए दी गयी क़ीमत है। मध्यवर्ग की तमाम प्रबुद्ध मगर साहसहीन नारीशक्तियों की यह तस्वीर हर जगह है, वह अभी भी 'प्रकृति' है, जिस पर पुरुषों का प्रभुत्व है:

पुरुष की बाँहों में जकड़ी मैं वह प्रकृति हूँ
जिसके होने से आस्मान में सितारे चमकते हैं
धरती पर अंकुर उटते हैं
प्यार को समर्पित मैं वह सृष्टि हूँ
जिसमें सागर लहराते हैं।
संभोग के बाद बिस्तर से उतर कर मैं केवल एक संज्ञा हूँ।[1]

किरण जैन की इस प्रकृति रूपा नारी की नियति में, केवल प्रकृति का माध्यम बन कर रह जाने का अफ़सोस भी है, यही चीज़ नारी की स्वचेतना को व्यक्त करती हैं। प्रकृति का विचार या चेतना में रूपान्तरण होते ही कोई जगमगाता विचार, माध्यम बन जाने की स्वचेतनता को बढ़ाने लगता है। यह स्वचेतनता अपढ़ों—अज्ञानियों में कम होती है। इसी स्वचेतनता के कारण, किरण जैन की कविता इन पंक्तियों के साथ ख़त्म होती है—

'मैं अनेक बच्चों में एक दो की माँ हूँ
सब औरतों जैसी एक औरत हूँ
एक जीवित कुण्ठा हूँ।[2]

सप्तम दशकीय कविता में कहने का साहस तो आया ही है। घर और बाहर के द्वन्द्व ने शिक्षिताओं को कशमकश में डाल रखा है, न वे परम्परा के सुखों को छोड़ना चाहती हैं, न आधुनिकता या मुक्तता को अपना पाती हैं—

1. 'यामां और यामा'—किरण जैन, पृष्ठ-13
2. वही,

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

तुम्हारे दिए सारे मानसिक तनाव झेल लिए
नसों की मीठी सिरहन भी स्वीकार ली
......दायित्वों के सारे बोझ संभ्हाल लिए
पर अपने उस रूप का क्या करूँ
जो तुम्हारे वायदा कर न आने से
खिड़की खोल दिन रात
तुम्हारी प्रतीक्षा में खड़ा रहता है
.........घुटनों में सिर दबा
चुपचाप सिसका करता है।[1]

प्रतिकूल वास्तविकता में बदलाव न होने से व्यक्तित्व का विभाजन होना अनिवार्य है। परिस्थिति और मन में द्वन्द्वात्मक संगति है, सरल, सीधा रिश्ता नहीं। इसी हालत में वे दर्शन प्रिय लगते हैं, जो सिर्फ़ स्थिति का विश्लेषण करें, उसमें बदलाव के लिए उत्तेजना न भरें। इसमें शक नहीं कि दो व्यक्तियों को अपने में एक साथ पालना प्रतिकूल स्थिति में ज़रूरी हो जाता है पर वह वांछनीय स्थिति तो नहीं कहला सकती। वांछनीयता के लिए संघर्ष ज़रूरी हो जाता है जो लोगों में पहले आत्मसंघर्ष के रूप में आता है, फिर उस आन्तरिक तनाव को असह्य पाने पर उसमें आतिशबाज़ी शुरू हो जाती है। द्वितीय विश्व युद्ध के बाद 1962 तक का युग, आत्म संघर्ष का युग है, इसीलिए अस्तित्ववाद शिक्षित मध्य वर्गीयों को इतना अच्छा लगा। अस्तित्ववाद में सांत्वना मिली कि अस्तित्त्व बनाम समाज के प्रश्न पर अस्तित्व का पक्ष लेना अनैतिक नहीं है। निजी अस्तित्त्व को ही सर्वाधिक प्रामाणिक मान लेने के कारण, अस्तित्व का अंतरावलोकन शुरू हो गया।

.........घण्टों बन्द फ़व्वारे के नीचे भीगती रही
शयन कक्ष में जाकर पति के बच्चों को प्यार किया,
कमरे की हर चीज़ पराई पायी—
पति के स्थान पर एक व्यस्त परछाई देख
कभी घर अजनवी लगा
कभी अपने को अजनवी पाया।[2]

पुराने नए कवियों और कवयित्रियों के इस सिलसिले में विजयदेव नारायण साही का 'मछलीघर', सप्रमदशक के विद्रोही कविता के उबालों के बीच भी ध्यान खींचता है। यहाँ 'नयी कविता' वाला बार-बार आज़माया गया, 'एमबीग्यिुटी' का रचना—व्यापार है जो एक ओर तो, अनेक अर्थों को ध्वनित करता है तो दूसरी ओर अभिव्यक्ति के स्तर

1. यामा और यामा, पृष्ठ-22
2. वही, पृष्ठ-45

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पर वर्ण्य को बिम्बित करने का आकर्षक तरीक़ा अपनाता है–

एक काली चट्टान है
जिस पर बेतहाशा धारा अपना सिर पटकती है
लेकिन हिला नहीं पाती
सिर्फ़ चट्टान धुलकर रह जाती है
और उसके भीगे कलेवर से
हज़ार सूरज चमकते हैं।
.........जहाँ नदी का शोर नहीं पहुँचता
वहाँ भी तुम्हें लगेगा
कि पीछा करने वाले जानवर की तरह
कोई तुम्हारा पीछा कर रहा है।[1]

× × ×

जब भी तुम आंखें उठाओगे
तुम्हें सामने वह तीर जाता हुआ दिखाई देगा
उसका कोई लक्ष्य नहीं है
क्योंकि जो कुछ भी उसके आगे पड़ता है
आकाश की तरह रास्ता दे देता है
वह केवल जाता रहता है
उजला, जगमगाता।[2]

सटीक और चिपक जाने वाले सेन्द्रिय और सार्थक बिम्बों में वर्ण्य को बदलते हुए कवि जहाँ परिदृश्यीकरण में कामयाब होता है, वहीं कविता को अनेकार्थक बनाने की जुगाड़ में वह ठोस यथार्थ से सीधे नहीं टकराता। अतः कलात्मकता के कौतुक में वर्ण्य वास्तविकता और विचार, एक अजीब तरह से रहस्यमय से लगने लगते हैं। कवि व्यक्तिगत अनुभूति के वैचित्र्य की टटोल में रहता है लेकिन व्यापक अनुभवों में पाठक स्वयं भागीदार होता है। वहाँ वह वर्ण्य विषय में भी, विचार और अनुचिंतन में स्पष्टता चाहता है। 'मछलीघर' में बार-बार चमकती हुई अंाखों का बिम्ब प्रयुक्त हुआ है पर वे आँखें खिड़की के पार, आसमान सरीखी आँखों को देखती हैं जो द्रष्टा के साथ-साथ उठतीं, गिरतीं हैं। एक रोमांचक अनुभूति होती है, नाटक सा भी अनुभव होता है, चेतना में निर्निमेष आंखें दिखाई पड़ रही हैं और द्रष्टा 'मछलीघर' की काँच की दीवालों पर टिका हुआ है, तृप्त और निहाल!

1. मछलीघर, पृष्ठ-5
2. वही, पृष्ठ-1

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

'अंधेरे गोलार्द्ध की रात' में भी ये ही आँखें दो चौकन्ने बिन्दुओं की तरह चमक रहीं हैं। इन आँखों को अनुभूति-मग्न चिड़ियाएँ तो दिखाई देती हैं पर नीचे के जीवन में कुछ भी बदलता नहीं दिखाई देता। फिर भी, परिदृश्यीकरण के प्रति अधिक सचेत न रहकर जब कवि किसी विचार या यथार्थ की व्याख्या देता है, तब कविता में उक्त रहस्यमय चमत्कार कम हो जाता है और कविता आत्मालाप से, सामाजिकों के साथ संवाद में बदलने लगती है। ऐसे स्थलों पर 'नयी कविता' से, समकालीन कविता की ओर' जाता हुआ कवि 'सर्वात्मालाप' के निकट पहुँचता है–

हमने इक्कीस बार पृथिवी जीती
और इक्कीस बार बर्बरों को दान कर दी
यही कहते हुए
कि इसे भी बर्बरों को ले जाने दो
क्योंकि हम जिस अगाध की तलाश में थे
बर्बरों का उससे कोई सरोकार नहीं था।[1]

'छापामार दस्ते' में शक्तियों की समझ है। एक ओर विजयी जनशत्रु है, दूसरी ओर बार-बार पराजित और विमर्दित 'गुरिल्ला' हैं, जो रोज़ मरते हैं पर रक्तबीज की तरह कहीं और संगठित होकर लड़ने लगते हैं। यहाँ बिम्बकला सिर्फ़ सौन्दर्यबोध को ही संतुष्ट नहीं करती बल्कि वह मानवीय संवेदना और वर्ग चेतना से भी समृद्ध है–

क्या तुमने एक सिसकती हुई आवाज़ सुनी
जैसे कोई पत्थर के नीचे दबा हुआ
कराहता हो?
बैठ जाओ, थोड़ी देर में फिर कराह सुनाई देगी
बिल्कुल साफ़ और असंदिग्ध
और उसके साथ ही उसे डुबाने के लिए
फिर वही पठारों मे काँपता हुआ
मदोन्मत्त विजयोल्लास।
...लेकिन जहाँ इतिहासों में छुटी हुई जगहें दिखें
और दबी हुई चीख़ का एहसास हो
समझना हम वहाँ मौजूद थे।[2]

'एक अर्ध विस्मृत मित्र के नाम' में साही ने ढर्रे में ढली हुए, आत्मसंतुष्ट शूकर जीवन प्रणाली पर चोट की है, यहां भी नाटकीय संवाद की विधि है पर यहाँ प्रतिपक्ष को तर्क

1. मछलीघर, पृष्ठ-78
2. वही, पृष्ठ-88

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

से मारने और उसको उसकी गंदगी (स्वार्थलिप्सा) दिखाकर उसे जगाने की कोशिश है।

अज्ञेय और साही के 'मछलीघरों' में अंतर है मगर कई कविताओं मे साही, अज्ञेय की तरह वस्तुओं के रहस्य की खोज करते रहे हैं और अमूर्त जगत् के अनन्त आकर्षण में जब तब खोए हुए से लगते हैं।

समकालीन कविता परिवर्तन के विचार और क्रिया में संलग्न व्यक्तियों का वक्तव्य है, इसलिए उसमें अज्ञेय और अनिवर्चनीय अनुभूतियों की छलना में न पड़कर, जो प्रामाणिक अनुभव है, और जो व्यापक और विकट है, उसे व्यक्त करने की आकांक्षा के कारण अमूर्तकला को छोड़कर मूर्त संरचना की प्रक्रिया को अपनाने की प्रवृत्ति अधिक है। अगाध रहस्यों की थाह लेते समय अमूर्त्तन के बिना काम नहीं चलता क्योंकि अनुभूति बहुत निजी, निराली और बारीक है, सटीक बिम्ब उसे मूर्त कर देते हैं मगर जानलेवा और व्यापक अहसासों की व्यापक-अभिव्यक्ति अमूर्त्तन विधि से नहीं हो सकती । इसीलिए शायद समकालीन कवियों ने अतिकल्पना या फंतासी से काम लिया। फंतासी में समूचा यथार्थ बोलने लगता है जैसे प्रतिबिम्ब सवाक् हो उठा हो। मुक्तिबोध से सौमित्र मोहन (लुकमान अली) तक यह फंतासी के इस्तेमाल का सिलसिला चला आ रहा है। जाना हुआ, भुगता हुआ यथार्थ, फंतासी के प्रयोग से निराला और अर्थगर्भित जान पड़ने लगता है। फंतासी का इस्तेमाल रूप-रचना और विद्रप दोनों में हो सकता है । मुक्तिबोध यदि घटित का 'भयंकरीकरण' करते हैं, तो सौमित्र मोहन 'लुकमान अली' में विद्रूप और विसंगत (एब्सर्ड) विधि अपनाते हैं। फंतासी यहाँ वस्तुओं को रहस्यमय नहीं बनाती, उनकी असली या घिनौनी शक्ल को अनावृत करती है। फंतासी में यथार्थ को बढ़ा-चढ़ाकर, फेर बदल कर पेश करने की अद्भुत शक्ति है। बिम्ब में 'यथावत्' का ध्यान रखना पड़ता है पर फंतासी में पूरी आज़ादी लेकर पूर्ण निरंकुशता के साथ, वास्तविकता का अतिरंजन या विप्रूप किया जा सकता है।

नयी कविता के समकालीनीकरण के इस सन्दर्भ में 'नवगीतों' की चर्चा रोचक हो सकती है। ओर प्रभाकर का कहना है कि नवगीत के माध्यम से ही वास्तविक हिन्दी कविता की खोज हो सकती है। ओमप्रभाकर 'तारसप्तक' से आज तक की 'नई कविता' को अस्वाभाविक, आयातित और उच्छृंखल प्रयत्न मानते हैं। उसमें वह भारतीय परिवेश और निजी या जातीय विशेषताएँ नहीं पाते।[1]

दरअसल, 'नयी कविता' और 'नवगीत' में नवीनता-प्रेम ही सामान्य तत्त्व है। गीत को गद्य के निकट लाने की आकर्षक कोशिशें हुई हैं मगर मूलअंतर जीवन के प्रति दृष्टि का है। 'जीवन की एषणा और रूप-रस-गन्ध की जातीय विशेषता' अनेक नवगीतों की रीढ़ है। कई गीतों में नई कविता वाला अवसाद और मूल्य द्वन्द्व भी है, पर समग्रतः नवंगीत,

1. पुष्प चरित्र–भूमिका

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

गीत-परम्परा के जीवन प्रेम से जुड़ा रहा है, इसीलिए समकालीन जीवन की त्रासदी की पहचान न करने से अंधे जीवन प्रेम के गीत गाने वालों के प्रति अभिनव काव्य में उपेक्षा का रुख़ है और यही चीज़ नवगीतकारों को अखरती है। गीत तो सामूहिक विधा है, इसमें बारीकी को भी टकसाली साँचे में ढाल कर कहना पड़ता है। बारीकी इतनी ही हो कि स्मृति के बल पर समझ में आ जाए, उसे समझने मे बार-बार ध्यान न देना पड़े। नवीन गद्य-कविता मे यह संभव नहीं है। पाठ्य होने से उसकी पंक्ति-पंक्ति पर, शब्द-शब्द पर ग़ौर किया जा सकता है। नवगीतों में इसकी ज़रूरत नहीं है। इसी वजह से गीतों और नवगीतों की सरलता और सीधापन उन्हें लोकगीत का स्पर्श देता है मगर वे बौद्धिको की बारीकबीनी को संतुष्ट नहीं कर पाते। उनमें विष या विषमय स्थितियों का प्रतिबिम्बन नहीं, जहाँ-तहाँ इशारे हैं या घुटी-घुटी चीखें हैं। उनका जीवन प्रेम, जीवन का निषेध करने वाले अस्तित्ववादियों की तुलना में, स्वस्थ और सजीव है, परन्तु अस्तित्ववादियों की सूक्ष्म दर्शिता का अभाव होने से सही नज़रिया और प्रवृत्ति भी, साहित्य में ऊपरीपन का शिकार हो जाती है क्योंकि वह बिना ध्यान केन्द्रित किए हुए ही समझ में आ जाती है और हमारी बोधवृत्ति को बिना हिलाए डुलाए वह इच्छाओं को बोल देने लगती है। इससे गीत मज़ेदार तो हो जाते हैं पर वे मुख्य धारा के पूरक से ही जान पड़ते हैं, जैसे समकालीन काव्यवाद्यवन्द में वे सहायक वाद्य हों।

'गीत' की इस गौणता को एक गीतकार ने स्पष्ट स्वीकार किया है–

गाली से गीत अधिक अच्छे हैं
ऐसा अब वे सोचते, जो वयस्क होकर भी बच्चे हैं।[1]

बालस्वरूप राही ने नवगीत में नयी कविता वाला मोहभंग और अवसाद का रास्ता अपनाया है–

भीतर है अंध कुआँ, बाहर है सिर्फ़ धुआँ
रमें कहाँ मेरा मन
× × ×
कसमसाहट है अंधेरे में कहीं
रात भी सोयी नहीं मेरी तरह
एक घायल स्वर अचानक चीखता
सामने लेकिन न कोई दीखता।[2]

राही आधुनिक नगर में सब सुविधाएँ चख लेने के बाद भी, प्रत्येक नए कवि की तरह क़ैद-सी महसूस करते हैं क्योंकि गीतकारों के ग्रामीण मानस को महानगरों में, सम्बन्धों

1. 'जो नितान्त मेरी हैं'–बाल्स्वरूप राही
2. वही, पृष्ठ-20

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

का खुलापन और मिठास महसूस नहीं होता अतः उसका मन टापता रहता है–

मैं भी कुछ ऐसे स्वच्छन्द हूँ
जैसे हो सीलभरी लकड़ी में आग
यों सब सुविधाएँ हैं, सिर्फ़ नज़र बन्द हूँ।[1]
× × × ×
टूट गए वहम और ग़लतफहमियाँ
लेकिन ज़िद बाकी है
जिस दिन टूटेगी,, उस दिन हारूँगा।[2]
× × × ×
यह मुझको क्या हुआ
जब भी नाम लेता हूँ किसी फूल का
विंधी हुई उँगली का दर्द उभर आता है।[3]

महानगरों में जिस 'पशु संस्कृति' ने जन्म लिया है, उसमें नवगीतकार न अपनापन पाता है, न सार्थकता क्योंकि सारी दौड़भाग वहाँ रहन-सहन के स्तर को ऊँचा उठाने के लिए हैं और स्तर की उन्नति के लिए भीषण प्रतियोगिता, गोपनीयता और षड्यंत्र हैं। इस देश के नगरों में हो रहे संस्कृतियों के मिश्रण और आदमी की स्वार्थ–लिप्सा से एक "पशु-संस्कृति" का जन्म हुआ है–

सभी रंग मिलकर ज्यों निश्चित अनुपात में
हो जाते हैं सफेद
वैसे ही आज सभी संस्कृतियों ने मिलकर
पशु संस्कृति जन्मी है।[4]

रमेश कौशिक के 'समीप और समीप' में भी कमोवेश यही मनोगति व्यक्त हुई है। रमेश कौशिक, स्थिति के वैषम्य या वक्रता तक ही सीमित नहीं रहते, वह व्यंग्य भी करते हैं अतः नवगीत और अभिनव विद्रोही कविता समीपतम बिन्दुओं तक आ जाते हैं। राही में कमज़ोर और सबल पंक्तियों को एक साथ विन्यस्त करने का जो ग़लत रुझान है, रमेश कौशिक में वह नहीं हैं–

जंगल में नगर गये बस
घर में उग आये कैक्टस

---

1. वही, पृष्ठ-20
2. वही, पृष्ठ-58
3. वही, पृष्ठ-81
4. वही, पृष्ठ-82

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ठौर अब नहीं कहीं रहने की।
एक शैतान मुझे दे गया है एक साथ कई-कई पैमाने
इनसे जब लगता हूँ कोई चीज़ नापने
उत्तर नहीं मिलते हैं
शक्ति अब शेष नहीं निर्णय देने की।[1]

ठीक यही अनिश्चितता 'नयी कविता' में थी। नया गीतकार मूल्यों और विकल्पों की बहुलता से परेशान हो गया है कि किस विचार, किस दल, किस शिविर को ठीक माना जाए–

तुमने देखा होगा एक भीड़ के पक्ष में उठता हुआ दायाँ
और दूसरी भीड़ के पक्ष में उठता हुआ मेरा
बायाँ हाथ।
सच पूछो तो उन दोनों के बीच में मैं था ही नहीं,
केवल दायें बायें हाथ थे
जिन्हें उठाया गया था, एलीवेटर के ज़रिए
और दोनों हाथों के बीच सिर की जगह था
सात सूराख वाला एक खाली कनस्तर
बज उठता था, जो किसी के बजाने पर।[2]

ओमप्रभाकर ने, नगरों की संवेदन हीनता और आपाधापी के समानान्तर ग्रामीण जीवन की भाव-ऋतुओं को गुनगुनाहट दी है–

सूना घर भरी दुपहरी
पगली सी भटक रही है
गलियों में हवा अकेली
मेरे माथे पर किसने
रख दी यह गर्म हथेली?[3]

× × ×

किसने बाले दीप, अंधेरे चमक उठे
एक दीप पथमुख पर पूज्य चरण आएँ
एक बरोठे में, अगवानी करता सा
एक मनौती का, तुलसी के घरवे पर

---

1. समीप और समीप, पृष्ठ-82
2. वही, पृष्ठ-6
3. वही, पृष्ठ-12

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

एक कुठरिया में, अमृत रस भरता सा
किसने खींची बाँह कि खड़ुए खनक उठे ?[1]

विदा के समय सन्नाती पटरियों और थर्राती स्टेशनों की पहचान, अँधेरे में ऊँघते हुए गुमसुम कोनों की टटोल, धुएँ के देश में राख के लोगों की भाप सी बातों का श्रवण और अन्त में आखेटक निराशा-ओमप्रभाकर जैसे गीतकारों को सौन्दर्य प्रेम और सन्नाटों में भटकाती रहती है, कहीं कोई समाधान, कोई सांत्वना नहीं मिलती–

अभिशापित देश, यहाँ कभी कुछ नहीं होगा
चाहे जितने दधीचि अस्थिबीज बो जाएँ।[2]

रमेश रंजक के 'हरापन नहीं टूटेगा' में गीतकारों के सभी मूड और लटके हैं मगर उसमें नयी समझ भी हैं–

हर आए गये झौंके पर
तुम अपना हराभरा
सिर हिला देते हो पेड़
क्या तुम्हारा अपना कोई मत नहीं ?

वह आदमख़ोर है और तुम शिकारी
बंधु, देखभाल कर चलो
पैंतरे सँभाल कर चलो।

बंधु रे, हम तुम घने जंगल की तरह होते
नाम भर वाले अगर रिश्ते नहीं ढोते
बंधु रे, हम तुम।

एक हाथ में विरोधपत्र और दूसरे में समर्थन
लिए हुए जो गुज़रे हैं, खरे उतरे हैं।[3]

दर्द, टूटन, मोहभंग, प्रवंचित होने का भाव, निराशा, निश्चिन्त प्रेम की प्यास, सौन्दर्य के प्रति लगाव-यह सभी गीतकारों का जाना हुआ भावजगत् है पर कहीं यह ज्ञात नहीं होता कि उनका दुश्मन कौन है ? 'सपन की गली' में हरीश भादानी अवश्य ध्वंस या क्रान्ति की ओर इशारा करते हैं, मगर उस मनःस्थिति के लिए पाठकों को तैयार करने

---

1. वही, पृष्ठ-12
2. वही, पृष्ठ-87
3. हमापन नहीं टूटेगा

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

की जगह गीतकार रिरिंसाओं और 'दर्द' के चक्कर में पड़े रहते हैं–

तू चुप रह, आने वाले किसी तूफान की बेला तक
हाँ, वह तूफान अपने कठोर डैनों की झपेट में इस
बूढ़े वृक्ष का,
साँपों की लटकती शाखों का अस्तित्व मिटा देगा...... ।[1]

क्या यह 'तूफान' दर्द के गीत गाते-गाते ही आएगा या इसके लिए गीत के वस्तु तत्त्व को बदलना होगा ? इस प्रश्न पर किसी गीतकार में कोई चेतना नहीं मिलती। रमानाथ अवस्थी, रामावतार त्यागी आदि में भी दर्द और शिकवों-शिकायतों की दुनियाँ है। गीतकार पूर्णता तो चाहता है पर उसके लिए विपरीत शक्तियों, संघर्षशील व्यक्तियों, शक्ति स्रोतों और दलों की ओर आँख बन्द कर लेता है और फिर अमूर्त और अनन्त 'दर्द' में मुब्तिला हो जाता है। फिर भी, गीतकारों में मानव संवेदना जगाए रहने की प्रवृत्ति है, यह भी योगदान कम नहीं है। बरबाद हस्तियों का लयवद्ध रुदन पाठक में, स्थिति परिवर्तन के लिए रोष अवश्य उत्पन्न करता है–

तन हुआ पिंजर मन अनुरागी
आँखें हो गयी लहरिल
दर्द मेरा मछवारा बनकर
ढूँढ़ रहा है, साहिल साहिल।
साँसें जैसे घुन लगी बल्ली
जीवन हो गया जर्जर तम्बू
......स्मृतियाँ आखेटक बनकर
भटकाती हैं जंगल जंगल।[2]

(ओमप्रकाश निर्मल)

नचिकेता ने नवगीतों में गैर रोमांटिक और शुद्ध यथार्थ बोधक दृष्टि और संवेदना को व्यक्त करने की कोशिश की है। यहाँ कड़कड़ी कमाई सा दिन चुकता है, आकाश भूख से औंधा पड़ा हुआ सा लगता है, सपनों की लँगोटी के तार फट गए हैं, धुंध के वातावरण में हम नाच रहे हैं, नसों में छिपकली सी रेंग रही है, आस्मान रीछ सा औंधा पड़ा हुआ है, सत्ता के हाशिये फफून्दों से भर गए हैं, हमारे पास बस अंजुरीभर धूप और सूपभर अँधेरे बच गए हैं, चारों तरफ कीड़ों की तरह गूँगी परछाइयाँ रेंग रही हैं, आदमी अपने मे एक कुआँ हो गया है, उसके पास एक चम्मच चाँदनी है, जिसे वह कहाँ कहाँ छितरा सकता है, उखड़े नाखून-सा यह जीवन रह-रह कर मुट्ठियाँ भींच रहा है अतः गीतों

1. सपन की गली–पृष्ठ-36-37
2. धर्मयुग, 24 अगस्त, 1975

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

के ठण्डे मुहावरे लावा से भर गए हैं, पाँवों में बबूलें चुभ रही हैं, ख्यालात छातियों से उरोजों की तरह टूट रहे हैं, और दूब के गलीचे अंगारे से लग रहे हैं।[1]

नवगीतकार किस तरह रोमानीपन को तोड़कर हक़ीक़तों से जुड़ सकता है और किस तरह उसकी क्रान्तिकारी संवेदना उसे प्रकृति को नवीन ढ़ंग से देखने के लिए प्रेरित करती है और किस तरह गीतकार अपनी प्रत्येक पंक्ति को निरालापन देता है, इसके लिए नचिकेता के गीत एक आदर्श प्रस्तुत करते हैं। नचिकेता वहीं है, जहाँ आज के अग्रगामी और विद्रोही गद्य कवि हैं—

गंधाती गंधक सी थकी हुई सुबहें
फुर्र हुए होठों पर उफनाते क़हक़हे
.........कोई कैसे जिए
सुनकर ईस्पातों की भाषाएँ लाल।[2]

सामन्ती-पूंजीवादी व्यवस्था और उससे फायदा उठाने वालों को नंगा करना और उसके बदलने के लिए पाठकों में भूकम्पक रौद्रता भरना, समकालीन कविता का यह रुख क्रमशः आज के अनेक गीतकारों मे मिलने लगा है। गीतकारों के सौन्दर्य बोध और संवेदन में बुनियादी परिवर्तन हो रहा है। नचिकेता जैसे यथार्थदर्शी गीतकारों में यों अभी भी कवि सम्मेलनी लटकों या 'क्लिशे' के ध्वंसावशेष हैं पर उनकी संख्या कम होती जा रही हैं। गीतों में वातावरण की भयाक्रान्तता और ख़ूनीपन भिद रहा है और रमणेच्छाओं, 'दर्द' और शिकायतों की जगह गीतकार आम आदमी के अनन्त दुःखों से दग्ध होकर परपीड़क सामाजिक-राजनैतिक व्यवस्था पर चोट कर रहा है। नारी-पुरुष के सम्बन्धों के विषय में भी, नवीनतम गीत लेखिकाओं ने नए पक्षों का वर्णन शुरू किया है—

डालियाँ लचक गईं
प्रभंजन के साथ-साथ
.........यह सच है पवन को आमंत्रण दिया
था लाल फूलों की लहलही
टहनियों ने
.........सन्दर्भों से कटे तुम अब तक न समझ सके
क्यों तुमको बुलाकर मैं पिछले दरवाज़े
से निकल गई।
डालियाँ लचक गईं।[3]

1. आदमक़द ख़बरें-नचिकेता, 1973
2. वही,
3. 'छः × दस'–संगीव प्रकाशन, नई दिल्ली,
...............प्रमिला शर्मा, पृष्ठ-71

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

फिर भी अभी तक सप्तमदशक के जो गीत संग्रह हमारे सामने हैं, उनमें आकांक्षाओं का संसार का ही पलड़ा भारी है। गीत-नवगीत को अभी भी मनोजीवी स्वभाव से बुद्धिजीवी व्यक्तित्व की ओर बढ़ना है।

आकांक्षाओं का जगत् भग्नाश होने पर 'दर्द' में बदलता है। उर्दू की रोमांटिक कविता और हिन्दी के गीत काव्य में यही सनातन धरातल है। जब तक जीवन है, आकांक्षाएँ हैं और वे टूटती भी रहेंगी। इसीलिए गीत सनातन विधा है। आदमी की यह दुर्बलता और गौरव है कि वह सुख, दुःख से संवेदित ही नहीं होता, वह उसे गाता भी है और गाता रहेगा। गीतकार जीवन की अति सूक्ष्म विचार तरंगों और आकर्षक दृष्टिकोणों में नहीं जाते, वे संवेदित समूहों के साथ तादात्म्य कर उसके भावजगत् को छूते हैं। इस छुअन में कला कम होने पर भी भाव जग जाते हैं और समूह-मानव एक दूसरे के संवेदनों-मनोवेगों से हिल्लोहित होता हुआ, अपनी इच्छाओं और निराशाओं के प्रतिबिम्बों में खो जाता है। गीतकार ऐसे ही प्रतिबिम्बों की रचना करते हैं। वे बौद्धिक क्षेत्र की विचारधाणाओं की दुरूहता से घबराते हैं। नवगीतकारों ने बच्चन, सुमन, वीरेन्द्र मिश्र की भावुक परम्परा को छोड़कर गीतों में बौद्धिक जागरूकता के स्पर्श दिए हैं। किसी भी रूप में, नवगीत को गेय बनाए रखने की बंदिश के कारण नवगीत, गद्यकविता की तरह यथार्थ की उधेड़बुन नहीं कर सकता। गीत में ब्यौरे को सामान्यीकृत उक्तियों में कहना पड़ता है और स्थितियों की तरफ इशारा कर दिया जाता है। इस पद्धति से समूह मानस परिचित है अतः गीत ख़ूब सम्प्रेषित होते हैं। रस सिर्फ़ गीतों में ही शेष रह गया है। गद्य कविता तो स्थितियों को 'समझाना' चाहती है। वह भावनाओं को भी अनुभव के रूप में लेती है, जिसमें ज्ञान की प्रक्रिया सजग रहती है। प्रत्येक स्थिति मे, आंतरिक जागरूकता बनाए रखना और उसे समझने की कोशिश करना कवि को सोचते हुए शख़्स का व्यक्तित्व देता है। वह भावनाओं को, यथार्थ के साथ जोड़कर देखता है। जीवन अपने प्रकृत रूप में व्यक्ति की भावनाओं की परवाह नहीं करता। वह व्यक्ति से स्वतंत्र और समर्थ सत्ता है। जीवन स्वयं व्यक्ति में जिजीविषा भरता है, जो भावनाओं का अक्षय स्रोत है। बौद्धिक कवि भावनाओं के पीछे इस प्राकृतिक-अभिप्राय को जानकर, प्रत्येक संवेग की तह में जाता है और प्रत्येक क्रियाः प्रतिक्रिया के पैंदे टटोलता हुआ 'सोचू' गद्यकवि, अंत में इस रहस्य पर पहुँचता है कि जीवन, भावना नहीं, प्रक्रिया है। इस प्रक्रिया का आदि और अंत दार्शनिकों को चक्कर में डालता है। इस प्रक्रिया को क्षण-अनुक्षणों से लेकर विराट कालप्रवाह के बीच जाना जा सकता है और उसकी अनेक व्याख्याएँ हो सकती हैं।

प्रकृति, पर्यवेक्षण और प्रयोगों से बोध का विषय बनती है और बौद्धिक कवि भी यथार्थ के पर्यवेक्षण का मार्ग अपनाता है। यह पर्यवेक्षण उसकी वैयक्तिक क्रिया या भोग के क्षणों में भी सक्रिय रहता है, गोया यथार्थ इस प्रकार के साहित्य में स्वचेतन हो रहा

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हो। यथार्थ की कतिपय सोचू लोगों के माध्यम से यह स्वचेतना संवेगों-भावनाओं की तरंगों में बहते या श्रोताओं में भावोत्तेजन करने वाले गीतों मे कम मिलती है। भावनाओं के निर्विग्न भोग से, जो रसदशा बनती है, स्वचेतना उसकी शत्रु है। सृजनात्मक स्वचेतनता 'दृष्टि से सृष्टि' करती है। वह उत्तेजनाओं में तर्क खोजती है।

जिस तरह वैज्ञानिक, प्रकृति की जटिलता से चकित हैं, उसी प्रकार आज का सचेत लेखक अनुभवों के क्षेत्र की जटिलताओं को जान कर दंग है। मूल प्रकृति के आस-पास की भावनाएँ (जैसे प्रेम) भी पुराने 'स्थायी भावों' की तरह अजटिल नहीं है। वे जटिल स्थितियों में, व्यक्तित्व के पाताल में पहुँचकर, वहाँ से बुद्धि और संवेदन को संचालित करती हैं। 'गोदो की प्रतीक्षा मे' सैमुअल बैकिट ऊपर से निरर्थकता का नाटक खड़ा करता है। मगर निरर्थकता की पहचान के भीतर चाह यही है, कि जो है, वह सुसंगत और सार्थक हो। कुचली हुई, खोदकर गाढ़ दी गई भावनाओं की प्रक्रियाएं और परिणतियाँ अजीब होती हैं और वे किस तरह सोचूपन को प्रभावित करती हैं, यह सब अंतरावलोकन की प्रक्रिया द्वारा ही जाना जा सकता है। आविष्ट दशा में अपने उबाल को खलास करने की धुन में आवश्यक चौकन्नापन न्यूनतम हो जाता है और आदमी, भावस्मृतियों में डूबता हुआ गाने लगता है। कुछ बौद्धिक केन्द्र, गीत दशा में भी सक्रिय रहते हैं मगर अनेक बुद्धि-केन्द्र भावों में बहने की हालत में स्थगित हो जाते हैं। नवगीतों ने पुराने गीतकारों की तुलना में कुछ अधिक संख्या में बुद्धि-केन्द्रों को चेताया है पर गीत विधा की सीमा यह है, कि वह पूरे मस्तिष्क को चालू किए बिना, इस कम्प्यूटर के कुछ यंत्रों से ही रचना कर लेती है। 'रचना' के लिए मानव मस्तिष्क जैसे जटिल संयंत्र के सम्पूर्ण उपयोग की अनिवार्यता नहीं है। अभियंताओं का मत है कि विशाल संसार एक निर्मिति है, जो इसलिए अटपटी और अनिर्वचनीय है क्योंकि आदि अभियन्ता ने इसे रचते समय अपने दिमाग़ के कम्प्यूटर का पूरा और सही इस्तेमाल नहीं किया ! गद्यकविता सम्पूर्ण मानसिक शक्तियों का कविता में प्रयोग करके देखना चाहती हैं कि इससे क्या बनता है?

बँधी बँधायी कहने की रीतियों में कवि वैज्ञानिक की तरह खुल कर प्रयोग नहीं कर सकता। साहित्य में टूटती, एक दूसरे से टकराती, मिलतीं, मिलतीं और रूपान्तरित होती हुई विधाओं का कारण आज की प्रयोक्ता बुद्धि है, जो नित नई चीज़ें खोजने-गढ़ने में लगी हुई है। भावुक क्षणों में वह गीत की ओर मुड़ती है अथवा बौद्धिक सभ्यता की अंतहीन तलाश और नीरसता से ऊब कर रस-संसार में निमग्न होती है। बौद्धिक-औद्योगिक-तकनीकी जगत् का आधुनिक व्यक्ति भी, जब मन ही मन अपनी बौद्धिक कशमकश और 'गीतदशा' की मधुरता और सरलता की तुलना करता है तो उसे वहाँ मानव सभ्यता का जीवन, और आदिम रूप मिलता है। गीत में वह अपनी जड़ों की ओर लौटता है, जहाँ स्वचेतना रहित, अहंरहित स्वीकृति है, प्यार और ममता है। सुख में उल्लसित होने

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

और दुःख में रो लेने की सहजता लोक साहित्य और गीत काव्य में ही हैं। गीत संसार में इसीलिए एक अपना नैसर्गिक आकर्षण है। वह किसी बच्चे की तरह अपनी तरफ़ खींचता है और थोड़ी देर के लिए हमारे बौद्धिक केन्द्रों को विश्राम देता है। वह हमें सभ्यता के बचपन में ले जाता है, जहाँ तनाव नहीं तन्मयता है, जहाँ अजनबीपन नहीं, एक दूसरे मे घुलाव है, प्रकृति और जीवन के प्रति प्यार है।

व्यवस्था विरोधी या ज्वालामुखी गद्य कविताओं का संसार गीतकारों से काफ़ी भिन्न प्रकार का संसार है। वैयक्तिक जगत् यहाँ सामाजिक चेतना के साथ एकाकार सा लगता है। जो पीड़ा और आक्रोश आम आदमी का है, वही कवि का है। समकालीन विद्रोही गद्य कवियों में व्यक्ति और समष्टि दोनों एक ही 'वेवलैंथ' पर आ गए हैं। निजता और परसंवेदन की समानान्तरता समाप्त हो रही है–

एक भाषा खाइयाँ बदल रही हैं
और शब्दों को गोलियों की जगह भर रही है।[1]

लीलाधर जगूड़ी की अंट शंट सी लगने वाली कविताओं में, स्थायी मनोवृत्ति विद्रोह की है, जो सामाजिक वैषम्य, अभाव और शोषण को व्यंग्यमय टिप्पणियों द्वारा व्यक्त करती है । तारतम्यहीन सी लगने वाली उक्तियों के एक के बाद एक होते आघात, भर्त्सना और गुस्से से, पाठक, रोमांटिक दुनियाँ के बाद जैसे, सत्ता, व्यवस्था और व्यवस्थापकों-शोषकों के मुकाबले में आकर खड़ा हो जाता है और उनके विरुद्ध पंक्तियों के व्यूह जूझने लगते हैं। यदि सन्दर्भ पर निगाह न रहे तो जगूड़ी की कविता समझ में नहीं आ सकती पर आज़ादी के बाद देश की दुर्दशा अथवा सामान्य व्यक्ति की कुगति को ध्यान में रखने पर जगुड़ी की क्रमहीन पंक्तियाँ अपना मर्म खोलतीं चलती हैं–

पहाड़ों के बीच के पाख
कितने दोगले हैं कि पेड़ कहीं गिरता है
और गूँज कहीं उठती हैं।[2]

× × ×

दुकानों पर कुछ नए चाकू बिके हैं
बदनाम मुलाक़ातों के कीड़े नालियों मे हिले हैं
.........कुछ नये अख़बार निकले हैं।[3]

× × ×

1. नाटक जारी है, लीलाधर जगूड़ी, पृष्ठ-52
2. वही, पृष्ठ-12
3. वही, पृष्ठ-15

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

होठों के कितने नज़दीक जल रही है सिगरेट
कितने नज़दीक से सुलग रहा है मेरा दिन ।[1]

× × × ×

औसत आदमी ग़लत उम्मीदवार का सुरक्षित वोट है ।[2]

× × × ×

दुनियाँ मेजभर ऊँची, पेटभर गहरी हो गयी ।[3]

प्रतिपक्षी शोषक वर्गों, और व्यक्तियों से कवि अपने को मुक़ाबले में पाता है और इस द्वन्द्व के कारण उसकी रचना में विदग्धता-वाक्चातुर्य का विकास होता है, जैसे कवि प्रतिपक्षी को छकाना चाहता हो और स्वपक्ष के लोगों को असली सच दिखाकर उसे तमचिया रहा हो ।

रोमानी संस्कारों या अभिजातवर्गीय रुचियों के कवि, करोड़ों लोगों की नारकीय दुर्दशा देखकर भी साहित्य में 'सुरुचि' (धर्मवीर भारती) 'मर्यादा' (अज्ञेय) की बातें करते हैं। इसके विरुद्ध साठोत्तरी विद्रोही कविता भद्रवर्गीय संस्कारों और मान-मर्यादाओं का ध्वंस करती है क्योंकि यह सुरुचि और मर्यादाप्रेम ही मुख्यतः सामाजिक बदलाव में बाधक है। समकालीन कविता में वास्तविक जीवन में दिखाई पड़ने वाली अभद्रता, औद्धत्य और कटखनापन है। यहाँ कवि सम्बन्धों की दृष्टि से वर्जनामुक्त और परिवर्तन की दृष्टि से दुःखी लोगों के शिविर में खड़ा होकर विद्रोह युक्त हो गया है: वह ज़हरीली नज़र से यथास्थिति का विरोध करता है।

"वह लड़की की माता और मादा का अंतर समझाने के लिए उसकी दीवार में छेद बनाता है और अमर्यादित होने को, फिर से सही होने के लिए अनिवार्य मानता है–

पशुओं के साथ जीना निहायत ज़रूरी है
यह ख्याल ही एक बहुत बड़ी यातना है
लेकिन अमर्यादित होना
फिर से सही होने के लिए अनिवार्य प्रार्थना है ।[4]

× × × ×

मैं तुम्हें उससे मिलाना चाहता हूँ
जो दीवार के खिलाफ ईंट पर फ़िदा है ।[5]

× × × ×

1. नाटक जारी है, पृष्ठ-16
2. वही, पृष्ठ-25
3. वही, पृष्ठ-26
4. वही, पृष्ठ-47
5. वही, पृष्ठ-51

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पराजय और विनाश के बीच आदर्श एक चालाकी है।[1]

× × × ×

भूख के अस्पताल में मैं नचिकेता नहीं
मुझे ज्ञान ने नहीं, निर्वाचन ने मारा है।[2]

× × × ×

इस शरीर की पवित्रता की चिंता तक
स्थानीय आकाश बहुत छोटा पड़ गया
जहाँ हम और बम
एक ही जगह रख दिए गए हैं फटने से पहले।[3]

× × × ×

पता नहीं मनुष्य में है या मशीन में सुख
फिर भी धीरे चीरो, हममें पीड़ा शेष है।[4]

लीलाधर जगूड़ी में विरोध और विद्रोह आंतरिकीकृत हो गया है अतः कवि की समूची संवेदना और संस्कार परिवर्तन की व्याकुलता से 'कंडीशंड' हो गए हैं। जहाँ आंतरिकीकरण पूरा नहीं हो पाता, वहाँ विद्रोही कविता में ऊपरी बड़बोलापन या पतले अर्थ वाली सपाट बयानी या प्रचारात्मकता उभर आती है।

लीलाधर जगूड़ी की 'नाटक जारी है', 'इस व्यवस्था में' और 'टेलीफोन पर' जैसी कविताएँ समकालीन विरोध-कविता का एक ऊँचा मयार क़ायम करती हैं। उसमें जनाक्रोश और करुणा की तहें पर तहें खुली हैं और कविता ''नयी कविता'' वाली व्यक्ति-केन्द्रित बीमारियों से मुक्त हो जाती है। जो कविता वांछनीय कर्म को उत्तेजित नहीं करती, वह अप्रासांगिक है–

तुम अगर हटते चलने को कहते हो
तो केंचवे की बंदूक मेरे शव पर रख देना
ताकि लोग समझें, मुझे शांति नहीं थी
और मैं शहर के स्पर्श से बचना चाहता था।[5]

व्यंग्य और वाग्वैदग्ध्य का इस्तेमाल, जगूड़ी जैसे कवियों की रचनाओं में, आक्रोश को यथावत् घोषित होने से बचाता है। व्यंग्य की मुद्रा में शत्रु से टकराहट कविता को ऐसी मशीनगन बनाती है, जिससे पंक्ति गन्नाती हुई गोली की तरह निकलती है। इस तरह

1. नाटक जारी है, पृष्ठ-57
2. वही, पृष्ठ-58
3. वही, पृष्ठ-66
4. वही, पृष्ठ-101
5. वही, पृष्ठ-89

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

की कोशिशों में लीलाधर को 'टेलीफोन पर' शीर्षक कविता में सर्वाधिक सफलता मिली है। यहाँ संकेत से देश क़ी वर्तमान स्थिति का खुलासा किया गया है और काव्य पंक्तियों के ये संकेत बहुत दूरगामी हैं।

राजकमल चौधरी के 'मुक्ति प्रसंग' और लीलाधर जगूड़ी के 'टेलीफोन पर' में व्यंग्य की विधि है अतः वह राजकमल के व्यर्थ विस्तारवाद, नामपरिगणन की काव्य शैली के दोषों से मुक्त है। जगूड़ी का यह टेलीफोन नया प्रयोग है क्योंकि उसमें दूरभाष संवाद की कला को उत्कृष्टता दी गई है–

हलो/हलो मिस्टर आरिगपूड़ी। हलो
यह मैं बोल रहा हूँ। हाँ, हाँ, लीलाधर जगूड़ी
दुनिया की क्या खबर है?
अरे यहाँतो हर घर में साँप का डर है
न कोई इधर है, न उधर है.........
......हलो, अगर बहुत कुछ गड़बड़ हो गया है
और कुछ पता नहीं चल रहा है
तो वहाँ एक शब्द रख दो.........देश।
.........तुम्हारे पास बन्दूक नहीं है?
तो एक शब्द है समन्वय.........उसे दाग़ो।
तुमने मेरी चिट्ठी का जवाब क्यों नहीं दिया?
पहाड़ टूट रहे हैं
बाकी हाल। फिलहाल मेरे खिलाफ दुविधा है।
......एक सत्य सारे देश को धो रहा है
......घंटाघर सारे शहर पर, समय थूक रहा है।[1]

लीलाधर जगूड़ी ने मर्मी कवियों से बात को सूक्तियों में बांधना सीखा है और इनकी वह झड़ी पर झड़ी लगाते चलते हैं। वाक्य विन्यास की नवीनता उन्हें दिलचस्प बनाए रखती है और तुकों के अभिनव प्रयोगों से पाठक चमत्कृत होता है। कवि, भावुकता और भाषण के परम्परागत तरीक़े न अपनाकर पाठक से संवाद की स्थिति क़ायम करता है और कथोपकथनों के सारे जादू अपना कर वह पाठक को टिप्पणियों की मार धाड़ द्वारा अपने दृष्टिकोण और संवेदना के पास खींच लाता है। यहाँ ऊपर से चुनाव, पूंजीवादी शोषण, जनतांत्रिक संस्थाओं का पतन या संसद-विधान सभाओं की व्यर्थता और नेताओं के प्रपंचों पर टिप्पणी सी लगती है पर 'धीरे चीरो, हममें पीड़ा शेष है' जैसी पंक्तियों से व्यंग्य और विद्रूप गहरी करुण भावना से सम्बन्धित हो जाता है। यही कारण है कि

1. नाटक जारी है, पृष्ठ-99

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जगूड़ी का आक्रोश प्रचारात्मकता से मुक्त है। टिप्पणी विधि के साथ यदि कवि क्रमहीनता के चक्कर से बच सके तो जगूड़ी की कविता का जादू और भी अधिक बढ़ सकता है।

पूंजीवादी जीवन पद्धति और उत्पादन-वितरण-प्रणाली के विरोधी और समग्रतः साम्यवादी विश्वदर्शन और साम्यपरक मूल्यों को मानने वाले कवियों को प्रतिश्रुत या प्रतिबद्ध कहा जाता है। इन कवियों के काव्य संसार में एक ओर तो प्रचलित व्यवस्था की असंगतियों का अनावरण है और दूसरी ओर समाजवादी-साम्यवादी सामाजिक क्रांति की ओर संकेत है। इन कवियों में व्यवस्था विरोध की भावना समूचे व्यक्तित्व को घेरती है और कवि संवेदना प्रत्येक मनोगति में विरोध को सुलगाए रखती है। प्रकृति दर्शन अथवा अन्य प्रिय अनुभवों में भी बदलाव की चाह इन कवियों की आत्मा में लोहे की कील की तरह गड़ी रहती है और इसलिए कवि का परिदृश्यीकृत संसार, उसके धारणागत संसार से दो तरंगों की तरह मिल जाता है–

रात, पेट पर रख हाथ
गिर न रहा तारे, यह यशस्वी देश
सम्मुख खड़ी दर्पण के
व्यवस्था बेशरम सुलझा रही है केश।[1]

प्रबुद्ध प्रतिबद्ध कवि में ऐतिहासिक चेतना होती है। वह वर्ग चेतना के आधार पर, मानव समाज के विकास-क्रम को आँकता है और अपनी लड़ाई को मानवता के लम्बे इतिहास की एक कड़ी के रूप में आकलित करता है। यह इतिहास दृष्टि, अकवियों के अराजक विद्रोह में नहीं मिलती, न यह मर्यादा प्रिय और व्यक्ति केन्द्रित नए कवियों में दिखाई पड़ती है। श्रीकान्त वर्मा जैसे, कलानुभव को व्यक्तिगत मानने वाले लेखकों में भी यह चेतना अनुपस्थित है–

'पिता ने पहाड़ों को काटा
जंगल साफ़ किये
खेत जोते, मिलों का धुआँ पिया और मर गए.....
तिलमिलाया मैं, उतर आया खून, उठायी कलम
लिखे कुछ गीत, कुछ कविताएँ
सीना फुला, कहता है बेटा मेरा
'बाबू जी सीखी है मैंने बंदूक
आप भी सीखेंगे ?'[2]

1. प्रतिश्रुत पीढ़ी-मृत्युंजय उपाध्याय, पृष्ठ-3
2. मृत्युंजय उपाध्याय, पृष्ठ-5

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मृत्युंजय उपाध्याय के कहने का तरीक़ा एकदम सहज और आत्मीय है। वह कहीं घोषक स्वर नहीं अपनाते न झगड़ालूपन अपने कथनों में लाते हैं, मगर वह वस्तुस्थिति अथवा मानव दशा पर ध्यान केन्द्रित करते हैं और स्थिति को स्थिति के रूप में ही पेश कर, सारी ख़राबियों और उनके कारणों की तरफ़ पाठकों को ले जाकर छोड़ देते है–

बादलों पर आँखें टिकाए
उदास बैठी......मेरी पडौसिन है
दिन भर पापड़ बेलती है
कोख को कोसती है
बहू को गालियाँ देती है
सपने देखती है, आधी रात गए
आस्मान साफ है, सूरज चमक रहा है
पापड़ सूख रहे हैं।[1]

यह खेद का विषय है कि बात कहने का यह स्वाभाविक अंदाज़, उतना नहीं सराहा गया, जितना यह सराहनीय था। स्वतंत्रता के लिए संघर्ष के दिनों से सचेत लोग भाषणपरक और वक्तव्य परक अधिक होते गए हैं। समकालीन कविता ने इन 'जनजोड़' कथनविधियों का प्रयोग किया है पर उसका समग्रतः स्वर, उत्तान स्वर है, जिसमें चुनौती और चोट है पर भीतरी चोट के लिए उक्त मृत्युंजय-कथन-विधि कहीं अधिक काम की है। ऊपरी सपाट बयानी के उथलेपन के विरुद्ध मृत्युंजय-रीति अधिक गहराई की ओर ले जाती है।

जो लोग प्रगतिवादीनुमा कवियों को कवि नहीं मानते, उन्हे मृत्युंजय-कला पर ग़ौर करना चाहिए–

पसीना, प्यास, छाले
पकड़े रह हाथ, अरी ओ ज़िन्दगी
तेरे जूड़े में गुलाब टाँकूँगा।

× × ×

छू गयी बाँह, घूर कर मत देखो
अंधा नहीं हूँ
दरअसल अकेले चलना नहीं आता।

× × ×

किसी अवधारणा को किस तरह कला में बदला जा सकता है, किस तरह विचार, कला–संवेदन पाता है, यह मृत्युंजय की कविता से सीखा जा सकता है।

निरंजन महावर का स्वर, उत्तान स्वर है पर वह वस्तुस्थिति का वर्णन करते हुए बीच-

2. प्रतिश्रुत पीढ़ी–पृष्ठ-3-17

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

बीच बिम्बयौजता करते हैं, जो कहीं-कहीं अपने निरालेपन से मन मोहती है–

अपनी-अपनी जगह पर सब जम गए हैं
पहाड़ नदियाँ गाँव, ग्लेशियर......
.........सब थम गए हैं
आँखें में थमे हुए दृश्यों में
वह मैं हूँ जो टूटकर सितारे सा सरकता हूँ।

'केंचुली में', "मेरे और अन्य लोगों के बीच" जैसी कविताओं में बीच-बीच घिसी हुई पंक्तियों के पैबन्दों से निरंजन की रचनां, वक्तव्य और कविता के बीच झूलती हुई जान पड़ती है, इसलिए वह हमें उबाती है–

'......ज़माने का सम्पूर्ण दुःख
मुझ पर ओस बनकर बिछ जाए
ताकि भविष्य के चरणों को
शीतल और सुखद जमीन मिले'[1]

यहाँ विचारधारा है, पर यह कविता नहीं है। इसी प्रचारात्मकता और घिसी हुई बातों को न छोड़ पाने की लाचारी के कारण, प्रगतिवाद बदनाम हो गया कि उसमें साहित्य नहीं, सिर्फ़ विचारधारा है।

श्यामसुन्दर घोष मूलतः गीति–प्रतिभा के व्यक्ति हैं, इसलिए भावानुभूति को रूप देने में सजगता का प्रदर्शन करते हैं मगर वक्तव्यों को कविता बना पाने में वह चूक जाते हैं। घिसी हुई पंक्तियों के पैबन्द श्यामसुन्दर घोष में कम नहीं है पर कहीं-कहीं घोष करामात कर ही जाते हैं–

एक क्विंटल धूप
यह महाजन सुबह का ऋण दे गया
और बदले में सभी कुछ ले गया
इस तरह आकंठ ऋण में डुबाकर कोई
अगर कर दे अकिंचन, धन्य मानूँगा।[2]

कुमारेन्द्र पारसनाथ सिंह तर्क को कविता में बुनते हैं। इसे 'विचार कविता' कह सकते हैं। यह तर्कविधि, सत्य को संवेदित-सम्प्रेषित करने में बड़े काम की है। बौद्धिक वर्ग को इस तरह की रचनाओं से आवश्वस्त किया जा सकता है। यहाँ स्थितिबोध, तर्क की बारीकी, बारीकबीन निगाह और प्रखरता का एक साथ अहसास होता है, गोया कवि हमें सोचने के लिए प्रेरित कर रहा हो और वह भी इस तरह कि पाठक कवि के करामाती गद्य पंक्तियों

1. प्रतिश्रुत पीढ़ी-निरंजन महादर, पृष्ठ-21-55
2. वही-श्याम सुन्दर घोष, पृष्ठ-59

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

की निराली बुनावट को देखकर उसमें उलझ जाए–

'......सच यह बिल्कुल अकस्मात नहीं
कि संगमर्मर और हीरे जवाहरात से भूखी हड्डियों में
चमक ज्यादा होती है और लोग जिसे प्रेम और न
जाने क्या-क्या कहते हैं, मैं उसे चुपके से शहादत कहता हूँ'[1]
× × × ×
यह सहने की बात कोई अर्थ नहीं रखती
रस्सी सिर्फ़ राख हो जाती है
कि समुन्दर के पेट में आग लग जाती है
धरती भीतर से कोयले और राख और
पानी है........कौन देखता है ?'[2]

पारसनाथ सिंह पारम्परिक ढंग से भी लिख लेते हैं। 'नयी कविता' के दशक में, सूरदास की तरह कवियों ने बिम्बों की झड़ी पर झड़ी लगायी थी, वह क्रम अभी जारी है पर पारसनाथ के बिम्ब वर्गचेतन बिम्ब हैं। वर्गचेतन-बिम्बविधान, वर्गसमाज के हुलिए को बताने वाले बिम्बों से होता है। यह छायावाद और नयी कविता के आगे की कला है। इसमें सौन्दर्यचयन या कल्पना द्वारा सौन्दर्य सृष्टि नहीं होती, जो पीड़ित दृश्य है, उन्हें कवि सामने लाता है जो प्रकृति के दृश्यों के साथ, हमारे अवधान में चमक उठते हैं–

'आज दिन
किसी बदनसीब बाप के हृदय सा टूटा हुआ
बिल्कुल चुप है
सूरज किसी शरीफ मुजरिम सा
......रात में अचानक फेकर उठी सियारिन सी
काम-काज की आवाज़ें
एक आतंक खड़ा कर रही हैं
......मेरे अस्तित्व का प्रश्न पहरुए के ठनकने सा
सहसा टकरा गया है और मेरा 'मैं' जिबह
हुए बकरे सा तड़प रहा है, क्या करूँ ?'[3]

ज्वालामुखी से लावा फूटने का कोई एक ढ़ंग नहीं होता। भीतर के ज़ोर से लावा का विस्फोट धक्के की मात्रा के अनुरूप होता है अतः इस तरह की कविताओं में लावा

1. प्रतिश्रुत पीढ़ी–पारसनाथ सिंह, पृष्ठ-88
2. वही, पृष्ठ-84
3. वही, पृष्ठ-95

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भीतर ही गुड़गुड़ाता है। धुंधुआने की यह घुटन और आक्रोशभरी ये मनःस्थितियाँ समकालीन कविता को, 'नयी कविता' से अलग करती हैं क्योंकि 'नयी कविता' में वस्तुस्थिति का सीधा प्रतिफलन नहीं था। छटे दशक के 'नये कवि' मुक्तिबोधों को छोड़कर समग्रतः अपनी घुटन और संदेहों से ग्रस्त थे। उनके डर बनावटी और दूर-दूर के अमूर्त सन्दर्भों और परिस्थितियों की कल्पनाओं से उपजे थे। उनमें मनुष्यों की भयंकर जीवनदशा की जो अभिज्ञता थी, वह बहुत मरियल और अस्पष्ट थी। उसमें संभावनाओं की अस्वीकृति थी। आदमी के अन्दर जो, लम्बे संघर्षशील विकास के इतिहास ने तेज भर दिया है, जिस सामाजिक चेतना को हमारे व्यक्तित्व का अंग बना दिया है, मानवीय संवेदना में बदल दिया है, उस मानवीय अंतःकरण या लोकमन की मज़बूत ताकत को, उस सदैव जाग्रत मानव विवेक को 'नयी कविता' मे अविश्वास का पात्र बनना पड़ा। एक सार्वभौमिक सी निराशा, अनास्था, भय और संदेह ने नए कवियों को अति यथार्थदर्शी बना दिया। उन्होंने अपने भीतर 'लघु मानव' की खोज की और वही अवचेतन में विराजमान मस्तिष्क के प्रकोष्ठों में आदिकाल से आसीन उन अग्निकेन्द्रों को नहीं देखा जो विकट से विकट परिस्थिति में रास्ता खोज निकालते हैं और नए विकल्पों को प्रगतिशील संस्थानों और संगठनों में आज़माते हैं, ज़माने को बदल देते हैं।

प्रतिबद्ध या प्रगतिवादी कवियों के इस नए समकालीन दौर में नयी कविता वाले नकारा नज़रिए से छुटकारा पा लिया गया और कविता फिर एक बार अति यथार्थ या वैयक्तिक जगत् को छोड़कर मूर्त्ततकलीफों की दुनियॉ से सम्बद्ध हो गई। यहाँ, सामाजिक चेतना, दृश्य चित्रण के समय भी, दृष्टि संचालन करती है–

तट पर सन्नाटा, हाथ में खाली वंशी
डूबते सूर्य की रोशनी गटक कर मछलियाँ
समा गईं धार में
अजीब हैं आँखें, सामने सब घटने दिया।[1]

× × × ×

कितना घृणित है, किसी को सूर्य कहना
और फिर उसी की आँच में दहना।[2]

अजित पुष्कल में कविता कम है पर वह जहाँ है, वहाँ मन देर तक उलझा रहता है।

राजीव सक्सेना कविता में विचार के कवि नहीं विचारधारा के कवि हैं। 'अस्तित्त्व' में वह समझाने की मुद्रा में हैं और काफी उबाते हैं। उनके बिम्ब और बातें सभी जानी

1. प्रतिश्रुत पीढी–अजित पुष्कल, पृष्ठ--138
2. वही, पृष्ठ-147

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हुई सी हैं पर उनका ज्ञान हमारे काम का है। 'एक पुराने महल में' जैसी कविताओं में राजीव सक्सेना में कविता आत्मचेतस् होती हैं–

मैं बैठा हूँ, इस पुराने महल में
जिसमें से हर दिन एक ईंट सा गलकर
खिसक जाता है सिसकता
× × × ×
एक और गीयर बदल जाता है मेरे अन्दर
× × × ×
बाहर लोग चल रहे हैं खामोश
उस वायरस से भयभीत
जो अखबार की खबर की तरह
फैल जाता है, अनायास शहर में
लोग भीड़ क्यों हैं, जुलूस क्यों नहीं बन जाते?[1]

वर्गचेतन संवेदना और बोध के कवि राजीव सक्सेना में वाक्य विन्यास बोझिल और बोरक हो उठता है। उनकी कविताओं में भारावनत बोध एक 'डलनैस' पैदा करता है। राजीव बात में अनोखापन पैदा नहीं कर पाते अतः 'आत्मनिर्वासन तथा अन्य कविताओं' में कविता 'आत्म' में रहने पर भी प्रायः निर्वासित हो जाती है।

डा० रणजीत में उनका प्रकृत कवि, प्रगतिशील कवि से टकराता रहता है। अतः उनकी कविता' में सामूहिक उत्तेजन अधिक है, सूक्ष्म दर्शिता कम है लेकिन जहाँ रणजीत अपने कम्युनिस्ट और बाद में एंटीकम्यूनिस्ट वक्तव्यों के साथ कोई प्रसंग जोड़ देते हैं वहाँ कविता दो आयामों पर एक साथ काम करने लगती है। 'फाउस्ट के कन्फेशन' में वक्तव्य की सपाटता दब गई है और उसमें वस्तुस्थिति, फाउस्ट जैसे मिथक से आलोकित हो उठती है–

'मैंने अपनी आत्मा को रेहन रखा था
सोचा था, जब मैं फिर लड़ने लायक
हो जाऊँगा, उसे जगा लूँगा
लेकिन मुझे क्या मालूम था, वह अफीम जो मैंने उसे
सुलाने के लिए दी थी, उसके लिए ज़हर साबित होगी।
जिसे आपद् धर्म के लिए स्वीकार किया था
उसे जीवन दर्शन बनाने के लिए मज़बूर हुआ।

'मॅरेलिन मनरो का अंतिम पत्र' में भी यही विधि प्रयुक्त हुई है, और यहाँ भी परिणाम अच्छा ही निकला है। कष्ट यह है कि इतने बढ़िया प्रसंग का इस्तेमाल करते समय रणजीत,

1. प्रतिश्रुत पीढ़ी–राजीव सक्सेना,

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

व्यक्तित्व-विश्लेषण की गहराइयों में नहीं जाते। कविता द्वारा, कम्यूनिज्म की पूंजीवाद से भिड़न्त यानी वहिर्द्वन्द्व को, डॉ. रणजीत कस कर पकड़ लेते हैं मगर अंतरावलोकन की प्रक्रिया में उतर कर, मानव चेतना की द्वन्द्वात्मकताओं की पहचान रणजीत में कम है। अपनी सपाट बयानियों से भीड़ को सही राजनीति की ओर मोड़ने वाली वक्तव्य-कविताओं के मध्य रणजीत जहाँ कहीं भाषणपरक या परिचित पदावली से मुक्त होते हैं और कविता में विलक्षणता लाने की कोशिश करते हैं, वहाँ कविता का पाठक कुछ चैन पाता है :

इंसान नहीं, संख्याएँ लड़ रही हैं
संख्याओं से संख्याएं भिड़ी हुई हैं
खून से खून नहीं
सपनों से सपने नहीं
चाहों से चाहें नहीं
तनख़्वाहों से तनख्वाहें भिड़ी हुई हैं।[1]

बयाने रणजीत को पढ़ते गुनते वक़्त ऐसे ही चमकीले ख़्याल, जी को तसल्ली दिए रहते हैं। निजी अनुभूतियों और आत्मीय प्रतिक्रियाओं में अक्सर कविता अपनी शक्ति दिखाने लगती है। रणजीत समूह और प्रबुद्ध कविता–पाठक को अलग-अलग संतुष्ट करते हैं ये दोनों भिन्न धरातल जहाँ मिल जाते हैं, वहाँ रणजीत की फतेह हो जाती है। 'पृथिवी के लिए' नव्रीनतम संग्रह में रणजीत वक्तव्य से कविता की ओर बढ़े हैं।

डॉ० रणजीत की कविताओं में कविता कला से अधिक कवि की ईमानदारी प्रभावित करती है। रणजीत सच्ची भावनाओं के कवि हैं और 'कामरेडीकवियों' में उनका स्थान महत्त्वपूर्ण है और कामरेडविरोधी कवियों नें भी। उन्होंने बड़ी मेहनत से 'नयीकविता' के व्यक्तिवादी रुख़ों, का विरोध किया है और नवप्रगतिशील कवित[2] को साहित्य में स्थापित करने के लिए, प्रगतिवादी लेखक आन्दोलन का संचालन किया है।

कामरेडकविता अमूर्त-चित्रण से नफ़रत करती है। अमूर्तविधि का कम्यूनिस्टदेशों में तिरस्कार हुआ है क्योंकि वह सूक्ष्मता के लिए, स्पष्टता का बलिदान कर देती है। वह अमूर्त्त और अनाम कष्टों की कल्पनाओं में पड़ जाती है, और कल्पना के बारीक खेल में, यथार्थ के साक्षात्कार को पूर्णतः धता बता देती है। पिकासों में अमूर्त्तविधि और यथार्थ का कई चित्रों में सामंजस्य मिलता है। पिकासो ने तानाशाही और युद्ध की बर्बरता के विरुद्ध अमूर्त कलाविधि का सफल प्रयोग किया था पर इस अमूर्त्तकालाविधि के क्षेत्र में, अनुकरणकर्त्ताओं ने जो चित्र बनाए हैं, उनमें वास्तविक आकारों और दृश्यों के स्थान

1. इतिहास का दर्द। पृष्ठ-136
2. हिन्दी के प्रगतिशील कवि-डा. रणजीत, पी.पी.एच., नई दिल्ली, 1973 ई.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पर, अनिवर्चनीय प्रारूपों की सृष्टि अधिक हुई है। अमूर्त्तकलाविधि के अलावा, सर्वकालीन समस्याओं और शाश्वत स्तरों की टोह में रहने से अज्ञेय-अनुभवों, ख़ामोश अंतःसाक्षात्कारों और रहस्यमय, कल्पनाजन्य परालौकिक परिदृश्यों की रचना मे निमग्न कवि और कलाकार भी, साहित्य में समकालीनता का विरोध करते हैं। वे इसके लिए समकालीन को तात्कालिक सिद्ध पर पाठकों को भ्रम में डालते हैं। समकालीन ही, कला द्वारा सिद्ध होकर 'शाश्वत' महत्त्व प्राप्त करता है। वाल्मीकि, कालिदास, तुलसी, शेक्सपियर, सूर और कबीर, अपने समय का निकटतम साक्षात्कार करते हैं, अपने युग की पीड़ाओं और प्रश्नों का सामना करते हैं और समाधान खोजते हैं। समकालीनता के प्रति गहरी निमग्नता के कारण ही होमर, व्यास जैसे महाकवि अपने काव्यों में अमर आकर्षण उत्पन्न कर सके हैं। उन्होंने अमूर्त्त देवताओं या कल्पित शक्तियों को, मनुष्य का व्यक्तित्व देकर उन्हें मूर्त्तित कर दिया है और आज तक व्यास और वाल्मीकि के पात्र, हमारे लोकमानस तथा विशिष्टजनमानस में प्रतिष्ठित हैं। मसलन् राम, कृष्ण, अर्जुन, भीम, हनुमान, परशुराम, सीता, सावित्री, द्रोपदी, दुर्योधन, रावण, द्रौणाचार्य जैसे पात्रों को, भारतीय लोकमानस कल्पित नहीं, वास्तविक मानता है और विशिष्ट व्यक्तियों के उपचेतन में भी राम और कृष्ण आदि 'जातिसंस्कार' के रूप में जमे हुए हैं।

जो साहित्य का समाज पर असर नहीं मानते, उन्हें समाज पर महाकाव्यों के स्थायी प्रभाव का अध्ययन करना चाहिए और अपने भीतर बैठे उन पात्रों का निरीक्षण करना चाहिए, जिन्हें पुराकाल के कवियों ने अपने समय के अनुरूप रचा और संवारा, मिथक का मर्म और महात्म्य दिया।

समकलीन साहित्य में परालौकिक, अमूर्त्तछायाजगत् और अज्ञेय अनुभूतियों को एक तरफ हटाकर वास्तविक जीवन के द्वन्द्वों का साक्षात्कार किया गया है। इस कोशिश में अनेक स्थानों पर कवि समकालीन अनुभूतियों और प्रतिक्रियाओं को, यथावत् व्यक्त कर देता है और कल्पना या कला की उपेक्षा करता है। ऊपरी सपाट बयानी के कारण समकालीन कविता में अनेक स्थल, तत्कालिक हलचलों और हरारतों का सरल चित्रण करते हैं। उनमें स्थायित्व नहीं आ पाता। भावानुभूति की ईमानदारी के बावजूद, कौशल के अभाव में, कविता प्रचारात्मकता की शिकार हो जाती है। आलोचक का काम तात्कालिक या प्रचारात्मक रचनाओं से, स्थायी महत्त्व की समकालीन रचनाओं को फटक कर अलग करना है।

केवल गोस्वामी के काव्यसंग्रह 'बन्द कमरों की संस्कृति' में तात्कालिक और समकालीन, दोनों तत्व मिले हुए लगते हैं। कवि वास्तविकता को जानता है, महसूस भी करता है पर केवल गोस्वामी, डा. रणजीत की तरह यत्र तत्र ही बासीवाक्य विन्यासों से भिन्न हो पाते हैं। केवल गोस्वामी भी तर्कविधि से काम लेते हैं, पर वक्रता के अभाव

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

के कारण काव्यात्मकतर्क साधारण से लगते हैं, उनमें चुम्बकत्व की कमी है :

'इस धोखे की टट्टी को कौन भेदे और कहे
कि भगवान नाम की सृष्टि, डाकुओं के चेहरे पर
भलमनसाहत का आवरण डालने के लिए हुई थी'।[1]

केवल गोस्वामी के 'युद्ध जारी है' में तात्कालिकता अधिक है पर प्रारम्भ में कविता का आभास अवश्य मिलता है :

'सूनी निगाहों से तक रहा हूँ
एक अर्से से दरवाज़े की ओर
जहाँ से निकला था मैं
सुनहरी मृग की तलाश में'[2]

'बैल' में केवल गोस्लमी, सर्वहारा श्रमिक को, पशु के रूप में देखते हैं। कथ्य और रूप की यहाँ एक सीमा तक एकता आ जाती है अतः 'बैल' में अधिक कलात्मक सफलता मिली :

'कंधों पर भारी जुआ रखकर
वह बेतहाशा भागता रहा
......गोल खम्भों वाली इमारत पर, लाठी के सहारे झूलते
तीन रंगों वाले टुकड़े को देख वह मुस्कराया
घुटनों तक कीचड़ सने अंधेरे को पार कर
उसने एक झौंपड़ी के पीछे
ढेर सा खून थूककर मुँह में शराब भरी
और रामायण पढ़ती बुढ़िया पर थूक दिया।'[3]

स्थिति की विपरीतता को केवल गोस्वामी गहराई से महसूस करते हैं, उनमें तीव्र प्रतिक्रिया उत्पन्न होती है पर वह वस्तुस्थितियों का नामोल्लेख करते चलते हैं। बीच-बीच में जहाँ कवि कविता के प्रति जागरूक होता है, वहाँ कुशल वाक्य-विन्यास मिल जाते हैं :

'जहाँ शब्द बन जाएं चीख
और कविता इश्तहार
या मुर्दों के टीले पर रहने लगा मसीहा
कनाट प्लेस में आकर करने लगे प्यार
कई बार सोचता हूँ कि पेपरवेट की जगह

1. बन्द कमरों की संस्कृति, पुष्ट-11
2. बन्द कमरों की संस्कृति, पृष्ठ-9
3. बन्द कमरों की संस्कृति-पृष्ठ-16

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इस्तेमाल हो रहे अपने सिर को बाँस के मेज़
से उठकर पुनः अपने कंधों पर महसूस करूँ
कि डैने फैलाए पंखे के नीचे
फड़फड़ाने लगते हैं, वेतनपत्र।[1]

'ढॉणी का आदमी' में डॉ. नीरज को कविता की दृष्टि से अधिक सफलता मिली है क्योंकि वहाँ वह वर्ण्मविषय निश्चित होने से व्यर्थ के फैलाव से बच सके और धूमिल के 'मोचीराम' की तरह कविता सम्पुटित शक्ल पा गई है। हालात के लम्बे रेखाचित्र (दुःखान्त समारोह) तभी सफल हो सकते हैं, जब प्रत्येक पंक्ति और शब्द अभूतपूर्व हो परिचित की पुनरावृत्तियों से पाठक का मन ऊब उठता है अतः ऐसी कविताएं अपनी समग्रता में नहीं, अपने कुछ दिलचस्प टुकड़ों में प्रभावित करती हैं।

मणि मधुकर के 'खण्ड-खण्ड पाखंड पर्व' में रचाव की विलक्षणता अधिक है। यहाँ भी सर्वव्यापी कविकोप है जो भीतर से एक पर एक विलक्षण वाक्यों और बिम्बों को उछालता चला जाता है। यह मार इतनी अधिक है कि......कविता शब्दों का दिलचस्प दंगल बन जाती है। प्रारम्भ से अन्त तक जो दीर्घकविता में एक कसाव और संतुलन होना चाहिए, वह मधुकर के लेखन में कहीं नहीं है। वास्तविकता के प्रति सार्वभौमिक नकारात्मकता या निषेध के कारण और रचाव की झौंक में 'दे दनादन' की प्रवृत्ति से पाठक आश्वस्त कम, आतंकित अधिक होता है। फिर भी मणि मधुकर में अनापशनाप आक्रोश और घृणा है, और उसी के बल पर वह जिस नरक का साक्षात्कार कराते हैं, वह आज की वस्तुस्थिति की ओर इशारा करता है। मणिमधुकर की 'बयानबाज़ी' में 'डलनैस' या कलात्मक-मंदता नहीं है, उसमें मुहावरे की तड़ाकभड़क है और अप्रत्याशित वाक्यविन्यासों की एक पर एक लहरों से शुरू में सुखद आघात पाता हुआ पाठक अन्त में थककर उस वीचिव्याधि में डूबने लगता है। मणिमधुकर का स्थितिबोध अस्पष्ट और उलझा हुआ है, अतः वह बोध की अस्पष्टता कविता में भी, 'कहीं न पहुँचाने' की दशा पैदा करती है।

पूंजीवादी देशों के कलाकार भी प्रायः सार्वभौमिक घृणा और निराशा के ताने बाने से रचनाओं को बुनते हैं । वे प्रचलित व्यवस्था और उसके मूल्यों से असंतुष्ट हैं अतः वे व्यवस्था को एक्सपोज़ करते हैं। इसे 'आलोचनात्मक यथार्थवाद' (क्रिटीकल रियलिज़्म) कह सकते हैं। मणिमधुर इसी परम्परा के लेखक जान पड़ते हैं क्योंकि उनके काव्य और कथासाहित्य में मात्र स्थिति की तीखी अस्वीकृति है। उसमें पाठक कोई विकल्प, कोई आशा, कोई विश्वास नहीं पाता। मूल्यों की संरचना का कोई प्रयत्न आलोचनात्मक यथार्थवादी और प्रकृतवादी लेखक नहीं करते, न वे धनात्मकपक्षों का ही आकलन करते

1. वही–पृष्ठ-25

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हैं। उन्हें सारा जीवन्तसंसार, एक ऐसे नरक के रूप में भासित होता है, जिसका आदि और अन्त नहीं है अतः वह रचनाओ में प्रतीक, फंतासी, बिम्ब और मिथकों के अजीब मिश्रणों से, अजीब दुनिया रचते हैं......और रचते चले जाते हैं।

हर चीज़ और हर एक व्यक्ति को रद्द करने की चित्तवृत्ति, अन्त में, वास्तविता के नाम पर अवास्तविकता का अवतरण करती है। विलक्षण कला की शक्ति के बावजूद, बोध की मात्र निन्दात्मकता से कविता अपने अजीबपन में खो जाती है। धूमिल और मणिमधुकर, दोनों में उक्तियों के रचाव की प्रवृत्ति है। धूमिल में सामाजिकविकल्प का स्पष्ट बोध है और जिन्दगी के आलोक और छाया, दोनों पक्षों का अपनाव है। धूमिल में हर बात को रद्दीकरण की मनोदशा में कविता का विषय नहीं बनाया गया है। इसीलिए धूमिल समकालीन कविता का प्रतिनिधि कवि बन सका था। कोई कवि अर्धसत्यों या अस्पष्ट सत्यों से, सामाजिक युद्ध में विजयी नहीं हो सकता। यह भटक जाता है और अपनी 'मणि' सुरक्षित रखने के लिए स्थितियों का आकार और प्रकार विकृत कर डालता है। कुमार विकल ने इस सच्चाई को पहचाना है:

अर्ध सत्य से जीती हुई लड़ाई का तकाज़ा है कि अपनी मणि को सुरक्षित रखने के लिए आदमी लोगों और चीज़ों के नाम बदल डालें।[1]

कुमार विकल, एक लड़ाई समानान्तर में, पूर्ण सत्य के आधार पर लड़ी जंग को ही महत्त्व देते हैं। वह अंधराष्ट्रवाद के उन्माद में किए गए देशों के संग्रामों को सही युद्ध नहीं मानते। इन युद्धों से जनता को अपनी लड़ाई का भ्रम होता है और उस पर लक्ष्य हीन क्रूरता का पागलपन छा जाता है। लेकिन इस भयानक अंधकार में भी कवि रोशनी का एक घेरा महसूस करता है:

मेरे लिए अब पीछे लौटना
या आगे बढ़ना दोनों निरर्थक हैं
मेरे पीछे भी अंधेरा है
आगे भी अंधेरा है
फिर भी इन सीढ़ियों पर मेरे चारों तरफ रोशनी का
एक छोटा सा घेरा है।
मैं इस रोशनी में और गहरा उतरूंगा
और इस पशुलोक के अंधेरे से छूट जाऊँगा।[2]

चन्द्रकान्त देवताले पूर्णसत्य की तलाश में कविता और कर्म की एकता पर बल देते हैं। कविता यहां कार्यक्रम से जुड़ती है:

---

1. अथवा–सम्पादक, सौमित्र मोहन, पृष्ठ 10 पर कुमार विकल की कविता का अंश (अंक 3)
2. वही, पृष्ठ-8

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अगर हाथ पेंट की जेब में है
और आँखें कविता के इतिहास पर
तो मुंह से निकलने वाली कविता
अगर चकमक का काम करती भी है
तो उससे केवल क्रान्ति-ब्रांड सिगरेट सुलगाई जा सकती है।
और उनके धुएं से पड़ौसी की आंखों को थकाकर
कोई भी कैसे समझ सकता है
कि उसने कीचड़ारे रास्तों को पारकर बंदूक के भीतर कुछ रखा है।'[1]

रमेश गौड़ और अजामिल भी, कविता से पाठक के भ्रमों को तोड़कर, उन्हें हक़ीकत के सामने खड़ा कर देते हैं–

तुम मान क्यों नहीं लेते कि तुम्हारे पास सिर्फ़ बहाने हैं
अपने से बाहर आने के या अपने अन्दर लौट जाने के
कि तुम बन्द कमरे की एक अदृश्य हल हो
जो दरवाज़ा खुलने का रास्ता देखती
सड़ांध के घेरे में रुकी हुई है।[2]

सुविमल बसाक 'भूखी पीढ़ी के कवि हैं। वह राजनैतिक असंगतियों को प्रेमप्रसंग के विरोधी रंग के साथ उभारते हैं। आज का व्यक्ति यौनतृप्ति में बाहर की तकलीफों को भुलाना चाहता है। इस स्थिति पर सुविमल बसाक यों व्यंग्य करते हैं–

अल्जीरिया की समस्या लेकर शीर्ष सम्मेलन......
अंधेरे में हर औरत नूरजहाँ ही जंचती है
अरब राष्ट्र क्रमशः पीछे हट रहे हैं
तुम्हारा शरीर काफ़ी गर्म हो रहा है।
युक्तप्रान्त सरकार के गठित होने पर......परिवर्तन होंगे
......पाउडर सने तुम्हारे स्तन मुलायम से लग रहे हैं
......भारत युद्ध-प्रतिरोध के लिए तैयार
सि......................................सि।[1]

चुस्त वाक्य विन्यास और फड़कते जुमलों के बिना भी स्थितियों के विरोधी रंगों को एक साथ पाठकों के अवधान में लाने की इस विधि से भी कविता धारदार बन जाती है। जो लोग भूखी पीढ़ी और उससे प्रेरित हिन्दी की विद्रोही पीढ़ी (केशिनी प्रसाद चौरसिया)

1. अथवा, अंक तीन, पृष्ठ-10
2. वही, पृष्ठ-19
3. अथवा, अंक तीन, पृष्ठ 23

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

को मात्र भड़ास निकालने वाली कुकविता मानते हैं, उन्हें उन रचनाओं को पुनः पढ़ना चाहिए और इस पुनर्मूल्यांकन में नयी कविता के बाद की विद्रोही पीढ़ी की शक्ति को स्वीकार करना चाहिए।

'युयुत्सकविता' के पक्षधर शलभ श्री रामसिंह भी व्यवस्था विरोध में तन्मय कवि हैं। यहां क्रान्ति की आवश्यकता को कविता में पिरोया गया है, इस तरह कि कविता प्रचारात्मक से बची रहे–

बहुत ही नन्हें नरम दो हाथ
छू रहे हैं पीठ-गर्दन-माथ
खांसियों में फेफड़े का दर्द ढलता है
पिन निकलता है।
......आखिरी कतरा लहू का शाम
धड़कनों में कहीं फौलाद गलता है।[1]

शलभ भी विस्तार से स्थिति के विवरण देते हैं। इनमें बोध की स्पष्टता तो है मगर ये......शब्द–चित्र उतने प्रभावक नहीं हो पाते। जो चीज प्रभावित करती है, वह कवि की बेचैनी है।

सोहन शर्मा बातचीत के अन्दाज़ में पाठक की मानसिकता को चेताते हैं। उस चेताने की प्रक्रिया में व्यंग्य के पुट से, सोहन शर्मा की कविता वक्तव्यों के भीड़ में अधिक निकट सी लगती है:

कि मैं किस्सा कहां सुना रहा था......
तमाम किस्से में और कोई नहीं था, ज़हर के सिवाय
जिसने मेरे भीतर रिस रिस कर मुझे बना दिया है ज़हरबाद
......मैं तुम्हारी जान लेकर ही रहूँगा।[2]

सोहन शर्मा की कविताएं आम आदमी की भी समझ में आने वाली कविताएं है। उसमें न अनुभूतियों की जटिलता है, न अधिक कलात्मक व्यूहरचना। वह कविता को नुकीले पत्थर की तरह इस्तेमाल करते हैं।

श्यामविमल की 'दीमक की भाषा' में चुस्त वाक्यों की दिलकश करामाते हैं और भीतर बदलाव की भयानक प्यास है:

पोस्टमार्टम करने वाले हाथ कभी रोटी को
फाड़ कर देखें
कि उसमें जो घुन साबुत पक गया है, वह

1. कल सुबह होने से पहले
2. विकल्प के पक्ष में

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आत्महत्या से परे तक गया है।
......कविता का आदमी क्या करे
......बार बार इस्तेमाल होते बैल्ट के छेद की तरह जीवन
......ऐय्याश शहर में, उसने दाँत और नाखून बढ़ा डाले
......पिन होते ही कोई उसके नीचे सड़कें डाल देता है
और हार्न उसका पीछा करते हैं......वह
धूप से चेहरा रगड़ता हुआ शाम तक रेत कर देता है
× × × ×
वो, जो अपने खुरों से पत्थर तोड़ सकता था
वो जो पूँछ से रास्ता छेद सकता था—
उसकी......हड्डियां पसीज कर रेशा हो गई हैं
लटकी गर्दन, लूले पैर, गला माथा, लचीली पूँछ
और पिलपिला सीना लेकर वह शहर में आ गया है
और पगुराने लगा है।[1]

श्यामविमल सघनसंवेदना को चुस्त-दुरुस्श्त वाक्यों में विन्यस्त करते हुए चलते हैं, इसलिए कविता सपाटता के रोग से कुछ बचती हुई चलती है। उसमें कहीं-कहीं बड़ी सूक्ष्म संवेदनाएं भी हैं:

चिनी हुई पसलियों पर मै घूँसे मारता हूँ, उठ।
कि प्रतिध्वनित होता है, मेरा कर्त्तव्य......
......वही फिर दीमक की चढ़ती भाषा वाला रोमांच
कि हो हो-हो कुछ
होता कुछ क्यों नहीं ?[2]

मामूली घबराहट या चिंता में भी चोटियाँ सी काटने लगती हैं। पर सामाजिक संकट की इस घहराती बेला मे कवि को लगता है कि उसके शरीर पर दीमक चढ़ रही है। प्रत्येक व्यक्ति को यह दीमक न केवल एक जी मिचलाने वाला संवेदन देती है बल्कि यह अहसास भी कि उसे दीमक चुग रही है और जितना ही वह उसे बीनता है, वह दीमक बढ़ती जाती है।

नीलाम के 'संस्मरणारम्भ' में अकविता के अनुत्तरदायी, अराजक विद्रोह पर गुस्सा है और घुटन के खिलाफ तर्कों की परिचित प्रकार की शृंखलाएँ हैं। नीलम चाहते हैं कि लोग अपना चेहरा पहचानें और कुछ कर दिखाएँ—

1. दीमक की भाषा–श्याम विमल
2. वही, पृष्ठ-94

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

'तुम्हें पता नहीं चला था। तुम अपने कमरे में बन्द
बदले लेते रहे थे.........तुम्हारे
चारों ओर सलाखें उग आयीं थीं.........
तुम्हारे कटघरे के पास तब भी चीलें उड़ रही थीं
.........और सुनहली धूप धीरे-धीरे जा रही थी।[1]

नीलाभ, अकवियों के विपरीत अपने में कहीं न कहीं शक्ति के स्रोतों का अस्तित्व पाते हैं। उन्हे लगता है कि ये यातनाएँ अमर नहीं हैं, आदमी की आंतरिक रोशनी अवश्य अमर है, जो अन्त में अंधेरों को नष्ट कर देगी–

'एक दिन मुझे मालूम है, मेरी बाँहों में ऊपर की
ओर उठते हुए काले तूफान होंगे।'[2]

नीलाभ की कविताओं में युवकोचित फड़क नहीं है, एक ठसपन है, जैसे कोई बोझिल वक्तव्य चल रहा हो। यह अवश्य है कि इस वक्तव्य-कविता में स्वस्थ सामाजिकता है और यही नीलाभ को प्रकृतवादी अकवियों से अलग करती है।

निरर्थकता का अहसास, समकालीन कविता में बहुत व्यापक है और साथ ही उसके विरुद्ध कुछ करने की बेचैनी भी। पर निरर्थकता भी कई तरह की होती है। विनोद चन्द्र पाण्डेय के 'विकल्प' में निरर्थकता व्यक्तिगत क़िस्म की है। वहाँ लगाव के हलकों में जो निरर्थकता अनुभूत होती है, उसी की बार-बार रपट की जाती है, मगर अक्षय जैन के 'काला सूरज' में निरर्थकता की अनुभूति, चारों तरफ मिथ्या कार्यकलाप को देखकर होती है–

टूटे शंख नहीं बजते
मरी हुई तितलियाँ नहीं उड़तीं
सड़क खत्म होती है। पगडंडी शुरू होती है।
कहीं समुद्र है। कहीं दहशत है।
शून्य का एक छोर तुम थामे रहना
शून्य का एक छोर मैं थामें रहूँगा।[3]

विनोद चन्द्र पाण्डेय, इस संवेदना की सार्वजनिकता की जगह, निजी जीवन के अवलोकन की विधि से मिथ्यात्व का मर्दन करते हैं–

समय की बहुत ठोकरें खाया हूँ
अब चमड़े की चीज़

---

1. संस्मरणारम्भ-32-34
2. वही, पृष्ठ-66
3. काला सूरज,, पृष्ठ-13

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कुछ भाग्य, कुछ कमीनेपन से जिया
न अनाथ, न सयाना रहा।
दिल्ली में रोज़ होती घटनाएँ
यह मर क्यों नहीं जाता चेहरा
सदा अपराध कर सहे अपने भय
अपने को देकर, बहुतों को धोखा दे पाया।[1]

अक्षय जैन बम्बई जैसे महानगर में स्थितियों को इतना जटिल पाते हैं और व्यक्तियों को इतना विकृत कि वह सपाटबयानी को, समकालीन कविता का अपर्याप्त माध्यम मानते हैं। उलटे लोगों और उलझी हुई हालात को सिर्फ़ उलटबासियों में कहा जा सकता है–

'अपनी हत्या के षड्यंत्र में लोंगों को व्यस्त देख
सूत्रों को जोड़ने और खोजने के क्रम में
मैं सपाटब्यानी से डर गया
उलटबाँसियों की तरफ मुड़ गया।[2]

अक्षय जैन चारों तरफ़ बिगड़े हुए लोगों और बिगड़ी हुई स्थितियों का बार-बार परिगणन करते हैं पर उन्हें कोई रास्ता नहीं सूझता। विनोद पाण्डेय की तरह वह भी, जो है और हो रहा है, उसी की पहचान करते-कराते रहते हैं।

महेन्द्र कार्तिकेय के "बेला सुबह की", में भी विकल्प की स्पष्टता नहीं, परिवेश की पाशविकता की प्रत्यमिज्ञा है। महेन्द्र कार्तिकेय, प्रामाणिक जीवन जीने पर ज़ोर देते हैं पर क्या इस विकृत और भ्रष्ट व्यवस्था में प्रामाणिक जीवन संभव है, इस प्रश्न पर मौन रह जाते हैं। महेन्द्र कीर्तिकेय विचारधारात्मक दृष्टिकोण न अपनाकर, रवतंत्र अवलोकनों के कवि हैं। वह किसी भी स्थिति और अनुभूति में गहरे नहीं उतरते, न उनका सांगोपांग वर्णन ही करते हैं। वे उनमें कुछ कहने योग्य चुन लेते हैं और उसे इतनी सरलता से कह जाते हैं कि यह भी महसूस नहीं होता कि कवि अपनी कला के प्रति सचेत है। यह सरलता, वाग्वैचित्र्य से भरी कविताओं के बीच, महेन्द्र कार्तिकेय की कविताओं को उभरने नहीं देती पर सरलता के अपने सुख हैं। विरोधी रंग प्रस्तुत करने से, महेन्द्र कार्तिकेय की कविताएँ अपनी निजता बनाए रखती हैं—

'आज की डाक में एक साधारण सा अभिनन्दन पत्र आया
............मैं एक बार अपना पता देख्ता हूँ
एक बार डाकघर की मुहरों के नीचे चमचमाया हुआ तुम्हें मित्र
जाओ मेरे मित्र। ऐसे ही सभी घरों मे जाओ

1. विकल्प, पृष्ठ-103
2. काला सूरज, पृष्ठ-25

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

और बासी, बेस्वाद, मुहाँसे भरे चेहरे को
घर के आँगन सा माँज कर साफ कर दो
जाओ मेरे मित्र, सार्वजनिक हो जाओ'[1]

यहाँ सच्ची सार्वजनिकता पर चोट नहीं है बल्कि ऊपरी, आदर की भूखी, बनावटी सार्वजनिकता पर चोट है और इस बीमारी से, शायद कोई भी नहीं बच पाता। महेन्द्र कार्तिकेय विराट चित्रों को भी, सहज चित्रों में बदल कर कहते हैं–

'देखिए यह जंज़ीर, इसमें दो बड़े और एक
छोटा गोला है
एक दूसरे से जकड़े हुए हैं, जो कभी निकल नहीं सकते
एक गोल पृथिवी है, एक है आकाश
छोटा गोला प्राणी है, बन्दी है निरुपाय।[2]

इस चित्र को, कवि जादू का तमाशा वाली शैली में पेश करता है और स्फीति से बचता है। आदमी की हीनता और लाचारी को इस तरह भी दिखाया जा सकता है।

कुन्तल कुमार जैन, वास्तविकता के प्रति कड़ी नजर रखते हुए भी प्रयोगशीलता की ओर झुकते हैं। वे रचनाओं में किसी भी प्रकार के बासीपन के विरोधी हैं

अतः उनकी कविताओं में एक कलाकार कवि का स्वाद मिलता है। कुंतल कुमार, जो मन में आता है, उसे यथावत् नहीं कहने लगते। रचना उनके लिए विरेचन नहीं, विन्यास है। भावुकता को दबा कर, वह कविता को कुंतलीकृत करते हैं। जैसे केशों को घुँघराला बना देने पर उनका आकर्षण बढ़ जाता है उसी तरह उक्ति का कुंतलीकरण, कविता को वक्रता देता है। कुंतल में घुंघराली उक्तियों का ढेर है, जो उनकी रचना में मंदता नहीं आने देता। विपरीतताओं में उलझें हुए, पिटे पिटाए मगर हस्सास शख्स को जो सर्वत्र आत्म-विखंडन महसूस होता है, उसका रोचक मुआयना कुंतल कुमार जैन की कविता में है–

मेरी टाँगें निकालकर मुझे बैसाखियाँ दे दी गई हैं
और कंधों पर एक शहर रख दिया गया है
तमाम सड़कें विस्तार दी गईं हैं
और दूरियाँ कदमों के बीच संक्षेप दी गयी है
अचानक जब हाथ फैलाता हूँ तो कमरे की दीवारों
से जा टकराते हैं
और एक झटके के साथ सहने को दे दी जाती है पीड़ा

---

1. बेला सुबह की-महेन्द्र कार्तिकेय, पृष्ठ-59
2. बेला सुबह की–मेन्द्र कार्तिकेय, पृष्ठ-25

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

चुपके से कमर और सिर पर
एक तेज़ प्रहार किया जाता है
और उसी क्षण मुँह पर पट्टी कस दी जाती है
मैं हर बार कंधों पर रखा हुआ शहर
झटक देना चाहता हूँ
लेकिन वह, एक उछाल लेकर
और अधिक धँस जाता है कंधों में।[1]

यहाँ मात्र महानगरीय बोध नहीं, महानगर के दुःखद जीवन का विरोध भी है। कवि की भोली 'आत्मा' के लिए शहर की भीतरी मार असहनीय हो उठती है–

'यह शहर, पूरा का पूरा आलपिन सा चुभता है......
......एक भीड़ रोशनी में कूदती है और रोशनी
उछाल देती है अँधेरे में
फिर ये दोनों मिलकर, हँसते हैं एक व्यंग्य के आसपास'[2]
......सभी एक दूसरे के अमूर्त आइनों में घूम रहे हैं
दूसरों को देख-देख, उनके अनुपातों में
अपने को निर्धारित करते हुए
क्षण-क्षण बनते मिटते बिम्बों-प्रतिबिम्बों की तरह।
हम मूल्यहीनता में बदलते क्रम हैं।'[3]

स्थितियों का ऐसा संकुल, जटिल और साथ ही कलात्मक चित्रण बहुत कम कवियों में मिलता है। महानगरों में मानवीय स्थितियों का सूक्ष्म विश्लेषण और तज्जन्य पीडा कुंतल कुमार को सपाटबयान कवियों से अलग करती है। वह कशमकश को बड़े बाँकेपन के साथ सोचकर चुने गए शब्दों में बाँधते हैं। कुंतल की कविता में विन्यस्त शब्दों और बिम्बों के स्थान पर अन्य शब्दों और बिम्बों को नहीं रखा जा सकता और मैं इस चीज़ को रचनाकार होने की प्रथम शर्त मानता हूँ। वक्तव्य-कविता के विरुद्ध कुंतल कुमार जैन संवेदित कथनों और दृश्यों का सम्प्रेषण करते हैं, ख़ुर्दबीनी से काम लेते हैं–

'एक झुरझुरी, मेरे पूरे शरीर में ठहर कर बीत गयी।
मैं तेज़ गति पर मोड़ पर मोड़ खाती कार सा हो गया हूँ।
और कई उठक-पटकों में, ख़ूनी विध्वंसों के बाद

1. अप्रस्तुत–सम्पादक, नवल,
2. वही,
3. वही,

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भयानक भूकम्पक-क्षणों पर रख दिया गया हूँ
लोग सुरंगों में जाते हुए
मुझे चिपका देते हैं, गुफा मुँह पर दरवाज़ों की जगह।'[1]

× × × ×

एक घुटन और उकताहट का मिला जुला पहरा है सब ओर
चुपके से उठकर काट देती है बनाया हुआ उत्साह
कई टुकड़ों में
मैं एक परछाई उतारकर उछाल देता हूँ आकाश की ओर
तो धूप कई ओर से आकर, कुतर कुतर चबाती है उसे
और मैं अपना ही बिगड़ा हुआ चेहरा लिए घूमता
हूँ दिनभर।'[2]

कुंतल कुमार जैन में भीतर का क्रोध या लावा उन्हें सूक्ष्मदर्शी पर्यवेक्षक बनाता है। वह यह देखते हैं कि किसी वास्तविकता का असर आदमी पर क्या हो रहा है।वह उस असर को कलमबन्द करने के लिए करामाती कथन-प्रकार ढूँढते रहते हैं। इस शक्ति के कारण, कुंतल आपात्कालीन अवस्था में आदमी पर लगाए गए अंकुशों और उनके मारक प्रभाव को पहचान लेते हैं। व्यक्ति और व्यवस्था के युद्ध में कुंतल सदैव कमज़ोर व्यक्ति की ओर से सोचते हैं–

'पहले होठों से कहा गया, तुम जीभ के कहने
में मत आओ
बाद में दाँत ने जीभ से कहा, तुम अपनी मर्यादा में रहो
अब हम ही तुम्हारे पहरेदार हैं, रक्षाभार हम पर है
और देखो।
अब तो हर चीज़ पहले हम चख लेंगे
फिर मौसम अनुकूल होने पर तुम्हें देंगे
बात नयी है, और पुरानी भी है
सिंहासनों से जुड़ी, उसकी कहानी भी है
कि जीभ जब सच के साथ हो जाती है
तो कड़वी नीम हो जाती है
फिर मुंडी पकड़कर, गला दबा कर
बाहर निकाल कर

1. अप्रस्तुत
2. वही,

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(जीभ) सरे आम एक रास्ते पर काट दी जाती है
लेकिन हम आपको बताएँ
कि जीभ के लोकगीत हैं
कबीर के भजन हैं
और उसकी सरी दन्त क्रथाएँ हैं
जिन्हें वह कहेगी और कहेगी
बिना कहे नहीं रहेगी।[1]

कुन्तल कुमार के पास बताने को मुक्ति का कोई सुगम रास्ता नहीं है। उनकी भूमिका एक तटस्थ पर्यवेक्षक सी है जो व्यावहारिक जीवन में व्यावहारिक है मगर कलात्मक संसार में वह साधारण व्यक्ति का पक्ष लेते हैं। वह कविता को प्रचार से बचाते हैं पर फिर भी वह कितनी सादा मिजाज़ और गहरी है। मुक्तपर्यवेक्षकों में अलग खड़े होकर देखने की प्रवृत्ति होती है। वे संवेदित होते हैं पर वे स्वयं संचालित भी होते हैं। उनकी निगाह प्रत्येक क्रिया, घटना और व्यवस्था के प्रभाव को इस निकष पर कसती है कि किस हद तक उससे साधारण व्यक्ति का जीवन सार्थक और सुखी बनता है.।.संवेदित तटस्थता कवि की घोषित सदाशयताओं और व्यवहृत वास्तविकताओं की तुलना की सुविधा देती है। मतिमंद पक्षधर कवियों में यह आलोचनात्मक शक्ति घुटकर भीतर ही रह जाती है। प्रबुद्ध पक्षधर कवियों में यह शक्ति अवश्य होती है कि वे अपने प्रति एकदम सच्चे होते हैं और अपने दल के लोगों और उनकी गतिविधियों का खरा मूल्यांकन करते हैं।

नन्द चतुर्वेदी भी स्थितियों का कविता में विश्लेषण पसंद करते हैं। वह साधारणजन की बेबसी और 'महा-जनों' की क्रूरताओं का, वक्तक विधि पर भी खुलासा करते हैं, उद्बोधन उपदेश भी देते हैं मग वह दृश्यों और रूपों के प्रति भी अपनी संलग्नता क़ायम रखते हैं, और तर्क-प्रति-तर्क के कई पैंतरों का इस्तैमाल करते हुए स्थितिबोध को एक रचाव के साथ सामने लाते हैं। आपात्कालीन कालावधि के पूर्व उग्रसामाजिक परिवर्तन की माँग थी, आज क्या हो रहा है और कवि क्या अनुभव कर रहा है, इसके लिए नन्द चतुर्वेदी की नवीनतम कविता को देखा जा सकता है–

'बस यहीं रुकें, यहीं इस धूल-धक्कड़ भरी जगह पर
सुस्ताने के लिए नहीं
और न बीता हुआ कुछ भी याद करने के लिए
क्योंकि बीता हुआ सब, सिर्फ़ हिलता है।
......जो भी तय करना हो, यहीं करें, सब के साथ
अकेले में हमारा मातम, एक फूल की तरह होता है

1. अप्रकाशित कविता का अंश्व्य

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

एक गंदे और बासी फूल की तरह
अकेले में हमारी भूख, केवल एक दिलचस्पी है
......इसमें दाँवपेंच जैसी कौन सी बात है
सचाई पके और गदराए आम की तरह है
कोई कबाड़खाना नहीं है।'

यहाँ कवि का स्वर धनात्मक है। वह सहयोग को कलात्मक अभिव्यक्ति देता है और पूरे बदमिजाज़ मौसम की तब्दीली के लिए चिंतित है। नन्द जी 'आग के लिए इस अलाव से उस अलाव तक' न जाने पर श्रोताओं को फटकारते हैं।

नन्द चतुर्वेदी की कविताओं में अनाकर्षक पंक्तियों का जमघट, उनके असर को कम करता है मगर नन्द जी अक्सर पुराने हाथ दिखा जाते हैं और परिचित को, अपूर्वता के लोभ में सहना सरल हो जाता है। नन्द जी, ऐसी पंक्तियाँ भी लिखते हैं–

'आदमी, इस तरह लड़ता है
अपमानित, लज्जित, नगण्य और अपाहिज होकर
लेकिन एक अनवरत लड़ाई का सिलसिला हर बार
कहीं नहीं पहुँचाता है
वहीं से कुछ आग, कुछ 'रोशनी' और कुछ आकाश
नज़र आने लगता है।'

ऐसे स्थलों में वक्तव्य कविता, मात्र वक्तव्य रह जाती हैं। नन्द जी के "यह समय मामूली नहीं" नामक संग्रह में काफी उत्कृष्ट कविताएँ हैं।

नीलम श्रीवास्तव वर्गचेतना को संवेदन के सोपान पर अभिव्यक्ति देते हैं। बहुत गहरे, निजी अनुभव की निमग्नता में भी बाहरी वास्तविकता कौंध-कौंध जाती है। अंतरंगता में कठोर लस्तविकता का दाखिला, सामाजिक ढाँचे और बदलाव की ताकतों की तरफ ले जाता है। यह 'कौंध विधि' विघोषक विधियों से अधिक वेधक होती है। पाठक का सुरक्षात्मक कवच छिन्न-भिन्न हो जाता है और वह अपने निजी अनुभवों में दुःखों की कसक को स्मरण कर कविता को अपने निकट पाता है, जैसे वह मन की मित्र हो और पाठक के मन का प्रतिबिम्ब दे रही हो–

'मुझे लिखना ही होगा, स्पन्दनों का विवरण
एक ग्राफ खींचना होगा–बीहड़ बियाबानों से
लेकर......जलते हुए चम्पई स्पर्शों तक
......हाँ, सच, होश में कभी ईमान की बातें नहीं होतीं
होश में आते ही मैं फिर क्लर्क हो जाऊँगा
या बाप या भाई या पुत्र

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

......अब कभी न क्षण वापस होंगे ऋतुसंहारों के
वे जो कदम्ब फूल, खिले थे धमनियों में
भीतर ही सड़ेंगे और कैंन्सर हो जाएँगे।'

निजी अस्तित्व कोई निरपेक्ष सत्ता नहीं है। उसके स्वरूप और भूमिका पर बाहरी ताक़तों और उनके नियमों का बुनियादी प्रभाव पड़ता है। समाज के एक हिस्से के रूप में, उसके स्थान पर भूमिका के आधार पर व्यक्ति की पहचान होती है। पर पहचान का प्रश्न गौण है। प्राथमिक प्रश्न, निजी अस्तित्व की निरपेक्षता का है। क्या निजी अस्तित्व, बाह्य अस्तित्व के बिना संभव है? मनुष्य एक शृंखला में जीता है, जीता रह सकता है अतः यह असम्भव है कि उसके निजी अस्तित्व और अनुभवों में ऐन्द्रिय संवेदनों और भावनाओं में, बाह्य अस्तित्त्व के अहसास लुप्त हो जाएँ। कमज़ोर व्यक्ति, इन बाह्य प्रभावों को नशे में नष्ट कर, किसी ज्यादा आकर्षक दुनियाँ के ख्यालों में भटकता है और उत्तेजना शांत हो जाने पर फिर बाहरी संसार से टकराने लगता है। बाहरी संसार और कलाकार के आंतरिक जीवन का द्वन्द्व तीव्र होता ही जाएगा, यदि बाह्य संसार में तब्दीली के तुरन्त उपाय नहीं किए जाएँगे। तब तक कवि और आम आदमी कुछ समय तक नशे में ग़म ग़लत कर, फिर उससे ऊबकर, उन शक्तियों के खिलाफ लड़ेगा और आंतरिक, बाह्य के इस द्वन्द्व को समाप्त कर देगा। अस्तित्व जहाँ असम्भव हो, ऐसी व्यवस्था में सहित्य का स्थायी भाव 'विक्षोभ' ही रहेगा, इसे हाक्ति से नहीं, सहयोग से सही दिशा में प्रयुक्त किया जा सकता है।

सप्तम-अष्टम दशक की आनुभाविक कविताओं में यही अहम्-इदम् का द्वन्द्व है। इस भयंकर मनोद्वन्द्व को मात्र व्यक्तिगत नहीं माना जा सकता क्योंकि इसमें सामाजिक अथवा बाहरी रेशे बुने हुए हैं। इस बुनावट से व्यक्तिगत रेशों को अलग करते ही अस्तित्वभ्रंश हो जाता है और जीवन ही समाप्त हो जाता है। लेखक इस मनोद्वन्द्व के समाधान के लिए या तो 'अलगाव', 'अजनबीपन' या कटे-कटे रहने की वकालत करता है अथवा अराजक विद्रोह के लिए उकसाता है। नीलम श्रीवास्तव, संवेदन के स्तर पर वर्गचेतन लेखक हैं, बूर्ज्वा यथार्थवाद से इस वर्गचेतन कवि का यथार्थवाद भिन्न है। यहाँ एक बड़ी लड़ाई के लिए तैयारी चल रही है। मानसिक स्तर पर, इस तैयारी के काम में अग्रगामी भारतीय भाषाओं के कवि और लेखक ही हैं। वर्गचेतन लेखकों की मनोवैज्ञानिक मार से, साहित्य में यह पहचान बनती जा रही है कि उस आधुनिकता से काम नहीं चल सकता जो विखंडन सिखाती है, जो लोगों को मिलने नहीं देती। आधुनिकता का यह पछाँही रूप, अर्धविकसित और अविकसित देशों के लिए अप्रासांगिक है क्योंकि पश्चिम में विद्रोह समृद्धि के विरुद्ध है, यहाँ अस्तित्व रक्षा और उसके विकास की चुनौती है।

यह मसीहाई है या सही कविता के लिए एक सही संघर्ष है? समकालीन कविता

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

में अंतर-बाह्य समानान्तर चल ही नहीं सकते क्योंकि बाह्य के आगे अंतर की सदैव पराजय होती है। तब, अवरुद्ध मानस उससे अप्रतिबद्ध होकर, यथार्थ से पलायन करता है और अपना मानसिक नीड़ बनाता है। उसमें वह अपनी समानान्तर दुनियाँ रचता है और उनकी विलक्षणता के कारण, बाह्य विपरीत समाज उसे अपना लेता है और उसे बेचने खरीदने लगता है अतः अनिर्देशित असंगठित व्यक्तित्व बूर्ज्वा व्यवस्था में जीवित नहीं रह सकते। 'रचना की राह' तक आलोचना को सीमित कर देने का मतलब है, रचना में व्यक्त मनः क्रियाओं को निरपेक्ष मानना, जबकि असलियत यह है कि रचना, स्थिति से जुड़ी है अतः स्थिति की समझ के बाद ही 'रचना की राह' से गुज़रा जा सकता है। जो सीधे रचनाओं में उतर गए, वे आलोचक डूब गए या डूब रहे हैं।

समकालीन रचनाओं की जड़ें, ज़मीन में हैं, आस्मान में नहीं, उनमें हिन्दी भाषी जनता को विद्रोही परम्परा बोल रही है। कवि क्षुब्ध है और विष उगल रहा है। यह विष धीरे-धीरे पाठकों में घुस रहा है। इसे अब कोई फ़रेब बहला नहीं सकता। विस्फोटक स्थिति में जीता हुआ आज का कवि, परिवर्तन के झटकों को महसूस करता है। 'कुछ भी हो सकता है' की हालत आ गई है। क्या यह परिवर्तन आकस्मिक है या बरसों की अभिव्यक्ति का प्रतिफलन है?

परिवर्तन के झटकों में मनोबल बनाए रहना और हर हालत के लिए तैयार रहना ज़रूरी है। इसलिए साहित्यकार इस मनोवैज्ञानिक आवश्यकता की पूर्ति करता है। आपात्काल में लोग उसका मुँह देखते हैं, देखें यह क्या कहता है। कुंतल कुमार के शब्दों में किसी भी हाल में, जीभ चलती रहनी चाहिए और लेखनी चलती रहनी चाहिए 'जीभ के लोकगीत हैं, कबीर के भजन हैं, जिन्हें वह कहेगी और बिना कहे नहीं रहेगी।'

जीभ की यह गति, मनोज सोनकर में एक 'दुविधा' के रूप में आती है। यह दुविधा व्यापक है, मनोज तो उसके एक माध्यम भर हैं। मनोद्वन्द्व का इस प्रकार का चित्रण, पाठक को वरण के लिए प्रतिश्रुत कर देता है। कविता, मात्र एक कलात्मक सृष्टि न रहकर, यथार्थ में एक हस्तक्षेप बन जाती है। अटके भटकों से, आपत्तिकालों से, इस चुनौती की स्वीकृति पर कोई असर नहीं पड़ सकता क्योंकि हिन्दी की पूरी परम्परा ही, सिद्धों-अवधूतों, योगियों, सन्तों-भक्तों और ऐसे ही, अव्यवस्थितों या व्यवस्था विरोधियों द्वारा बनी हुई है। विद्रोही व्यक्ति व्यवस्था के रौब के बीच भी कुम्भनदास की तरह 'अपनी' मनोदशा की स्वतंत्रता घोषित करता है। वह किसी भी क्षण में, अवांछनीय निज़ाम को स्वीकृति नहीं दे सकता। फिर भी विद्रोही बनने के पूर्व अंतर्द्वन्द्व का लम्बा इतिहास रहता है। इस मनोवैज्ञानिक इतिहास को कोई नहीं लिखता, सिर्फ़ साहित्यकार लिखता है। मनोद्वन्द्व के बदलते हुए रूपों का इतिहास ही तो साहित्य का इतिहास है—

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

तक़दीर मुट्ठी में बंद है
और सामने खड़ी है दीवार
दीवार तोड़ता हूँ तो तकदीर नंगी होती है
और मुट्ठी में बन्द रखता हूँ तो दीवार
खड़ी होती है।'

× × × ×

'तुम्हारी जुल्फ सावन की घटा भी नहीं
मुख अनुपम छटा भी नहीं
आँखें मद का प्याला भी नहीं
फिर भी अनुपमेय हो, गेय हो
क्योंकि मैं हूँ और मेरा आहत अहं है
जिसे मैं पाले जा रहा हूँ
......कल मैं ढला, एक राजकुमार की तरह
और आज मेरे सामने है
रोटी के चंद टुकड़े, हजार झगड़े
पेट्रोल से महकती सड़कें
...जीवन, समय के दरबार में सस्ता मिरासी है
जो छोटी बड़ी कीमतों पर गीत भुनभुनाता है।'[1]

'ऐंटीरोमांटिक; होने पर भी, जो भी जहाँ आकर्षण है, समकालीन कविता उसका आकलन करती है, अकवियों ने अवश्य अपने वीभत्सतापरक मूड में बेहयाई दिखाई थी पर अब पुनः चीजों और व्यक्तियों के बारे में मानवीय दृष्टि विकसित हो रही है। सच्चा विद्रोही जीवन-प्रेमी होता है, घृणावादी नहीं। वह विद्रोह की मनोदशा में भी, प्रकृति के अस्तित्व के साथ एकाकार होता है, उससे प्रेरणा लेता है, संवेदनाएँ ग्रहण करता है–

'सूरज की रोशनी जब पीताभ हो उठती है
तो उसे नंगी आँखों से देखा जा सकता है
अब जब मैं उसे देख रहा हूँ
तो इसके यह माने नहीं कि अब वहाँ पीलापन है।
चारों तरफ स्याही फैलने लगी है।[2]

आलोक गुप्त की कविताओं में प्रत्येक कविता, 'भविष्य की लड़ाईं की तैयारी' के लिए है अतः वह कहीं नाटकीयता दिखाते हैं, कहीं तर्क देते हैं और कहीं प्रकृति में अपने मन को रमाते समझाते हैं। विद्रोहमय मनोदशा जब स्थायी हो जाती है तो सारे अनुभव

1. पंख कटा मेघदूत-मनोज सोनकर,
2. अप्रस्तुत-आलोक गुप्त

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

और अहसास, केन्द्र पा जाते हैं, जहाँ से प्रत्येक क्षण आदर्श और उसकी अन्तिम विजय की आशा विच्छुरित होती रहती है और जिसमें अपने को समग्र जीवन के अंग के आकार में देखा जाता है जो वैज्ञानिक दृष्टि भी है क्योंकि यह प्रमाण सिद्ध है कि मनुष्य अपनी परिधि में, चेतना के स्तर पर किसी न किसी मात्रा में, अवश्य स्वतंत्र है पर वह सोच की स्वतंत्रता प्राकृतिक-सामाजिक बृहत्तर परिधि के अंतर्गत रहती है और इस रूप में पराधीन है। यह पराधीनता, अस्तित्व के स्तर पर है और मानव शरीर की सीमाओं के कारण, मानव मस्तिष्क की सीमाओं या प्राकृतिक विकास की धीमी गति के कारण है। यह भी संभव था कि अब तक मानव मस्तिष्क, इतना विकसित हो गया होता, कि वह अमानवीयताएँ छोड़कर, आदमी द्वारा आदमी को दी गई पीड़ा और परतंत्रता के अंतर्विरोध पर विजय पा चुका होता। परपीड़ा और शोषण आदमी अज्ञानवश या अहंकारवश करता है। सामाजिक संरचना और सांस्कृतिक स्तर पर अमानवीय मूल्यों के कारण, लोगों को, औरों का इस्तेमाल करके चमत्कार दिखाने या 'सुखी' होने की खुजली की बीमारी हो जाती है। अहम् ऐसा ही रोग है। वह सही होने पर आदमी को महान् बनाता है और ग़लत होने पर राक्षस। इस देवासुर-संग्राम को पुराने परम्परावादी कवि भी नहीं भूले। वे इसी में व्यक्तियों और समाजों की जड़ें खोजते थे और इस अहम् को ठीक रखने के लिए धर्म-कर्म आदि के नाना उपाय करते थे।

इतिहास के लम्बे विकास में आदमी प्रकृति-विजेता होने पर भी, मनोप्रकृति को नहीं जीत सका। अतएव पश्चिम के यथार्थदर्शी दार्शनिक एक स्पष्ट 'मानव प्रकृति' में विश्वास करते हैं। मानव प्रकृति की द्वन्द्वात्मकता को वह मानते हैं। उसमें निम्नगामिताः ऊर्ध्वगामिता, आलोक : छाया आदि के द्वन्द्व हैं, यह सभी मानते हैं, पुराने नए सभी। पर ग़ैरकामरेडी चिंतन मनः प्रकृति में बुनियादी परिवर्तन की बात को कल्पित सत्य मानता है। वह यह नहीं मानता कि आदमी कभी अपने इच्छा जगत् को पूरी तरह 'सामाजिक' बना सकता है। इतिहास में बार-बार सुधारकों और क्रन्तिकारियों ने ऐसे आंदोलन किए हैं कि बुनियाद बदल जाए पर वह नहीं बदली। पूँजीवादी व्यवस्था में भी उच्च कोटि के, महामानव पैदा होते हैं और समाजवादी व्यवस्था में भी। दोनों सभ्यताओं में टकराहट है और सामूहिक स्तर पर, इसका व्यापक अहसास है, यह अहंकार भी कि प्रतिपक्ष को झुकाना है, झुकना नहीं है। इस द्वन्द्व के कारण राजनैतिक और सांस्कृतिक अहंकार हैं। क्या ये दोनों तरफ नहीं हैं? यदि हैं, तब मानवीय दृष्टि से समाजवादी सभ्यता और पूंजीवादी सभ्यता में क्या अंतर है? दोनों में तकनीकी तरक्क़ी को बुनियाद बनाया गया है। दोनों में शत्रुता और मित्रता है। मित्रता शत्रुता के लिए है और शत्रुता मित्रता के लिए।[1] कमज़ोरी दोनों तरफ हैं। युद्ध में दोनों अमानवीय बनते हैं और युद्ध जारी है।

1. अब साम्यवादी नमूने की व्यवस्था के असफल हो जाने और अभालें असंगतियों के कारण भूतपूर्व कामरेड-देश रूस पूर्वी योरोप के देश, पूंजीवाद के दादा देश, अमरीका के अधीन हो रहे हैं।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इस स्थिति में विकासशील देशों के तटस्थ बुद्धिजीवी यह साफ़-साफ देख सकते हैं कि दोनों तरफ विजय के लिए साधनों की नैतिकता पर अल्पतम ध्यान ही दिया जाता है। क्या इस स्थिति में यह नहीं कहा जा सकता कि विचारधाराओं का काम युगपरिवर्तन नहीं, किसी राज्य या जनसमूह के भौतिक स्वार्थों को छिपाना है, उसे उचित ठहराना है? लेकिन यह दोष विचारधारा का नहीं, राज्यसत्ताओं और दलों द्वारा, उसका दुरुपयोग है।

पारम्परिक भारतीय मेधा, जो जगत्गुरु होने का गर्व करती है, किसी एक शिविर के साथ संयुक्त होने को गर्वखर्वण मानती है। अंग्रेजी दिमाग़ जो हमें उत्तराधिकार में मिला है वह भी शक्ति संतुलन द्वारा अपने देश-समाज के हितों की रक्षा सिखाता है। अतएव, यथास्थिति को थोड़ा बहुत झाड़-फटकार कर वर्गीय समाज के ढांचे को बनाए रख पाने पर, भारतीय क़िस्म का समाजवादी "वर्गीय समाज" बना रहे हैं, जिसमें 'वाद' तो सामाजिक प्रकार का हो पर 'विशिष्ट' इकाइयों और ख़ानदानों की महानता और समृद्धि को बनाए रखा जा सके। बिना इस विशिष्ट वर्ग (इलीट) का अंग बने जनमत को मोड़ना दुष्कर हो जाता है क्योंकि जनता स्वयं सभी बातों के विषय में नहीं सोच पाती। वह अपनी योग्य संतान के माध्यम से सोचती है। विकास की अवधि में जो लोग अपने को श्रेष्ठ समझे गए तबकों का अंग समझते हैं, वे इस देश में विशिष्टों द्वारा अविशिष्टों पर शासन कर रहे हैं। वे समाज में 'मानव प्रकृति की नीचता' के स्थायी पूर्वाग्रह के आधार पर, कम्युनिज्म को पुराने धर्मों की श्रेणी में रखते हैं। कम्यूनिज्म भी अंतिम भ्रम था। उनकी नज़रों में यह भ्रम भी टूट गया और आदमी एक बार फिर नंगा हो गया। आदमी खुदा नहीं हो सकता, इसिलए कुछ लोगों-लुगाइयौं को, आम आदमी का खुदा बने रहने का हक़ है। क्या तर्क है!

अपने को विशिष्ट और प्रबल बनाए रखने के लिए इन 'विशिष्टों (वशिष्ठों)—ने सदैव स्थापित शक्तियों का साथ दिया और ज्ञानियों का एक बहुत बड़ा वर्ग इस मुल्क में शासकों के साथ रहा। इन धर्मात्माओं ने शासकों को उदार अवश्य बनाया, सभ्य भी, पर साधारण व्यक्ति की दृष्टि से यह ज्ञानियों की ग़द्दारी थी क्योंकि वे आर्थिक दृष्टि से साधारण जनता के हिस्से थे। विशिष्ट बनकर वर्गीय शोषण का समर्थन करना, हमारी पवित्र भारतीय संस्कृति का एक लक्षण है। अंग्रेजी राज्य और उसके पहले मध्यकालीन आक्रान्ताओं और फौज़ियों की हुकूमतों में, यह 'पवित्र भारतीय वर्ग' या पंडित समाज, बुरी तरह उपेक्षित रहा। अँग्रेज़ी राज्य तक आते-आते मुस्लिम समाज का विशिष्ट वर्ग, हिन्दू विशिष्ट वर्ग के साथ मिल गया और अँगरेज़ों को निकाल देने के बाद शासक बन गया। यह एक अत्यन्त प्रबुद्ध, उदार, अहंकारी और ऊँचे लोगों की जमात है, जिनमें ध्रुवीकरण करना अत्यन्त कठिन है। लोग विभिन्न दलों में संगठित होकर एक दूसरे के विरुद्ध लड़ते हुए, शक्ति संतुलन की समस्या पैदा किए रहते हैं और सरकार उनके दलों

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

की शक्तियों में संतुलन स्थापित करते-करते थक जाती है या मार खाकर अलग हो जाती है। मगर इसमें चाल यह है कि मूल ढाँचा सुरक्षित रहता है यानी हर हालत में हम खास आदमी रहेंगे और निर्णय हमी करेंगे, सही ग़लत हमारे कहने से तय होगा, हम राज्य की आत्मा हैं, उसकी मेधा हैं, यह अहंकार विशिष्ट वर्ग का संचालक है।

आज़ादी के बाद यही विशिष्ट वर्ग मूल्य-भ्रष्ट हुआ और मज़ेदार अनुभवों तथा मिथ्या-अहंकारों में भटक जाने के कारण, यह हिन्दू-मुस्लिम अभिजात्य वर्ग तथा मुस्लिम हुकूमत से, पीढ़ियों से समृद्ध तत्वों से बना हुआ यह भारतीय विशिष्ट वर्ग, सप्तमदशक में तब चौंका, जब विदेश नीति में पराजय हुई और कम्यूनिस्ट आंदोलन और उसके फलस्वरूप बने हुए चीन के व्यक्तित्व को समझने में भूलें हुईं।

आठवें दशक तक आते-आते यही विशिष्ट वर्ग, रैडीकल, क्रान्तिकारी, विद्रोही और समाजवादी हो गया मगर 'मानव प्रकृति' की बुनियादी वक्रता और निरंकुश-प्रवाह के बूर्ज़्वा सिद्धान्त को उसने नहीं छोड़ा। जब तक मोहभंग के बाद, दुबारा यह अहसास नहीं जगता कि कुछ हो सकता है, तब तक राजनीति, शिक्षा और साहित्य, यथास्थितिशील ही रहेगा। उसमें ऊपरी गरज होगी, मगर भीतर से वह भोले भारतीय की तरह पोला और हल्का होगा। आदमी के जी में अगर आग लग जाए और वह आग करोड़ों के मनों में फैल जाए तो इस आग को रोकना, व्यवस्था के बूते की बात नहीं हैं। व्यवस्था, सभी साधनों द्वारा, 'मानव प्रकृति' को निम्न धरातल पर ही रखना चाहती है। वह अपने हितों के विरुद्ध नाटकों, फिल्मों और यहाँ तक कविताओं की भी अनुमति नहीं दे सकती। इसलिए वह, समाज में 'आदरणीय वर्ग' के लोगों को व्यवस्था में बड़े-बड़े पदों पर बिठा देती है। जिस तरह दरबारों में स्थान पा जाने वाला व्यक्ति बँध जाता था, विशिष्टता की रक्षा में ही दम दिए रहता था, उसी तरह आधुनिक भारत में, सदाबहार विशिष्ट वर्ग के वशिष्ठ लोग सम्भ्रान्त जीवन जी रहे हैं, ज्ञानी हैं, उदार हैं, भद्र हैं, मगर मूलतः प्रतिक्रियावादी हैं। वे ही व्यवस्था के औचित्यीकीरण के पहरेदार हैं। वे प्राध्यापक, बौद्धिक, लेखक, सम्पादक, अधिकारी, विशेषज्ञ, यंत्रदक्ष आदि नाना रूपों मे विचरते हैं। विशिष्ट वर्ग रूपधारी भोगवादियों को जऩ्म देता है। भोगी वर्ग अपनी जीवन प्रणाली को जनता के सामने नमूने के रूप में रखता है, जनता उसे अपना लेती है, महाजनो येन गतः स पन्थः।

ये 'महाजन' ही बुनियादी परिवर्तन में सबसे बड़े बाधक हैं। वे योग्यता को एकमात्र निकष मानते हैं पर वे सभी को ऐसे अवसर नहीं देते कि वे भी योग्य और महाजन बन जाएँ। खास और आम की यह लड़ाई, कभी खुलकर और कभी भीतरी तौर पर हमेशा से होती आ रही है यह कोई नयी बात नहीं है कि हम व्यवस्था से लड़ रहे हैं, यह एक परम्परा है। प्रतिक्रान्ति की शक्तियाँ प्रबलतर रहने पर, क्रान्ति कामना के रूप में, मनों

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

में रहती है। वह विशिष्ट वर्ग के लोगों से ही 'सही विशिष्ट' के तौर पर कुछ लोगों को तोड़ लेती है और खासोआम को एक जमीन पर, एक इंसान की तरह समझने सुधारने का एक व्यापक आंदोलन चलता है। सप्रमदशक के उत्तरार्द्ध (1965) से यह परिवर्तन के तूफान प्रत्येक देश में उठते हैं। यह लहर शांत होने वाली नहीं है क्योंकि एक बार छिड़ जाने पर परिवर्तन की शक्तियाँ अपने कार्यकर्ता पा जाती हैं और संगठन, जनमानस में अचल स्थिति बना लेता है। यदि क्रान्ति के समर्थक तत्त्वों के प्रति जनमानस में आदर नहीं है, आशा नहीं है, तो वह सिर्फ़ शब्दों में होती रहेगी या जहाँ-तहाँ आतिशबाज़ी की तरह भर्र होकर राख हो जाएगी।

स्थिति असहाय होते जाने और शिक्षा के कारण फैलती सामाजिक बराबरी के तेवरों के जमाने में वर्ग वैषम्य के विरुद्ध जनमानस इस शिक्षित बेकार या अर्ध बेकार जमात द्वारा स्वतः स्वाभाविक तौर पर तैयार हो जाता है। समस्या, इस भाव को सोच का अंग बनाने की है और यह बताते रहने की है कि यह भी मानव प्रकृति का ही नियम है कि वह अपने प्रवृत्तिगत ढाँचे के खिलाफ युद्ध करे क्योंकि इस युद्ध के बिना, मानव प्रकृति का वैविध्य ही समाप्त हो जाएगा। मूलरूप से प्रवृत्तियों से जुड़ी होने पर भी, 'मानव प्रकृति' इतनी लचीली है कि आदमी व्यक्तिगत सम्पत्ति के बिना भी रह सकता है, वह चाहे तो सारे संसार को अपना परिवार समझकर, एक उच्च धरातल पर जी सकता है। निम्नगामिता मानवप्रकृति के संगीत की कोई अनिवार्य मूर्च्छना या आलाप नहीं है, उसके बिना भी मानव प्रकृति अन्य नए, विचित्र धरातल खोज लेगी, कला और विज्ञान के क्षेत्र मानव और प्रकृति के रहस्य को समझने के अक्षय स्रोत हैं। सोवियत रूस में लोग मानसिक टेलिपेथी का अभ्यास कर रहे हैं, 'योग' को वैज्ञानिक विधि से समझा जा रहा है।

भारतीय विशिष्ट वर्ग की, सामाजिक परिवर्तन के कार्य में अपर्याप्त सफलता से, करोड़ों खोपड़ियों के कम्प्यूटर अपने को चबा रहे हैं। वे आदमी नहीं भूतों की तरह जीते हैं। मैल मिट्टी में सने हुए ये लोग अपने-अपने घरों में अर्ध शिक्षित-शिक्षित युवाजनों को बैठाए हुए उन्हें गालियाँ दे रहे हैं, अपनी तक़दीर को कोस रहे हैं। यदि कवि की निगाह यहाँ है, तो ज्ञानियों का वर्ग उन्हें विभाजित दिखाई पड़ेगा। बहुसंख्यक ज्ञानी, व्यवस्था के साथ सम्बद्ध हैं और उसे उचित ठहरा रहे हैं, व्यक्तिशः वे भी दुःखी हैं, पर यह इतना नहीं है कि वे बंगले से सड़क पर आ जाएँ। वे बंगले में बैठकर ही, क्रान्ति कर रहे हैं।

'आलोचना' के एक अंक में, नमवर सिंह ने व्यवस्था में व्यवस्थितः प्रतिष्ठित मगर दिल से इन्क़लाबी बुद्धि जीवियों लेखकों को आदर देने का प्रश्न उठाया है। उनका कहना है कि यह बुरी बात है कि मुक्त लेखक या बुद्धिजीवी, व्यवस्था से चिपके लेखकों को नीची निगाह से देखें। दरअसल इस समस्या के लिए भी हमें आम आदमी की निगाह से देखना चाहिए। शासक वर्ग के सामने अदब-क़ायदे के लिए विवश और पराधीन

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

नौकरशाहों या परामर्शदाताओं या अन्य बड़े पदाधीशों को आम आदमी, आदर नहीं, अभिनय देता है। वह डरता है या उसे इस्तेमाल करना चाहता है। इस्तेमाल करने पर भी आम आदमी जानता है कि उसकी जगह कहाँ है अतः मन ही मन वह इस समूचे शासक वर्ग या उनके सलाहकारों से घृणा करता है हजारों साल के उत्पीड़न ने,इस वर्ग-घृणा को उसकी नस-नस में भर दिया है। और यह ज़हर, प्रत्येक आम आदमी को रक्त के साथ मिलता है। इसी ज़हर को समकालीन कविता बढ़ाकर, 'मानव प्रकृति' को एक उछाल की ओर ले जाना चाहती है, यही मानव प्रकृति की प्रगति शीलता है।

समकालीन कविता में, यह वर्ग-घृणा, और उससे उत्पन्न होती हुई इन्कलाबी ताकतें संगठित वामपक्षी दल और क्रान्तिकारी गुरिल्लों की चोटें और बलिदान एक समकालीन हक़ीक़त है। यह आग अब भारतीय विशिष्ट वर्ग, खूब महसूस करने लगा है फलतः सरकार, समाजवादी कदम उठा रही है, पूरे देश को एक नए ढ़ंग से अनुशासित किया जा रहा है।

मगर जो यथार्थदर्शी नहीं हैं, ऊपरी आशावादी हैं, वे समझ लेते हैं कि अब मैदान मार लिया। अब इस समाजवादी धारा को लौटाना या सुखाना कठिन है पर ऐसे भद्रजन, भारतीय विशिष्ट वर्ग की लचक और मूल मुद्दों पर उनकी दृढ़ता के सिद्धान्त को नहीं जानते। वे अपनी लचक में, सत्ता पर अधिकार के लिए, काफी दूर तक समाजवादी हो जाएंगे मगर वे कभी भी, भारतीय समाज के मूल ढाँचे को आमूलचूल नहीं बदलेंगे। यह कार्य निम्न वर्ग से उभरा नेतृत्व ही कर सकता है। इसका मतलब है, अंतिम युद्ध राष्ट्रीय बूर्ज़्वीवर्ग से ही होगा। यह देखना होगा कि अपनी रैडीकल राजनीति में मध्यकाल से आज तक, अभिजात वर्ग की सारी विरासत या संस्कृति लादे रहने वाला, यह भारतीय विशिष्ट वर्ग किस तरह अपनी आर्थिक-सामाजिक व्यवस्था के अंतर्विरोधों को सुलझाता हैं।

उधर अत्यन्त आलोचनात्मक और आम आदमी का समर्थक बुद्धिजीवी गिरोह बढ़ता जा रहा है। आम आदमी, यह जानता है कि कौन किसके साथ है। स्पष्ट सामाजिक-राजनैतिक संघर्षों में यह बात बार-बार प्रमाणित होती है। तमाशबीन और बड़े आदमियों के बग़लगीर होकर इन जनतरंगों के साथ बहने वाले और मानव प्रकृति को बदलने तथा सामाजिक अभियांत्रिकी (सोशल इंजीनियरिंग) द्वारा, सामाजिक ढाँचे को, एक उछाल में बदलने के हामी तथा उन तरंगों के ग़लत किनारों को काटने के लिए जुटा देने की शक्ति रखने वालों के हमदर्द ज्ञान गिरोह के बहुत से लोग, वर्गघृणा को अभिव्यक्त कर रहे हैं। भारतीय विसंगतियाँ इतनी अधिक और विचित्र हैं कि उन्हें अलग-अलग दूर नहीं किया जा सकता, बड़े परिवर्तन की ज़रूरत है।

इन गरम ताकतों की संभावनाओं को यथास्थिशील ज्ञानीजन, अवास्तविक मानते

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हैं। "ऐसा नहीं हो सकता", "भारतीय जनता इसके लिए तैयार नहीं है"–ऐसे तर्क बार-बार दिए जाते हैं मगर वे जानते हैं कि साहित्य, लोक मानस के विस्फोटक कोलाहल को ही प्रतिध्वनित कर रहा है। लेखक अपनी छटी इन्द्रिय से आपत्तिकाल को भाँप लेता है। लेखकों के साथ सिवा यह शक्ति पशुओं में भी होती है। पक्षी-पशु और लेखक खतरे को जल्दी भाँप लेते हैं:

"यह पुरानी बात है कि एक साधारण चिन्गारी से
आग की लपटें उठने लगती हैं। भमकें बताती
हैं जलती आग की भयंकर गति। चिनगारी
दधीचि की पसली तो नहीं कि जिसे
ढूँढो और वह इन्द्र की पूंजी बन जाए'।[1]
दधीचि के बलिदान की

दधीचि के बलिदान की यह व्याख्या भले ही ग़लत हो पर बात तो आग की है। इस आग में प्रत्येक कविता की आहुति से, झर-झर करती हुई लपट उठाना ही, समकालीन कविता का अनुगामी कार्य है। कवि समझता है कि जो पढ़ेगा, उस पर अवश्य असर होगा।[2] लाखों लोगों तक पहुँचने लला, समकालीन साहित्य अब एक ताकत बन गया है। इसमें जनमत बनाने की अनिर्वचनीय शक्ति है। आम आदमी के कंधों पर शासक, रक्त में जौंक और मन में विद्रोही लेखक बैठा हुआ है।

भगवान सिह अंतर्मानस में स्थिन इस प्रबोधक को अपनी प्रसिद्ध कविता 'वह' में एक रहस्यमय शक्ति के रूप में दिखाते हैं। श्रीकान्त वर्मा जिस प्रकार अपने अहम् का मनोवैज्ञानिक शैली में साक्षात्कार करते हैं, उसी तरह भगवान सिंह, मानव न्यायपरक बोध और संवेदन को, आंतरिक का आकार देते हैं–

कोई मेरे पास बैठा हुआ है
पर दिखाई नहीं देता
...कोई मेरे बिस्तर पर, आकर सो गया है
कोई मेरा बोझ अपने कंधों पर ढो गया है।
...मेरे आसपास छिपा; मुझसे डर रहा है।'[2]

'दूसरे का डर' शीर्षक इस कविता में श्रीकान्त वर्मा समानान्तर आत्मचेतना की उपस्थिति दिखाते हैं। भोक्ता के साथ जो द्रष्टा की उपस्थिति है, वह एक अजीब आतंक पैदा करता है। परन्तु 'वह' में, भगवान सिंह, सामाजिकता के समानान्तर मात्र व्यक्तिगत

---

1. अप्रस्तुत–अलोक गुप्त
2. 'होता यह है, उसे और कोई पढ़ता है, उसने भी नहीं पढ़ा तो कोई और पढ़ता है, उसे कोई जरूर है'–'कविताएँ–कविता के बाहर'–श्याम परमार

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अंतरावलेकन की दशा में नहीं है, जैसे कि श्रीकान्त वर्मा हैं, भगवान सिंह का 'वह' विद्रोह का अमूर्त अहसास है–

'वह मर जाएगा, मैं सोचता हूँ मर जाएगा
इस तरह चट्टानों में सूराख बनाते
गर्म धाराओं को मथते, वह ज़रूर मर जाएगा।
वह हवा और बालू में फर्क नहीं करता
और भूख से चबाने लगता है, अंतड़ियाँ
......मैं सोचता हूँ, अब वह नहीं आएगा......
कि लो–दरवाज़े पर कोई दस्तक दे रहा है
......दिमाग पर......किसी के सर्द बूटों का
वज़न पड़ रहा है
क्या कोई मेरे खून को पंप करने लगा है?'[2]

श्रीकान्त वर्मा मात्र, मनोवैज्ञानिक स्तर पर हैं, 'साइकी' की प्रक्रिया का निरीक्षण करते हुए, जो आत्म-अभिज्ञा (सेल्फ अवेयरनैस) कहलाती है परन्तु भगवानसिंह की कविता में, सामाजिक प्रक्रिया संकेतित है। सामाजिक चेतना, व्यक्ति को चैन नहीं लेने देती:

'अक्सर उसने पूछा है, चलोगे मेरे साथ एक यात्रा पर
......ठहरो, मैं चलूँगा मैं अपनी टाई की
नॉट ठीक करने लगा हूँ, कि वह गायब
कुत्ते की आवाज़ हो या टाई की नॉट,
वह इन दोनों से डरता है।'[3]

आत्मकेन्द्रित, अभिजातवर्गीयता पर यह प्रहार, घोषकशैली की कविताओं की चोग से कहीं अधिक जोरदार है। यहाँ सामाजिक चेतना से संयुक्त मगर आरामतलब पैतीबूर्ज्वीवर्ग का व्यक्ति तिलमिला कर रह जाता है:

'अक्सर वह मेरे पाँव किसी तूफान से बाँध कर
अलग हो गया है.........।
उसने समय दिया है,—और पहुँचा हूँ तो
हत्या के आरोप में गिरफ्तार
वह एक रंगा हुआ छुरा, मुझे थमाकर भाग गया है।'[1]

---

1. माया दर्पण, श्रीकान्त वर्मा
2. अप्रस्तुत–भगवान सिंह,
3. अप्रस्तुत–भगवानसिंह,

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जो समकालीन क्रान्तिकारी कविताओं को कविता नहीं मानते, उन्हें भगवानसिंह की 'वह' कविता को कला की कसौटी पर कसकर परखना चाहिए. यहाँ बिम्बों की झड़ी न लगाकर, विद्रोही चेतना के आंतरिक आलोक की अमूर्त्त उपस्थिति को पहचाना गया है। समृद्धअंतर्मुखता, इस प्रकार, व्यक्तिवादी कविताओं की ही बपौती नहीं है, वह सामाजिक चेतना की कविताओं में भी खूब मिलती है। आजकल के त्रिशंकु मध्यवर्गीय बुद्धिजीवी, इस भीतरी भेदिया या क्रान्ति के एजेण्ट से बहुत परेशान हैं। वह इनके पीछे पड़ गया है। फिर भी मध्यवर्गीय ख़ुदगर्ज़ी छोड़ नहीं पाता। वह पूरी तरह पीड़ितों का साथ नहीं देता। इसलिए कवि उसे जुतियाता है :

'त्रिशंकु मध्यवर्गीयों का दर्शन है, जिजीविषा
सिर्फ़ जीवनेच्छा, हमें मत मारो, हमें चूसो
हमें तिल तिल मरने दो
हड्डी का एक टुकड़ा, एक श्वान, एक कुतिया
एक सूअर का बच्चा थूथने रगड़ता है।[2]

चन्द्रमौलि उपाध्याय सिर्फ़ इच्छा और मूल्य के द्वन्द्व में झूलते हुए मध्यवर्गीयों की भर्त्सना ही नहीं करते, वे पूरी व्यवसथा के विरुद्ध युद्ध का वर्णन करते हैं। युद्ध की मानसिकता बनाने में, समकालीन कविता, वीरगाथाकालीन वीरता और आन की शान समझने की वीर-प्रवृत्ति की एक झाँकी देती है। यहाँ लगता है, युद्ध के पूर्व मंगलाचरण हो रहा है, यह प्रस्थानबेला की कविता है :

'कोटि कोटि प्रेतात्माओं का शब्दहीन मुख वादन
आ शकुनदेही आ
चोंच से उगल दे अंगार
हमें अग्निमुख कर दे,
कि हम इस बरगद को झुलस दें
......हमें दो अमृतकलश
हमें सिर्फ़ अग्निमुख कर दो
हमें सिर्फ़ विषकुम्भ कर दो
हम नाग, हमारा नागों को देश।[3]

भगवानसिंह और चन्द्रमौलि उपाध्याय की रचनाओं में 'गुरिल्लास्प्रिट' है। यहां वर्गचेतना, कवि को वर्गशत्रु और उसके समर्थकों के वध की कल्पनाओं की ओर ले जाती

1. अप्रस्तुत–भगवानसिंह,
2. अंप्रस्तुत–चन्द्रमौलि उपाध्याय
3. वही, 'युद्धश्रेयस' काव्य से उद्धृत

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

है। चन्द्रमोलि की 'शिनाख्त' कविता में, एक क्लर्क को रेस्त्रां में कोई कटा हुआ सिर न मिलने पर अफ़सोस होता है:

'मेरी कोई शिनाख्त नहीं है,
फिर भी मैं आफिस से भाग खड़ा होता हूँ
किसी रेस्त्रां में, ऐसा कोई कटा हुआ सिर नहीं
दिखता, जिस पर समय की फटी आँखों के साथ
किसी युगपुरुष की कटार का निशान भी हो।'[1]

विगत इतिहास को चन्द्रमौलि एक कहानी के रूप में नहीं, युद्ध की शक्ति के रूप में देखते हैं। जब वर्गयुद्ध छिड़ता है, किसी भी रूप में, तब इतिहास का विकराल मगर अन्त में जनकल्याणक व्यक्तित्व सामने आता है:

'पाँवों के नीचे, तमाम नरकंकालों को ढोती
हुई, बहती है, एक भूमिगत नदी
जो निर्जन अंधकार की तरह अट्टहास करती है
कड़कड़ा कर चबाती है हड्डियाँ, पौरुष और मेधा
अतृप्त महाकाली
जिसने रक्तहीन पिण्डों को कभी स्वीकार नहीं किया।'[2]

पुस्तकालय

यहाँ वीरगाथाकाल का समकालीन संस्करण है। वीरगाथाकाल में, व्यापक सामाजिक दृष्टि का अभाव था पर आज के वीरकाव्य में, पूर्ण सामाजिक परिवर्तन की चाह है। 'युद्धश्रेयस' इसी प्रकार का काव्य है।

नीलमसिंह जैसी कवयित्रियाँ अब मुहब्बत और इश्क की सिहरनों-सिसकनों को छोड़कर सामाजिक स्थितियों में नारी की भूमिका पर सोच रहीं हैं। वे मिथ्या गर्व में नारी को बख्शती नहीं है, वे उसे झकझोर कर, अब तक किए का नतीजा बता रही है:

'......मैं अपनी क़त्ल देह तैयार करती हूँ कूदकर
रथ के घोड़ों को नींद के लिए—मैं हैरान नहीं हूँ
एक क्रोध, एक शोध, एक बोध को पचाने के लिए
तमाम लड़कियाँ यही करती हैं, मेरे देश की
वग़ैर किसी शंका के—हर वर्ष केंचुए निकालती है
अपने कछुओं और केंचुओं को सिखाती हैं
बिलों में शिकार पकड़ना।'[3]

जनक्रान्ति की आवश्यकता को तरह-तरह से कविगण कह रहे हैं। नीलम श्रीवास्तव यह तर्क देते हैं कि अपने देश की हालत एक पुराने मकान जैसी है, जिसकी क़ैद हवा

1. अप्रस्तुत 'युद्धश्रेयस' काव्य से उद्धृत
2. वही
3. अप्रस्तुत—नीलमसिंह

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ज़हरीली हो गई है। शताब्दियों से इस सीलन-घुटन को हम पी रहे हैं। ज़हर से भरे लोगों के बीच सुख असम्भव है। ज़हर का मूल निदान ही करना होगा :

'हमारी खाल के साथ
फास्फोरस के पिण्ड सिल दिए गए हैं
क्या जानें किस समय कसमसाएगा सूखा मौसम
कि भभक कर जल उठेंगे......
चिन्दी होकर बिखर जाएगा......नाड़ी संस्थान
जैसे भीमकाय पहाड़ डायनामाइट से उड़ जाता है।'[1]

राजकुमार सैनी, चंचल चौहान, महेन्द्र भटनागर की सपाट बयान कविताओं का भी संदेश यही है।[2] डॉ. महेन्द्रभटनागर भद्रोपदेशों और सरल कथनों में भी बात वही कहते हैं यों उनकी बात में श्रोताओं-पाठकों को वशीकृत करने की शक्ति नहीं जान पड़ती पर यह कवि की कमज़ोरी है, बात की नहीं। बात की प्रासंगिकता से कहीं-कहीं कविता भी खिंची चली आती है। भागीरथ भार्गव के 'हथेलियों में ब्रह्माण्ड' की कविताओं में भी यही प्रवृत्ति है। 'कुछ होने जा रहा है' का अहसास यहाँ भी है, यों यहाँ भी बात को चकमक बनाने की ओर कवि का ध्यान नहीं जाता। यहाँ भी प्रासंगिक सत्यों के वक्तव्यों में कविता जब तब आकर कुछ जान डाल जाती है।

'निषेध के बाद', 'प्रश्न कौन तोड़ेगा' (श्रीकान्त जोशी) 'क्यों न इनको पंख दूँ' (सुरेन्द्र माथुरः कृष्णदत्त पालीवाल) जैसे संग्रहों और सैंकड़ों लघुपत्रिकाओं में हजारों छपने वाली कविताओं का मंतव्य यही है कि बिना भिड़े यह भानुमती का पिटारा नष्ट नहीं होगा और जब तक भानुमति के पास पिटारा है, कोई न कोई जादू होता रहेगा और लोग समझते रहेंगे कि वही तो किया जा रहा है जो कविगण कह रहे थे।

व्यवस्था रूपी भानुमति की पिटारी पर कचकचाकर टूटती हुई आज की कविता, भानुमती की जादुई संस्थाओं के भ्रष्ट जादू का मरम समझती है :

'जब आकाश को दीमक खा जाएगी
और कविताओं की जगह सिर्फ़ भूसा हाथ आएगा
तब कौन सी औरत अपने स्तन काटकर मृत ईश्वर पर चढ़ाएगी
कौन से मंदिर में कुत्ते और कौन सी संसद मे गधे
भौंक कर या रेंक कर शोक प्रस्ताव पढ़ेंगे,
मैं नहीं जानता
यह सदी जाते जाते कौन सा मुखौटा पहनेगी......यह वेश्या......

1. अप्रस्तुत-नीलमसिंह
2. प्रहार स्याह रात पर-सम्पादक चंचल चौहान

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

......अभी तो सलाखें टूटेंगी एक के बाद एक
बन्द खिड़कियों के पार
घोड़ों की टाँगों के बीच औरत गर्भवती है
मैं नहीं जानता क्या होगा, हर सलाख टूटने के बाद'[1]

अज कविता पाठक के मन में मधुर स्वादों को अलग कर खट्टा, तीखा, चटपटा, किसकिसा, जीमिचलाऊ जुगुप्सक स्वाद पैदा कर रही है। अमधुर रस भी 'रस' कहला सकते हैं, पर आज का कवि परिवेश के उंल्टेपन पर खीझता: सन्निपात में बड़बड़ाता हुआ, पाठक को आनन्दित नहीं करना चाहता क्योंकि पाठक जिस आनन्द या मज़े के लिए, थोड़ी देर के लिए, दिक्कालातीत् ब्रह्मानन्द सहोदर 'रस' या 'कलात्मक अनुभव' के लिए कविता के पास आता है, उस निर्विघ्न काव्यात्मक आस्वाद की जगह कविता बम की तरह अचानक फूट कर पाठक के भीतर विस्फोटों की शृंखला पैदा कर देती है। धूमिल की सार्थक वक्तकबाज़ी हो या भगवान सिंह की अंतर्मन की एय्यारी, सबका उद्देश्य यही है कि कविता पाठक को सहलाए नहीं, उसमें वही प्रक्रिया उत्पन्न कर दे, जो भूगर्भ में सदैव होती रहता है। अवचेतन में भरी सड़ी, दमित इच्छाओं के मध्य ही कंदराओं में, आदमी का साहस और उत्साह छिपा पड़ा है जो प्रतिकूल परिवेश के कारण आदमी के मन की खाइयों में खो सा गया है। इस परिवर्तन की बारूद तक पहुँचने के लिए दमित इच्छा-जगत् के मनोहर कूड़ा कर्कट को, पंक्तियों के हथगोलों से उड़ाता हुआ, समकालीन कवि, पाठक के भीतर कुछ पंक्तियों को, 'टायम बम' की तरह रख देता है, जो समय पर फूटेंगे और कुछ लोगों में तो वे समय से पहले ही फूटकर, 'फट्-फट्' 'फटाक' से आकाश गुंजा रहे हैं।

विष के इंजैक्शन या विस्फोटक उपकरण के रूप में कविता का यह इस्तेमाल, प्रत्येक कवि की सामर्थ्य के अनुसार अलग-अलग मात्रा और गुण वाला है। कोई 'टायम बम' पाठक में चुपचाप रखकर विस्फोट की प्रतीक्षा में है तो कोई कविता की किसी नोंकदार पंक्ति को पाठक के सिर में सिरिंज की तरह भौंक कर, अपने ज़हर के इंजैक्शन दे रहा है। कविता पढ़ते समय यह साफ महसूस होता है कि गाढ़ा पतला यह विष पाठक में जा रहा है धीरे-धीरे और यह विष नसों में पहुँचते ही प्रबुद्ध पाठक कवि की तरह ही मुट्ठियाँ बाँधने लगता है, आक्रोश का फेना फेंकना लगता है। आँखों की पुतलियों में ज़हर उतरते ही, सारा पुराना परिवेश, घृण्य नरक के रूप में दिखाई पड़ने लगता है। अपराधियों और दण्डित सन्तों (जनता) की पहचान तुरन्त होने लगती है।

कई कवि, ज़हर देने की यह धीमी प्रक्रिया न अपनाकर और कविता की पंक्ति को सिरिंज न बनाकर उसे हथियार की तरह इस्तेमाल करते हैं। यहाँ कविता झापड़, घूँसा,

1. चन्द्रकान्त देवताले, 'निषेध' में संकलित कविताएं

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

रामपुरी चाकू, तलवार, बिछुआ, बघनखा, बन्दूक और तोप का ही नहीं, अणुबम का भी काम करने लगती है। पाठक के परमाणुओं में छिपी भयानक अग्नि को, कविता किसी परमाणु को तोड़कर, आंतरिक संरचना में विस्फोट-शृंखला उत्पन्न कर देती है। प्रभाव की यह शृंखलाबद्ध प्रतिक्रिया या 'चेन रियेक्शन' ही आज की कविता का असली प्रभाव है। यदि किसी कविता से यह शृंखलाबद्ध प्रतिक्रिया जग जाती है तो कविता सफल है अथवा वह आतिशबाज़ बच्चों की तरह दुश्मन को अपने पटाखों, बिच्छुओं और चर्खियों से चिढ़ाता है और कभी-कभी घायल भी कर देता है। समकालीन कविता में ऐसे आतिशबाज़ बच्चों किशोरों की भी कमी नहीं है पर उसमें भीतरी सेंध लगाने वालों, सुरंगे बिछाने वालों, और परमाणुओं में प्रकम्पन को भड़का कर, भूगर्भीय विस्फोटक कवियों की भी अच्छी खासी संख्या है।

नीलकण्ठ रुद्र की तरह आज का कवि भाषा को तरह-तरह से घृणा में बदल रहा है। वह इस घृणा में हलक से मुँह तक आते और मुँह से हलक तक जाते ज़हर को दुश्मनों पर थूक रहा है–

'ओठों को निकोटिन की तरह काट रहे हैं शब्द
जिन्हें मैं ज़र्दे की पीक के साथ
संसद के उगालदान में थूक दूँगा।

× × ×

व्यवस्था ने जिन्हें आदमखोरों की गुफाएँ कहकर वर्जित किया
वे ही गुफाएँ हम कवियों का, अनुभव घर बन गईं।'[1]

नयी कविता और नयी कहानी वाली, 'अँधेरे की चीख़' से समकालीन लेखन 'चीथ' तक आ गया है। जंगली जानवर की तरह वह प्रतिपक्षी को चीथता है। यह चीथना और आदमखोरी, सामाजिक चेतना के कारण है, आदिमभूखों के कारण नहीं, संहार की भूख तो चेतना से जन्मी है। नयी कविता के ज़माने में और सप्तमदशक के पूर्वार्ध में भी, सिसिफस की तरह कवि अपने परिश्रम को निरर्थक मानता था। जीवन निरर्थक है क्योंकि मृत्यु अवश्यमभावी है–ज्ञानियों का यह पुराना मत ही, अस्तित्ववाद में जीवन से घृणा जगाने के लिए आया था। यह घृणा, कवि को जन संगठनों के समानान्तर ले जाकर, अन्त में उसे अकेला कर देती थी जबकि आज के कवि के अस्तित्व की हरारत, यथार्थता का बोध और तज्जन्य कोप, सामाजिक अभिप्रायों को समेट कर चलता है। वह अपनी बेचैनी को व्यर्थ नहीं सार्थक मानता है, परिणाम की दृष्टि से, यों वह प्रक्रिया की दीर्घता और कष्टों की मार से इस तरह चिल्ला सकता है गोया वह वही पुराना नयी कविता वाला आदमी है पर वह, वह नहीं है–

1. परेश की कविताएँ–'निषेध' में संकलित।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

'अपने ही भीतर उतर कर अब मैं कर लूँगा
दरवाज़ा बन्द
रोशनदान पर टाँग लूँगा उतार कर चेहरे के नक़्श
शरीर की त्वचा को खिड़कियों पर पर्दों सा खींच दूँगा
अभिव्यक्ति के नाम पर
यदा कदा लूँगा चीख
चीख-जिसको प्रतिदिन दफनाकर चट्टान को फिर से
व्यवस्था में ढलता हूँ
यह मिथ नहीं, मैं हूँ।'[1]

भीतरी द्वन्द्व और तनाव को पुख़्तगी देते हुए भी, विदग्ध वाक्यों की सृष्टि परेश की कविताओं की विशेषता है–

'सुनो, सुरंग के बाहरी दरवाजे पर कोई दुर्घटना
हो गयी है
यही वह सुरक्षित समय है, जब हमें कमरन्द काट
देनी चाहिए
शुक्रिया अदा करना कोई ज़रूरी नहीं,
वे साले मेढ़क थे.........।
अब हम बिना ताप जलेंगे।'[2]

परेश का बाँकपन, उन्हें आतिशबाजों या ऊपरी सपाट बयान बाज़ों से अलग करता है। वर्गचेतन दृष्टि के अभाव में यह बाँकपन अक्सर परेश को, व्यक्ति केन्द्रित छटपटाहट तक सीमित कर देता है, यह उनकी कमज़ोरी है।समकालीन कविताओं में, रघुवीर सहाय की नवीनतम कविताओं का एक अपना अलग रंग है। यहाँ ज़हरीली जनवादी नज़र बुनाई नहीं करती, ढलाई करती है। शब्दों के आकर्षक विन्यासों से बुनाई करने वाली कविता और मन ही मन, सटीक अभिव्यक्तियों की ढलाई करने वाली कविता की रचना प्रक्रिया में अंतर होता है। बुनाई में वयनजीवी कवि, शब्दों की रुई धुनता है, थोड़ी-सी अनुभूति को धुन-धुनकर वह उसे बड़ा करता है। फिर बुनाई के समय शब्दों को अनेक प्रकार से विन्यस्त करके देखता है कि प्रतिरूप या पैटर्न कैसा बनता है। इस वयनजीवी कथनविधि में शब्द अनिवार्य और अपरिहार्य नहीं होते, उनकी जगह दूसरे शब्दों को रखा जा सकता है। लेकिन लौहकार कथनविधि में रचना-प्रक्रिया, मन ही मन तब तक चलती रहती है, जब तक अभिव्यक्ति टकसाल मे ढले हुए सिक्के की तरह, अपूर्व और जनप्रिय

1. परेश की कविताएँ–'निषेध' में संकलित।
2. वही,

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

एक साथ न हो जाए।

रघुवीर सहाय 'पुराने कवि' हैं। उनमें यह लौहकार विधि, बहुत पहले से ही प्रयुक्त होती रही है पर इसकी नवीनतम मुद्रा, उनके ताजे काव्य संग्रह में है।[1] कवि के मन में, वर्तमान, विषम और घुनी हुई व्यवस्था और उसके व्यवस्थापकों एवम् उसके समर्थकों-सेवकों के प्रति इतना गहरा क्रोध है कि वह क्रोध कवि के सम्पूर्ण व्यक्तित्व को एक तेज व्यंग्यास्म में बदल देता है। यह व्यंग्यास्त्र इसलिए प्रभावक है क्योंकि रघुवीर सहाय, सामाजिक वास्तविकता का पैना निरीक्षण करते हैं और उससे नारेबाज़ी का मार्ग न अपनाकर वह प्रतिक्रियावादी, आत्मसंतुष्ट और प्रपंची लोगों की गन्दगी से भरी रूहों को नौच-नौंच कर उनके घिनौनेपन को सामने ले आते हैं।

टकसाली पंक्तियों को ढालने वाली कवि की आत्मा शोर नहीं मचाती। धमनभट्टी फट न जाए, इसके लिए कवि छद्म मनोविनोद की बौछारों से, भीतरी तप्त संयंत्रों को ठण्डा रखता है। ऊपर से दिल्लगी सी करता हुआ कवि भीतर की संतप्त धातुओं को छँटे हुए साँचों मे ढालता है और जब कविता सामने आती है, तब उसके भीतर की जटिल अभियांत्रिकी या तक्षकता की ओर पाठक का ध्यान तक नहीं जानता। उसे लगता है कि गहरी मार वाली कविता सिर्फ वर्ग-घृणा से बन जाती है जबकि सत्य यह है कि लुहार ही जानता है कि अपनी धमनभट्टी के सामने बैठने, अनुभूतियों–निरीक्षणों की धातुओं को उस भट्टी में डालने और फिर नित नए साँचों में उस गरम-मसाले को ढालने की क्रि या में कितना कष्ट होता है।

ढलाई वाली विधि में कविता की भाषा को, असाधारण वैचित्र्य से बचाना पड़ता है, उसे जनभाषा के पास रखना पड़ता है, जनमुहावरे के विभिन्रि उपकरणों, वाक्यों, जुमलों और शब्दों का इस्तेमाल करना पड़ता है। इसमें कविता दुश्मन की निर्दयता, चालाकी और उसके पाजीपन को नंगा करती है, उसके निगूढ़ इरादों को भाँपती है और उसकी नीचताओं को रेखांकित करती है। ढलाई सधे हुए, गहरे कलाकार का काम है–

हा हा हा
तुमने मार डाले लोग
हा हा हा
क्योंकि वे हँसते थे......
......क्योंकि वे सुस्त पड़े थे
तुमने मार डाले लोग
हा हा हा

विस्मयादि बोधक चिन्हों का बिना प्रयोग किए नाटकीयता रहित नाटकीयता का

1. हँसो-हँसो जल्दी हँसो

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रयोग करते हुए ऐसी कविताएँ, प्रतिपक्ष की निर्दयता पर टिप्पणी सी लगती हैं किन्तु क्रूरता के चित्रों की कल्पनाएँ कवि पाठकों पर छोड़ देता है। वह विवरण की परवाह नहीं करता क्योंकि उससे तो पाठक परिचित हैं। यही कारण है, रघुवीर सहाय की कविता सरल लगने पर भी, प्रसंग गर्भत्व से भरी रहती है, पिर भी उसके अर्थ में, अभिप्राय के विषय में अस्पष्टता नहीं होती–

'मुझे पीने दो पहले ऐसी बोली
जिसके दो अर्थ न हों।'

× × ×

आप समझ सकते हैं कि एक मरे हुए आदमी को
मसखरी कितनी पसन्द है।
......सो मोटी गरदनें झुकीं हैं बुद्धि के बोझ से
......मैं सिर्फ उन सौ गंजी चाँदी पर टकटकी बाँधे रहूँगा
अपनी मरी हुई मशीनगन की टकटकी।'[1]

रघुलेर सहाय की कविता की मशीनगन तब तक नहीं मर सकती जब तक व्यवस्था समर्थक बुद्धि-जीवियों की चमकदार खोपड़ी पर उसकी टकटकी लगी रहेगी।

किस व्यक्ति की किस हरकत से किस जीवन विधि से सामान्यजन के हितों पर कहां चोट होती है, रघुवीर इसे हमेशा देखा करते हैं। सुखी आदमी अपने आस-पास घटिया लोगों को जुटाकर, परनिन्दा करते हैं या सफलता के दाव घात बताते हैं, हर बात पर हँसते हैं, उत्साह से अपनी उन्नति की खबर फलाते हैं पर इस सुखी-सफल वर्ग को एक ही पंक्ति से कवि निन्दनीय सिद्ध कर देता है और पाठक के मन में उनका क़द छँट जाता है–

'कैसे उत्साह से अपनी उन्नति की खबर वह बताता है
बोलते बोलते
जैसे कि देश की दरकी हुई धरती पर
कूदता कूदता
उससे कहीं बाहर जान लेकर भागा जाता हो।'

विरोधाभास, व्यंग्यास्त्रधारियों का पुराना साथी है। रघुवीर प्रायः इस विरोधाभास से शत्रु को निर्वसन करके उसे शब्दकशाघातों से तिलमिलाते हैं–

'बेहतर है, जब कोई बात करो तब हँसो
ताकि किसी बात का कोई मतलब न रहे

× × × ×

1. हँसो हँसो जल्दी हँसो–रघुवीर सहाय, 1975

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

 Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

तोड़ना था मुझे, बहुत कुछ इसी वर्ष
पर मैं बना रहा हूँ शीशे के सामने हजामत
× × × ×
मरने की इच्छा समर्थ की इच्छा है
असहाय जीना चाहता है
आओ सब मिलकर
उसे छोड़कर बाकी सब नष्ट करें।
× × × ×
नाम दूरदर्शन है उसका काम किन्तु है दुर्दशन।[1]

रघुवीर सहाय के व्यंग्यास्त्र खूब चलते हैं पर वे शोषित जन के प्रति संवेदना को जाग्रत करते हुए एक करुणा की भी सृष्टि करते हैं। वह इसके लिए आत्म विश्लेषण की प्रणाली अपनाकर, अपने अंतर्विरोधों को भी कहते हैं, अपने वर्ग के टुच्चेपन पर कटाक्ष करते हैं पर यहाँ भी, विरोधविधि से ही पंक्ति को प्रशंरात्मकता देते हैं–

'साहब इसकी माँ गुजर गई है
इसके दो भाई भी मैंने दिए गँवा
......मैं अपने से पूछ रहा हूँ,
मैं यह सुनकर क्या भागा
क्यों एकदम सो गया वह, जो था मुझमें एकदम जागा।'

कविता अपने छँटे और ढले हुए रूप में प्रायः सफल होती है पर तभी, जब वह संक्षिप्त हो। लम्बी कविताओं में रघुवीर सहाय का अखबारीपन उभर आता है, कवि रिपोर्टर में बदल जाता है। ''चेहरा'' कविता में यह बात देखी जा सकती है। यह बढ़िया विषय था और शुरूआत बड़े बाँके ढंग से हुई थी पर आगे कवि पर रिपोर्टर सवार हो जाता है

'चेहरा कितनी विकट चीज़ है
जैसे जैसे उमर गुजरतरी है
वह या तो एक दोस्त होता है या दुश्मन'।

रपटकर्ता जहाँ शिथिल रहता है और कवि प्रबल, वहाँ कवि स्थितियों को इस तरह रखता है कि बिगड़ी हुई व्यवस्था अनावृत हो जाती है। 'गुलाम स्वप्न' में यही विधि है।

रघुवीर सहाय में प्रतिवाद की कविताओं के सिवा जीवन की सामान्य, वर्गातीत स्थितियों को भी अंकित किया गया है पर वहाँ भी, अन्दर की तल्ख़ी उभर आती है। यह तल्ख़ी सामाजिक जागरूकता का परिणाम है, जो रघुवीर का स्थायी भाव है।

१, हँसो हँसो जल्दी हँसो–रघुवीर सहाय, 1975

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

विसंगत परिवेश, कवि संवेदना को व्यर्थताबोध की ओर मोड़ता है पर रवीन्द्रनाथ त्यागी के 'आदिमराग' की कविताओं में अस्तित्ववादकी नक़ल नहीं है। यहाँ सामाजिक चेतना, समकालीन परिदृश्यों को देखते हुए, प्रकृति और परिवेश में कोई सांत्वना, कोई संतोष नहीं पाती, न वह कवि को, तटस्थ होकर सौन्दर्य और इन्द्रियानुभतियों का निस्संग आकलन करने देती है। प्रत्येक कार्य कलाप में कष्ट सा समोया हुआ जान पड़ने लगे तो उदासी का सबब, सामाजिक असंतोष भी हो सकता है और व्यक्तिगत दृष्टि का परिणाम भी। रवीन्द्र त्यागी में सामाजिक असंतोष ही, उनके व्यर्थता के अहसासों का कारण है अतः उनके कवितासंसार, में व्यक्तिगत असंतोष, सामाजिक असंतोष का माध्यम बन जाता है। चूँकि कवि कविताओं में बोध को संवेदना के भीतर छिपाता है अतः उसकी उदासी, व्यक्तिगत मनःस्थिति सी लगती है।

ऊबा हुआ उदास कवि विरोध की अनिवार्य प्रक्रिया से, खूबसूरत नज्ज़ारों को अवधान में खींच लाता है और उनके बीच अपनी ऊब को उकेरता है। विरोधी रंगों की एक साथ उपस्थिति और नकाबपोश टीस, रवीन्द्र त्यागी की रचनाओं को, दूसरों से भिन्न करती हैं। यहाँ दिलचस्प जुमलों की जमात नहीं है, रघुवीर सहाय की तरह टकसाली पंक्तियों की क़तार हैं

झीलों हँसते गुलाब
चाँद फुसलाती लहरें
एक एक दो दो—लौटती चिड़िएँ
डूबते सूरज का देश......
......दफ्तर, ओवर टायम, सिगरेट
गली तक जाती ट्राम
और बीबी के बासी होठों के बीच
किसी पराए देश के युद्ध पर झूठी बहस
पुराने दर्द की तरह दिन फिर उद्वेगा।

त्यागी रवीन्द्र नाथ अलंकृत मुहावरा भी बुनते हैं। यहाँ ढलाई नहीं, बुनाई है। बुनाई में कल्पना अधिक सक्रिय रहती है वह अक्सर वस्तुओं के आकारों को बड़ा और विकराल करती हुई, स्थिति की गंभीरता और ख़तरों की ओर पाठक का ध्यान ले जाती हैं। वयनजीवी विधि के कवियों में मुक्तिबोध, इस विधि की सारी अच्छाइयों-बुराइयों के प्रतीक माने जा सकते हैं। अधिकतर नए कवि वयनजीवीविधि अपनाते हैं अतः उनकी कविता नयी कविता से और नयी कविता, रोमांटिक कविता से भिन्न हुई है। लेकिन इस विधि के स्वेच्छाचारी प्रयोगों से नवीनता और प्रेषणीयता के स्थायी द्वन्द्व में संगति स्थापित नहीं हो पाई अतः नई बुनाई करते समय, जहाँ कवि, आम आदमी की ज़िन्दगी से शब्द या

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जुमले उठाता है, उन्हें नया विन्यास देकर, उन्हें पंक्तियों की दीवालों की 'चुनाई' में प्रयुक्त करता है, वहाँ कविता अपूर्व और प्रेषणीय एक साथ हो जाती है। सप्रमदशक के कवि इसी वजह से अधिक प्रेषणीय हैं क्योंकि बीच-बीच ढलाई भी हैं, कहीं अधिक।

रवीन्द्र का अलंकृत मुहावरा, पुरानी बुनावट की याद दिलाता है–

'सड़कों के फर्श पर
सूखने लगी शाम की शराब
एक भयभीत प्रकाश
अंधेरे में पशु की आँखें
आकाश के थान पर ठहर गए तारों के घोड़े'

'पुराने दिनों के कमल खिलने लगे', जैसे अलंकृत प्रयोगों में जो बात है, वह अन्य अप्रस्तुतों में नहीं हैं क्योंकि बलात्कारी सादृश्य से, कवि की कष्टप्रद उछलकूद ही प्रकट होती है, गंभीर कविकर्म नहीं। "उम्मीदों की हैट में से कब निकलेगा खुशियों का खरगोश" जैसी पंक्तियों में हलकापन ज़ाहिर होता है। हो सकता है, रवीन्द्र त्यागी इस तरह की बनावटों को भारी समझते हों। हमें, 'धोबी के धुले कपड़ों की तरह ताजी बुर्राक जबानी'जैसे प्रयोग अधिक पसन्द हैं।

जिन्दगी की सामान्य स्थितियों को पकड़ना और उनके ज़रिए, सामाजिक जीवन की भयंकरता की ओर इशारे करना रवीन्द्र त्यागी को विशेष प्रिय है–

'कितनी शुभ थीं वे (गाँव की लड़कियाँ)
बिना बात हँसती
सिवाय हँसने के इस तरह
बाकी, सब कुछ उन्हें है अभी सीखना
बादाम का जिस्म
आग का खेत
दूध की हवा।
× × ×
हवाओं में खोई नावें
लाश पहचानते बच्चे
जाल में उलझी आँखें और पेट
लड़ाई को जाते राजपूत की तरह
समुद्र उस दिन कितना बाँका था।[1]

रवीन्द्र त्यागी दुहरी दुहराई हुई जिन्दगी जीते-जिलाते और उसकी संधियों से

1. आदिम राग–रवीन्द्रनाथ त्यागी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

विसंगतियों को देखते हुए उदास हो जाने और उस उदासी को तोड़ने के लिए मन को बहलाने और फिर उदास हो जाने के स्वभाव के कवि हैं। लेकिन उन्हें भी अहसास है कि युद्ध छिड़ गया है और यात्रियों से लकदक जहाज़ डूबेंगे। लौहफेन उगलते समद्रों के परिदृश्य के साथ, समाप्त होता हुआ यह 'आदिम राग' अंत में युद्ध को ही अन्तिम विकल्प या विवशता के रूप में मान लेता है।

बलदेव वंशी के 'दर्शक दीर्घा से' और उनकी अन्य रचनाओं में प्रखर और लावा की तरह फैलते फूटते चलते-फँलागते स्वरों का मजमा है। यहाँ कवि का राजनैतिकबोध स्पष्ट नहीं है मगर व्यवस्था का विध्वंस ज़ोरों पर हैं। यहाँ वर्णन के बीच दिलचस्प जुमलों की बुनाई है और बिम्बों में बात कहने की चटपटी कोशिशें भी हैं। यह घोषित स्वरों में देश-चिन्ता की कविता है। इस देशचिन्ता में, आपबीती तकलीफ़ों और उधेड़बुनों के रंग रेशे भी घुले मिले हैं क्योंकि आज का साधारण व्यक्ति यदि अपना वर्णन कर दे तो वह देश का वर्णन हो जाता है।

प्रतिपक्ष की पोल खोलने वाली कविता में वर्ण्य विषय जाना हुआ होता है अतः कवि की भावना की सच्चाई हमें अधिक प्रभावित करती है। मुक़ाबला करने वाली रचना में प्रतिपक्ष के प्रति निस्संग दृष्टिकोण नहीं होता वहाँ प्रतिकूल ताक़तों के विरुद्ध बाक़ायदा वाग्युद्ध होता है। यह वाग्युद्ध यदि, वास्तविक जीवन में होने वाले युद्ध का साहित्यिक संस्करण है तब साहित्यिक युद्ध और वास्तविक युद्ध में संगति स्थापित हो जाती है। सप्रमदशक–अष्टमदशक का साहित्य, दिन प्रतिदिन उग्र होती हुई और जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में घुसकर गड़बड़ मचाती हुई राजनीति के संघर्ष का समकालीन साथी है। जन आन्दोलन, छात्र आन्दोलन और अन्य सभी प्रकार के आन्दोलनों की प्रतिध्वनियाँ आज के साहित्य में मिलती हैं। 'रचना की राह' तक सीमित बंधु वाग्युद्ध को मात्र एक समानान्तर सृष्टि मानते हैं। रचनात्मक उत्तेजनं कहाँ से मिल रहा है, उसका लक्ष्य क्या है, इस पर बिना सोचे हुए ये रचना के रहबर, प्रतिध्वनि और ध्वनि को एक नहीं दो मानते हैं, उसी तरह, जिस तरह वे समाज में दो संसारों की सत्ता मानते हैं एक उनका समृद्ध संसार और एक दूसरा, पीड़ितों का व्याकुल संसार

'राशन-खातों में बिछी मेरी अहमियत
मेरा सही अता पता है
घोषित अपराधों के हम में दी गई गवाही हूँ मैं
प्रमाणित और अप्रमाणित के बीच का वाक्य
रोज़ मरता है एक संसार सच्चाई के साथ।'[2]

1. आदिम राग–रवीन्द्रनाथ त्यागी
2. दर्शक–दीर्घा से–बलदेव वंशी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रत्येक स्थान से मिट्टी की तरह सरकता हुआ यह निर्दोष व्यक्ति ग़रीब और ज्ञानहीन है। हिन्दी के अधिकतर लेखकों का इस ग़रीब और भोले भारतीय का अपरिचय नहीं है। लेखकों का बहुमत अभी भी, इसी आम आदमी का अंश है, उसके सुख-दुःखों का साथी या गवाह है। अतएव यह कहना कि साठोत्तरी साहित्य का भाव झूठा है, ग़लत है। इन्द्रियों के प्रति सचेत (नीम के फूलों की गंध) होकर, फिर अपने दुःखों और दंशों में उतर जाना और भन्नाते रहना, बलदेव वंशी को, रोमांटिक कवियों से भिन्न करता है–

तितली कंधों पर आ बैठती है
उड़ाने को मन नहीं होती
कैसी विवशता उग आती है पेड़ की जड़ों में
और आश्चर्य यह कि टहनी पर टहनी उग आती है
पर पत्ते पर पत्ता नहीं फटता।

बलदेव वंशी परिवेश की लम्बी तस्वीर 'उपनगर की वापसी' में देते हैं। इस कविता में कवि अक्सर दिलचस्प बुनावटें करता है। यथार्थ की विकटता का अहसास, तस्वीर की विशदता के कारण और बढ़ता है।

अब सोचता हूँ तो लगता है, बलदेव वंशी विकल्पहीन विद्रोह के समर्थक हैं क्योंकि उनकी कविता में असंतोष लक्ष्योन्मुख नहीं है। वह समाजचिंता-देशचिन्ता के कवि हैं, वर्ग-चेतना उनमें नहीं हैं। वर्ग-चेतना के बिना विद्रोह या तो अस्पष्ट रहेगा या उसके पीछे ऐय्यारों की तरह जनविरोधी इरादे छिपे होंगे। वर्ग-चेतना के बिना विद्रोह या तो अस्पष्ट रहेगा या उसके पीछे एय्यारों की तरह जनविरोधी इरादे छिपे होंगे। वर्गचेतना के बिना वर्गचेतन अंतर्राष्ट्रीय जनवादी शक्तियों से सम्बन्ध घनिष्ठ नहीं हो सकता और विश्वभर की सारी, सामाजिक शक्तियाँ मिलकर ही, पूंजीवादी व्यवस्था के नेता देशों के नवसाम्राज्यवादी, एकाधिकारपरक तथा विश्व को अपनी मुट्ठी में करने वाले कुबेर-पति मंडलों की ताक़त और तेवरों को तोड़ सकते हैं। दक्षिणपंथी विद्रोह से साधारण लोगों को कोई लाभ नहीं होता। साधारण, संघर्षग्रस्त व्यक्ति के लिए धर्म विश्वास की वस्तु है, भोजन की वस्तु नहीं। इसलिए आर्थिक आधार पर और फिर क्रमशः सामाजिक आधार पर पनपने वाली एकता, मज़हबी प्रचार से खंडित हो जाती है। दक्षिणपंथी विद्रोह इसीलिए ख़तरनाक है अतः दक्षिणपंथी विद्रोह और वामपंथी विद्रोह में विपरीतता है और इस बिन्दु पर मिलन असंभव है अतः विद्रोह की प्रकृति का आज की कविता से सीधा सम्बन्ध है। बलदेव वंशी के दक्षिणपंथी विद्रोह में विपरीतता है और इस बिन्दु पर मिलन असंभव है अतः विद्रोह की प्रकृति का आज की कविता से सीधा सम्बन्ध हैं। बलदेव वंशी के दाक्षिण्य के साथ-साथ दक्षिणापंथ के आशय और रुझान भी हैं, यह स्मरणीय है।

1. दर्शक–दीर्घा से–बलदेव वंशी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

साम्प्रदायिक लावा, सार्वभौमिक मानव की कल्पना को भूनकर रख देता है और नवसाम्राज्यवाद पुराने साम्राज्यवाद की तरह ही, ऊँच नीच और ग़रीब अमीर के भेदभाव को बरक़रार रखना चाहता है। एकाधिकारी पूंजीवाद, दूसरे के ख़ून पर पल सकता है। वैश्विक स्तर पर नवसाम्राज्यवाद द्वारा पिछड़े देशों में, आर्थिक अनुदान और सहायता के नाम पर भयंकर षड्यंत्र किया गया है। देश के देश इन बाहरी शक्तियों की अर्थनीति के शिकार हो गए हैं और इसलिए विदेशनीति के भी। इसी वजह से, अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर भी, दक्षिणपंथी योरोपीय अमरीकी देश और तृतीय विश्व के देशों में द्वन्द्व की दशा है। इस द्वन्द्व में आपसी एकता के साथ-साथ वामपंथी एकता से ही, तृतीय विश्व से दुश्मनों के पैर उखाड़े जा सकते हैं, दक्षिणपंथी विद्रोही इस काम में बाधक है, जनता को बताना होगा कि ये लोग प्रतिक्रियावादी हैं।

शुद्ध वामपंथी विद्रोह धूमिल की कविताओं में मिलता है। धूमिल के काव्य संसार में विप्लव का आधार और दिशा स्पष्ट है और उसमें पूंजीवादी जनतंत्र के चौथाई शताब्दी के नाटक का खुला बयान है। जनतंत्र की मूल प्रतिज्ञा कि उसके निर्णयों में जनता भाग लेगी, मात्र औपचारक हो गई है और बेचारा जनतंत्र पेशेवर राजनीति करने वालों के हितों की ढाल बन गया है। सिद्धान्त की राजनीति, सत्ता की राजनीति मे बदल गई है और चारों तरफ कुहराम मचा है। जनतांत्रिक संस्थाओं और प्रक्रियाओं के भ्रष्ट हो जाने और आदर्शों के अप्रासंगिक हो जाने से, मूल्यहीनता, आधुनिकता का नाम धारण कर, विशिष्ट और महत्त्वाकांक्षी लोगों की आदत बन गई है। बिना घनप्रहार के इस गिरावट को रोकना संभव नहीं है।

उग्र वामपंथी उभार, राजनीति और साहित्य में इसीलिए आया। नक्सलवाड़ी ने देश में रोमांटिक साहसिकता को प्रभामण्डल दिया और हमें लगा कि देश में पूंजीवादी जनतांत्रिक व्यवस्था असफल हो गई है अतः उसका उच्छेदन ही समकालीनता है। धूमिल, कुमारेन्द्र पारसनाथ सिंह जैसे कवियों में इसी गुरिल्ला-चेतना को अभिव्यक्ति दी गई है। कवियों की इस चित्तवृत्ति के लिए उत्तरदायी समकालीन व्यवस्थापक हैं, कवि नहीं। लेखक, व्यवस्थापकों का विरोधी है, देश का नहीं–

'सहमति, नहीं, यह समकालीन शब्द नहीं है
इसे बालिगों के बीच चालू मत करो
.........विपक्ष में सिर्फ़ कविता है
ख़बरदार, उसने तुम्हारे परिवार को,
नफ़रत के उस मुक़ाम पर ला खड़ा किया है
कि कल तुम्हारा सबसे छोटा लड़का भी
तुम्हारे पड़ौसी का गला, अपनी स्लेट से काट सकता है।'[1]

1. संसद से सड़क तक–'नक्सलबाड़ी' शीर्षक कविता

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

धूमिल की क़विता में, संवेदना और सौन्दर्यबोध के स्तर पर, निराश कवियों से भिन्न प्रकार का इनिद्रयबोध है–

'चिड़ियाँ चहचहा रही थीं
मैंने कहाँ-कांसे की बजती हुई घंटियाँ
खेत की मेंड़ पार करते हुए
मैंने एक बैल की पीठ थपथपाई
सड़क पर जाते आदमी से नाम पूछा
और कहा बधाई।'

यह नवीन, मानववादी-जनवादी संवेदना 'अभिशप्त' और संदेहग्रस्त कवियों से भिन्न है। मात्र वर्जना विरोधी या विरोध को केवल प्रेम सम्बन्धों तक ही सीमित करने वाली चित्त-वृत्ति यहाँ नहीं है। यहाँ व्यवस्था का आमूल विरोध है, नई सामाजिक संरचना की मांग है और शायद इसीलिए धूमिल की कविता की संरचना भी एकदम नवीन, वक्र और सम्पुटित है। उसमें दोष की हद तक पहुँचने वाली वक्रता है जो मंद कवियों की शिथिल पंक्तियों से ऊबी हुई पाठक की तबियत को रह रह कर फड़काती है। यह फड़क अन्य किसी कवि में इतनी नहीं है। धूमिल के एक एक जुमले में ब्यौरों को निचोड़ कर भर दिया गया है–

'मगर मैं जानता हूँ कि मेरे देश का समाजवाद
मालगोदाम में लटकती हुई
उन बाल्टियों की तरह है
जिस पर आग लिखा है
मगर उनमें बालू और पानी भरा है।'

धूमिल की कविता, आत्म संतुष्ट, आत्ममुग्ध घ्ररानों और घुने हुए इन्द्रों के लिए एक उच्चाटक चेतावनी है। इन्द्रासन हिल रहा है और धूमिल अचानक गरजता हुआ ग़ायब हो गया है पर उसकी गूंज कायम है और वह प्रतिध्वनियाँ पैदा कर रही है।

ऋतुराज के 'एक मरणधर्मा और अन्य' की कविताओं में क्रमशः एक सामाजिक कवि का विकास दीखता है। ऋतुराज मूलतः अनुभूतियों के कवि हैं। वे इन्हें अनुचिन्तनात्मक रूप देते हुए रचना करते हैं। यहाँ तक कि सोच में अहसास की तीव्रता मंद होने लगती हैं। कहीं-कहीं उधेड़बुन को चीर कर यथार्थ की गहरी चोट प्रत्यक्षता ला देती है और फिर ऋतुराज, सौन्दर्य बोधात्मक संसार में तैरते-तड़पते हुए अनुचिन्तन में डूब जाते हैं–

'अब मैं जान गया हूँ
मैं खुले मैदान में नहीं हूँ

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वरन् एक गड्ढे में हूँ
......मुझे ऊँचाइयों धोका नहीं दे सकेंगी
वे वास्तव में उभरी हुई हड्डियाँ हैं।

ऋतुराज रूपों-प्रतीकों की रचना में क्रमबद्धता और संकेत की स्पष्टता को बनाए नहीं रख पाते पर अलग-अलग गुच्छों में देखें तो एक कोमल और कल्पनाशील संरचना सम्मुख आती है जिसमें एक अजीब सम्मोहन सा महसूस होता है–

'कमरे के अन्दर रात के
तीसरे पहर एक चटका हुआ तारा होता है
स्वप्नों के काँच के टुकड़ों का
नहीं तो पूरी दीवार एक खिड़की होती
जिसे हथेलियों की छाप से ढँक दिया जाता'

ऋतुराज में जड़ता नहीं है और उनके मस्तिष्क में, कई केन्द्र लगातार स्थितियों, परिदृश्यों और मनुष्य पर सोचते रहते हैं। सोच के साथ संवेदन कवि को दृश्यों के बीच से, स्थिति की ओर ले जाने की प्रेरणा देता है–

'कई बार हम अलकतरे पर चाँदनी को
लुढ़काते हुए शरीर के बाहर ले आये।
......हम अपना विश्वास खोकर अँधेरे में छिप गए हैं'

दृश्यों को टटोलकर, वस्तुस्थिति की यह खोज ऋतुराज का अपना रवैय्या है जो 'मैं आंगिरस' की कविताओं में है। ऋतुराज कविता में अस्तित्व के घेरे को रौंदते हुए, सामूहिक अस्तित्व की ओर आना चाहते हैं।

विपिन कुमार अग्रवाल सपाटबयानी के विरुद्ध अपूर्व अनुभूतियों के कवि हैं। उनकी सपाटबयान सी लगती कविताओं में भी एक सूक्ष्मदर्शिता, सांकेतिकता सी रहती है–

'पैदल ही दस कोस चलकर आया हूँ
पर यह लो, सब दूकानें बन्द हो गईं
वरना मैं न जाने क्या-क्या खरीदता'[1]

× × × ×

फेंकी हुई चकई की डोर सी तनी सड़कें
न जाने कब लिपट जाएँ
अपने दाँव की इन्तज़ारी में खड़े हरे पेड़
बाहें चढ़ा अपने कत्थई हाथों से
बीते बसन्त को दुलारते रह जाएँ
कौन जाने हम तुम, बहुत खुश
कल हँसने में शरमाएँ।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

विपिन मानवीय स्थितियों की ख़ैर खबर लेते हैं, विचारधाओं की नहीं यों उन्हें आशा है कि 'कभी द्वार खुलेगा, कभी मुट्ठी बँधेगी और कभी मरा जिएगा'। विपिन बार-बार आज के संक्रमणकालीन व्यक्ति विशेषकर मध्य वर्गीय व्यक्ति की बेबसी और विसंगतियों को चित्रत करते हैं। उनके मन की स्थिति चित्रों में बोलती हैं–

'तुम बिन बात अपने हाथ हवा में चला रहे हो
तुम अपने चेहरे पर सदा बारह बजा रहे हो
तुम एक पल प्रति मील दौड़ कर भी खड़े हो
तुम नाहक अपने को अब भी आदमी कहने पर अड़े हो।

× × × ×

'स्थिति' जैसी लम्बी कविताओं में विपिन को उतनी सफलता नहीं मिली। अच्छे टुकड़ों के बीच साधारण वाक्यों की भरती, रचना को मंदता दे देती है, जैसे इस तरह के टुकड़ों से–

'मैं जा रहा हूँ, सब कुछ डरावना सा लग रहा है
कालरात अँधियारी सा
नगर के नर-नारी, भयानक जन्तुओं के समान
एक दूसरे को देख रहे हैं।'

मुद्राराक्षस, मानव स्थितियों की विडम्बना के कारणों पर प्रहार करते हैं। वह प्रखर राज़नैतिक चेतना की गरमी में, इतिहास और इतिहास को पीछे हटाने वालों की भर्त्सना करते हैं। यहाँ कविता तर्क और ऐतिहासिक दृष्टि की ज़मीन पर रहती है–

'आपका चेहरा जिरह बख्तर नहीं, दाग है
पाँच हजार बरस सड़ता रहा था
तब कहीं उगा था अनिश्चय
अनिश्चय के बाद कुछ नहीं उगा।
......मध्यमार्ग इतना प्रशस्त है कि पता नहीं किधर जाना है
बायें या दायें इसीलिए ठहरा हुआ दिन जब चुनाव-चिह्न
लेने आया, मेरे बजाय एक घोड़े को ले गया'[1]

मुद्रा राक्षस, वामपंथी निगाह से, विगत और वर्तमान की राजनीति को साफ़-साफ़ शब्दों में कह लेते हैं। परन्तु उनके वक्तव्यों में जो तेजधार और मारामारी होती है, वह कविता में नहीं मिलती। उनकी कविता में, उनके वक्तव्यों से अधिक सधाव है और कहीं-कहीं रोचक रचाव भी जैसे एक परिष्कृत-शिक्षित व्यक्ति अपने प्रबुद्ध मुहावरे में बोल रहा हो। बीच-बीच भदेस के प्रयोग के बावजूद मुद्राराक्षस की राजनैतिक कविता में, प्रतिपक्ष की उतनी पिटाई नहीं होती, जितनी उनके वक्तव्यों में मिलती है। वह निम्न वर्गों के प्रखर

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

समर्थक होने पर भी कविता में, जनशब्दों और जुमलों के नए विन्यास नहीं रचते।

हिन्दी में ज़रखेज़ दिल मगर खर दिमाग़ वालों ने मुद्राराक्षस जैसे प्रखर लेखन को उतना महत्त्व नहीं दिया।

स· ही· वात्स्यायन अज्ञेय विवशता या नियति के आगे पराधीनता महसूस करते हुए लगभग 'रखैल स्वर' अपनाते हैं:

'एक अजनबी आकर मुझे साथ ले जाएगा।
......जिसअजनबी से मेरी बड़ी पुरानी पहचान है
......जो ऐसे में मुझे रखता है।'

अपनी हस्ती को इतना महत्त्व देना, जिसके वह क़ाबिल नहीं, आत्म मुग्धता और छोटे अहंकार का प्रतीक है। अज्ञेय में इसी अहंकार ने, उन्हें ज्यॉपाल सार्त्र की तरह, 'जनात्मा' तथा 'जननियति' का प्रतीक नहीं होने दिया। अज्ञेय हमारी अग्नि का नहीं, आत्ममोह का प्रतीक है जो अहंवाद की ओर ले जाता है। अपनी कमज़ोरी को किसी सच्चे क्षण में, दूसरों की दुर्बलता के माध्यम से वह यों कहते हैं:

'ओ केले के पेड़, क्यों नहीं भगवान ने तुझे रीढ़ दी
कि कभी तो तू भी अपने भी काम आता
चाहे तुझे कोई न भी खाता
तू एक बार तनकर खड़ा तो होता
मेरे लुजलुज भारतवासी'[1]

'जमुहाता विवर' जैसे दुर्लभ बिम्ब भी इस संग्रह में नहीं है यानी अज्ञेय, सुमित्रानंदन पन्त की तरह कला के उतार पर हैं और अपने ह्रास में कुछ कहते जा रहे हैं, इस संग्रह में अज्ञेय का यही ह्रासशील कवि दिखाई पड़ता है।

इस पर भी अज्ञेय जी के घमंड का यह हाल है कि वे विद्रोही कवियों की ग़रीबी का मज़ाक उड़ाते हैं। प्रतिक्रियावादी नज़र आदमी को किस कदर अमानवीय और आत्मसम्मोहित बनाती है, यह यहाँ देखा जा सकता है–

तुम्हारी बीस बरस से आज़ादी को क्या मिला?
उन्नीस नंगे शब्द, अठारह लचर आंदोलन
सत्रह फटीचर कवि?[2]

यह घिनौना-घमण्ड कवि को–जनसागर का आलोड़न नहीं करने देता। अतएव जनमानस भी अज्ञेय की कविता से आलोड़ित नहीं होता। अग्रगामी लेखकों की बिरादरी से कट जाने पर अज्ञेय, पन्त जी की तरह अपने परम्परावादी मूड में ख़ामोशियों की तहों को तलाशने लगते हैं। वस्तुओं के जगत में कल्पना को मुक्त छोड़ते ही, अजीब रहस्य

1. क्योंकि मैं उसे जानता हूँ–अज्ञेय
2. वही

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

से महसूस होने लगते हैं। रहस्यवादियों ने मानवीय प्रेम की उत्कटता को, आत्मा-परमात्मा के प्रेम के नाम पर प्रकट किया। ईश्वर उनके लिए एक जीवित सर्वव्यापक सूक्ष्म अस्तित्व था, जिसे वह प्रेम का विषय बनाते थे। उन्होंने अज्ञेय ब्रह्म को भी अनुराग का आलम्बन बनाया जबकि स.ही.वा. अज्ञेय ज्ञेयजगत् से यायावरी प्रेम करते हैं। उनमें जिज्ञासामूलक धरातल पर रहस्य की टटोल है। मौन रह कर अपने भीतरी स्पन्दनों का आकलन है मगर यह सब बहुत ऊपरी पर्यवेक्षणों तक सीमित है। अज्ञेय की आत्मा न पिपालिका की तरह चलती है न विहंगममार्गी होती है वह यायावर की तरह व्याख्याओं में उलझती चलती है, बीच-बीच खामोशियों के विचित्र से जान पड़ने वाले ख्यालों में घुमक्कड़ी।

अज्ञेय को लगता है कि वह 'आंगन के पार द्वार' में आकर वयस्क कवि हुए हैं। यही भ्रम सुमित्रानन्दन पन्त को, अपनी 'स्वर्णकाव्य' के विषय में हुआ था। आयु के अनुरोध से एक प्राकृतिक नियम के अनुसार अज्ञेय भी उसी रहस्यलोक में स्थानान्तरित हो गए हैं।

अज्ञेय को प्रकृति के रूपों की चित्रकारी और अनुचिन्तनात्मक टिप्पणियों में अधिक कामयाबी मिली है :

झील का निर्जन किनारा
और वह सहसा छाये सन्नाटे का
एक क्षण हमारा।

× × × ×

सूनी सी सांझ एक दबे पांव मेरे कमरे में आयी थी
...रे मन में यह बात आयी थी

× × × ×

सूनी सी साँझ एक, दबे पाँव मेरे कमरे में आयी थी
......तभी मेरे मन में यह बात आयी थी
कि ठीक यह अच्छी हैं, उदास है पर सच्ची है।[1]

अज्ञेय के मन में इस तरह की बातें, खूब पैदा होती रहती हैं मगर 'आँगन के पार द्वार' में अज्ञेय उस रहस्यलोक की ओर भी बढ़े हैं, जिसका भारत के साधक शताब्दियों से अनुसंधान करते रहे हैं। 'रूपों में अज्ञेय और गोचर में अगोचर की टोह, इस देश की महान प्रतिभाओं का धर्म रहा है मगर वहाँ अंतदृष्टियों के चमकदार आलोक और तीव्र भावनाएँ हैं, अज्ञेय में उधर की ओर उन्मुखता भर है। निमग्नता अज्ञेय में कभी नहीं थी, अतः वह अनुचिन्तनों (कन्टैम्पलेशनः रिफ़्लैक्शन) में व्यस्त रहते हैं जो अलग-अलग,

1. आँगन के पार द्वार

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जहाँ तहाँ ध्यानाकर्षक होने पर भी, जीवन के प्रति न कोई समन्वितबोध जगाते हैं, न 'परमबोध या आध्यात्मिक अनुभूतियों में पाठक को तल्लीन कर पाते हैं। दिक्काल का अतिक्रमण करने की चाह और परमतत्व के प्रति अनुचिन्तनात्मक जिज्ञासा तक ही अज्ञेय सीमित हैं, अतः इसे 'रहस्यवाद' भी नहीं कहा जा सकता है। इसे रहस्योन्मुखता कह सकते हैं–

'पर सबसे अधिक मैं वन के सन्नाटे के साथ मौन हूँ
क्योंकि वही मुझे बतलाता है कि मैं कौन हूँ'

यहाँ कवि अपने को पहचानने की जुगाड़ में है, अपनी पहचान भूलने और आत्म के अलगाव को समाप्त कर विराट के साथ एकाकार होते हुए नवीन पहचान का प्रयत्न नहीं हैं, जैसा कि पुराने मर्मी कवियों या रहस्यदर्शियों में मिलता है। अहम् की चेतना और उससे बनाई गई कविता में आंतरिक उच्छलन या बुद्धि को चकित कर देने वाले स्वयं प्रकाश्यज्ञानपरक आभास, नहीं होते। 'रिमझिम बरसै बादरी, भीजै दास कबीर' जैसे रहस्यवादी काव्य में, प्रकृति और द्रष्टा की एकता है जैसे कवि को यह पूर्ण विश्वास है कि वह विराट का अंग है और गरजते बादलों, चलती हवाओं और रिमझिम बूँदों में भीगने का सुख, मात्र बाहरी नहीं हैं, उस सुख में प्रकृति और प्रकृति के पीछे छिपी दिव्य शक्ति व्यक्त हो रही हैं। उस परमसुख के आभास से ही बाहरी सुख इतना आत्म-उन्नायक, इतना तल्लीनकारी और असीमित या अनन्त लगता है। मात्र ऊपरी सुख तो सीमित होने के कारण, एक क्षण बाद ही फीकापन देने लगते हैं।

व्यष्टि और समष्टि की इस एकता में अध्यात्मवादी साधकों ने, मनुष्य को 'समष्टि' से अलग नहीं किया, न आदमी आदमी के बीच, अहंजन्य भेदभाव स्वीकार किया। इसीलिए रहस्यवादियों के बीच ही सामाजिक क्रान्तिकारी कवि सरहपा, गोरख, कबीर, नानक, दादू आदि पैदा हुए। ये मात्र किशोर जिज्ञासा और कुतूहली बालदृष्टि से प्रकृति को नहीं देखते, सारा विश्व ही रहस्यदर्शियों को अपने पिण्ड के भीतर दिखाई पड़ता है अतः वे रोमांटिक सौन्दर्यमुग्धता, कुतूहल, अहंग्रस्तता और अलगाव से परे जाकर, व्यष्टि और समष्टि की परिपूर्ण एकता के अनुभव के कवि हैं। अज्ञेय में, इसके स्थान पर सदाशयता के मूड में उभरी करुणा है। वह बूँद की तरह समुद्र में डूबकर समुद्र नहीं बनते, वह दीप की तरह, दीपकों की कतार में मिलना चाहते हैं। व्यक्तित्व के प्रति इस सचेतनता के कारण, अज्ञेय, महान् रहस्यवादियों की तुलना में बहुत उथले लगते हैं।

अज्ञेय अहंचेतना से, रहस्य के स्तरों पर भी अपना पिण्ड नहीं छुड़ा पाते–

'किरण जब मुझ पर झरी
मैंने कहा, मैं वज्र कठोर हूँ।'

1. आँगन के पार द्वार-अज्ञेय

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इस कविता के अन्त में भी कवि को किरण अनुराग से सिर्फ़ दुलराकर रह जाती है, जड़ता पिघलती नहीं है। काले घोल सी रात में अज्ञेय का 'तू' यानी परमसत्य गले मिलता है पर साफ जान पड़ता है कि यह सब कल्पना का खेल है, पूर्णता का परिपक्व उन्मेष नहीं।

'सन्नाटे की कनबतियाँ' सुनते हुए अज्ञेय उस अदृश्य में समाने की उत्सुकता दिखाते हैं पर वह जानते हैं कि 'इयत्ता की स्फीति' में आदमी प्रेत या रेत हो सकता है, खेत नहीं। खेत बनने के लिए छुद्र अहंकार के ढ़ेलों का फूटना ज़रूरी है पर वे नहीं फूट पाते–

जितनी स्फीति इयत्ता मेरी झलकाती है
उतना ही प्रेत हूँ
जितना रूपाकार-सारमय देख रहा हूँ
रेत हूँ।
फोड़-फोड़ कर जितने को तेरी प्रतिभा
मेरे अनजाने : अनपहचाने, अपने ही मनमाने
अंकुर उपजाती है, बस, उतना ही खेत हूँ

जहाँ इस रहस्योन्मुखता को विचार के आधार पर उचित ठहराने का मौका मिलता है, वहाँ अज्ञेय फिर अपनी असली ज़मीन पर दिखाई पड़ते हैं। 'असाध्य वीणा' में अहंविसर्जन का औचित्य 'सिद्ध' किया गया है अतः यहाँ कविता अपने 'विचार' से प्रभावित करती है। इस कविता में तन्मयता का भी वर्णन है पर यह वर्णन एक बौद्धिक कवि का है, मर्मी कवि का नहीं। कवि शब्द चुनता नहीं, शब्द स्वयं कवि में स्वतः उतरते हैं अतः रहस्यवादी कविता में घुणाक्षर न्याय से स्वतः रचना होती है, सचेत बुनावट या ढलाई नहीं होती। प्रकृति में भी, सौन्दर्य संयोगवश उत्पन्न हो जाता है, स्वतः, प्रकृति पूर्वनिश्चित प्रारूपों के अनुसार सौन्दर्य की रचना नहीं करती।

अज्ञेय 'गढ़िया-जड़िया' कवि हैं। वह सौन्दर्य गढ़ते हैं, शब्द चुन-चुन कर जड़ते हैं मगर फिर भी पुराने रहस्य साधकों की मर्मवेधकता उनके नवरहस्यवादी सृजन में नहीं आ पाती–

'अवतरित हुआ संगीत, स्वयंभू
जिसमें सोता है अखण्ड, ब्रह्मा का मौन
अज्ञेय प्रभामय।' (असाध्य वीणा)

इस विधि से सबकी 'इयत्ता' अलग-अलग ही जगेगी, द्वन्द्वों का विलय नहीं होगा। हाँ, उस अनिर्वच अनुभूति को इस बहुविशेषणी विधि से व्याख्यायित अवश्य किया जा सकता है, उसे पाठकों या श्रोताओं में अंकुराया नहीं जा सकता–

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

'सूना आपने जो, वह मेरा नहीं
न वीणा का था
वह तो सब कुछ की तथता थी
महाशून्य, वह महामान,
अविभाज्य, अनाप्त, अद्रवित, अप्रमेय
जो शब्दहीन, सब में गाता है' (असाध्य वीणा)

मैं क्या अनुभव कर रहा हूँ, यदि इस बात पर निगाह रहे तो पाठक में अनुभूति जगती हैं, व्याख्या से तो बोध जगेगा, अनुभव नहीं। इसीलिए मर्मी कवियों ने आत्मानुभवों को कहा है, कल्पना से रचाव नहीं किया है, न बुद्धि से व्याख्या और विश्लेषण–

हाड़ भये सब किंगरी, नसें भईं सब तांत
रोम-रोम ते धुन उठे, कहीं बिथा केहि भाँत?

तुलसीदास, 'गिरा अनयन, नयन बिनु बानी'–इस एक पंक्ति से उक्त 'तथता' की ओर संकेत करने में जितने सफल होते हैं उतने विशेषणों : व्याख्याओं की भरमार के बावजूद अज्ञेय नहीं। कारण यह है कि रहस्य का मार्ग, अखण्ड विश्वास और अनवरत चित्विलासी साधना का मार्ग है, कल्पना या कौतूहल से रूप रचना हो सकती है रूपातीत तत्व की अनुभूति नहीं हो सकती–

'कबीर यह घर प्रेम का, खाला का घर नाहिं
सीस कटाए, भुइं धरै, सो पैठे यहि माहिं।

यह आकस्मिक नहीं है कि रहस्यवादियों ने या तो संसार का त्याग कर दिया या उसे ठीक करने के लिए शोषण, अत्याचार, भेदभाव, जातिपाँति और अलगाव का डटकर विरोध किया। अज्ञेय साधारण जन के शोषकों-साम्राज्यवादियों और नानारूपधारी आततायियों के विरुद्ध नहीं जा सके न संसार की माया छोड़ सके। उसकी समस्या अपनी श्रेष्ठता की स्थापना करना और पुराने क्रान्तिकारी-रहस्यवादियों की सामाजिक क्रन्ति के रास्ते से लोगों और लेखकों को हटाकर, टटपूँजिए व्यक्तित्वों में मिथ्या गर्व को जमाना है।

यह ग़ौरतलब तथ्य है कि हिन्दी कविता ने इस अज्ञेय-मार्ग को छोड़ कर समकालीन कालावधि में अधिक उत्तरदायित्व का परिचय दिया है। हिन्दी का लेखक कार्लमार्क्स, ज्यॉपाल सात्र जैसे चिंतकों और रचनाकारों की ओर देखता है क्योंकि वे मनुष्य की मूल्यचेतना को, अपनी समग्रता में संतुष्ट करते हैं। कामू, सार्त्र, हर्बर्ट मारकूस, जैसे लेखकः रचनाकार समग्रता में पुराने अंधविश्वासों से आदमी को हटाकर उसे उस विद्रोह में जोतते हैं, जो मनुष्य का एकमात्र गौरव है। पशु विद्रोह नहीं कर पाते अतः वे आदमी की दया पर निर्भर हैं और उसके लिए रातदिन अपना रक्त पिला रहे हैं। मनुष्य, इस पशुनियति

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

को नहीं स्वीकार करता, यही चीज़ उसे जानवरों से भिन्न करती है। चूँकि उसके पास भाषा है, अतः उसका विद्रोह भाषा में व्यक्त होता है। खामोशी, शोषकों के पक्ष में पड़ती है मगर अज्ञेय रहस्यवाद के नाम पर 'मौन सिखा' रहे हैं। इस रहस्य की नींव अंधविश्वास में है, मध्यकालीनता में है, अवैज्ञानिकता में है और द्रष्टव्य यह है कि इस अज्ञेय रहस्योन्मुखता में, मध्यकालीन सिद्धों–औघड़ों-सन्तों की प्रामाणिक अनुभूतियाँ और मानव प्रेम भी नहीं है। 'आँगन का पार द्वार में अज्ञेय की यायावारी का एक मोड़ है, एक पुराना परिप्रेक्ष्य नए शब्दों में।

'अज्ञेय, आँगन के पार द्वार' में पेंशनयाफ्ता बुजुर्गों, गतानुगतिक तत्वों और उन व्यवस्थित व्यक्तियों के कवि होकर रह गए हैं जो विज्ञान की त्वरा से भयभीत हैं, समृद्धि से छके हुए हैं और जिनकी इन्द्रियाँ शब्द, रूप, रस, स्पर्श और गंध के मज़े लूट कर अब इन्द्रियातीत मौन के स्वादों या दिक्कालातीत अनुभूतियों के चषकों की तरफ चल रही हैं। एक कारण यह भी है कि अमेरिका जैसे देशों में समृद्धि की ऊब और तृतीय युद्ध की आशंका के कारण 'नवरहस्यवादी' रुझान बढ़ रहा है और वहाँ भारत के पुराने अध्यात्म की बड़ी चाह है। जैसे, समाज को नए भगवानों का झुण्ड (साईं बाबा, रजनीश, जयगुरुदेव, बाल योगेश्वर आदि) प्रगति और सामाजक बदलाव के मार्ग से हटा रहा है, उसी तरह अज्ञेय, कविता को, विद्रोह और विरोध के रास्ते से छेंक कर, कल्पित दृश्यों और आत्मछलनाओं की तरफ़ ले जाना चाहते हैं। जिन्हें इस 'नवरहस्यवाद' की प्रतिक्रियावादी भूमिका के विषय में संदेह हो, उन्हें 'भगवान' रजनीश की, 'समाजवाद' शीर्षक किताब पढ़ लेनी चाहिए। घृणित पूँजीवाद का इतना बेशर्म समर्थन अबतो पाश्चात्य देशों में भी नहीं मिलेगा। ये 'भगवान' लोग जनज्वर को उतारने के लिए समृद्धवर्ग की मदद कर रहे हैं और जनसाधारण को चमत्कारों से आकर्षित कर, उसे वही सब सिखा रहे हैं, जिसके विरुद्ध विश्वभर में, पुनर्जागरणकाल में विकट संघर्ष हुआ था और मानव बुद्धि धर्म, चर्च और सम्प्रदायवाद से मुक्त हुई थी। रिनैसाँ के उस बुद्धिवाद की कमज़ोरियाँ दिखाकर ये नए पोप, मानवता से वह विवेक छीनकर उसे पुनः अंधकार-युग में ढकेल रहे हैं। जो तांत्रिक साधना, सिद्धों-नाथों के लिए विद्रोह की शस्त्र थी, भेदभाव के विरुद्ध लड़ने के लिए जो रोशनी की तरह थी, उसी तांत्रिकयोग को ये नवीन "भग-वान्" लोग, प्रतिक्रियावादी सेठों और उनकी चमचियों की चाकरी में लगा रहे हैं। 'संभोग से समाधि' का मार्ग विलासियों और बदमाशों के लिए नहीं है क्योंकि वे समाधि के नाम पर मात्र मुक्त संभोग चाहते हैं। 'संभोग से समाधि' का रास्ता कायरों, जनविरोधियों, अंतर्राष्ट्रीय-अपराधियों के देशी एजेण्टों और नवधनकुबेरों के लिए नए 'भगवानों' ने इतना सस्ता बना दिया है कि उच्चवर्गीय विलासिता के प्रति सामान्य व्यक्ति में जो घृणा थी, वह कम होने लगी है। वह भी, संघर्ष से सम्भोग की तरफ चल पड़ता है और बाद में पछताता है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इन नए भगवानों और नवरहस्यवादियों द्वारा स्थापित संस्थाओं में भयंकर प्रतिक्रियावादी वातावरण बन रहा है। अज्ञेय का 'आँगन के पार द्वार' इन नए धार्मिक मौसम को स्थायी बनाने में मददगार है। यह न देखना, रचना को स्थिति से पृथक् करना है। मात्र 'रचना की राह' से देखने वालों को, रचना के पीछे शक्तियों, स्थितियों और इरादों की ख़ैर खबर नहीं होती, वह कृति को सन्दर्भच्युत करके देखता है इसीलिए असामाजिक कृतीक्षाओं की धनकुबेरों के देश में क़द्र होती है।

पुराने रहस्यवादियों ने आत्मानुभूति के बल पर पूरी व्यवस्था को चुनौती दी थी, मगर नए रहस्यवाद में प्रवृत्ति शोषकों को सहलाने की है, उन्हें औचित्य प्रदान करने की है।

डॉ. विनय का 'एक पुरुष और मैं', 'नयी कविता' की तरह 'नए मूल्यों' की खोज है। दरअस्ल यह वर्जनाविरोधी चित्तवृत्ति का फल है मगर कवि पूरी अबोधता के साथ, व्यवस्था-विरोधी शब्दावली का भी इस्तेमाल करता चलता है अतः भ्रम यह होता है, गोया यह कृति विद्रोही कृति है। विद्रोही चेतना यदि कवि के अवधान और अनुभतियों के मरकज़ में होती तो कवि विश्वामित्र जैसे चरित्र का वह पक्ष पकड़ता जिसमें वह प्रचलित व्यवस्था के विरुद्ध समान्तर सृष्टि का उपक्रम करते हैं, नया लोक गढ़ते हैं, ब्राह्मणवादी दर्प और श्रेष्ठता के विरुद्ध लड़ते है। विश्वामित्र के इस 'क्रान्तिकारी' रूप को 'एक पुरुष और में चलता कर दिया गया है और वर्जना-विरोध के लिए कवि जी मेनका–विश्वामित्र के प्रसंग में घूमने लगते हैं।

'एक पुरुष और में, मिथक की विद्रोही संभावनाओं को धता बताकर नारी-नर के शाश्वत द्वन्द्व और संगति पर ध्यान दिया गया है।

विश्वामित्र यहाँ शिव-पार्वती-कार्तिकेय के प्रतीक से प्रेरणा लेते हैं। विश्वामित्र के मुँह से कवि, अपनी व्याख्याएँ क़हलवाता चला जाता है। इन व्याख्यानों में इस युग की सही समझ नहीं हैं, मात्र अमूर्त आज़ादी की भूख है। संयमी विश्वामित्र यहाँ, विनय के प्रवक्ता बना दिए गए हैं–

'सम्मानित नहीं हो रही हैं स्त्रियाँ
अंतर-आवेग से
वे कोमल खोल में बन्द
चिकने शब्दों में बाँध दी गईं हैं'

डॉ. विनय के लिए विश्वामित्र का संघर्ष, वर्चस्व स्थापना के लिए था, जन्म से जातिवाद या वसिष्ठों के ब्राह्मण गर्व को तोड़ने के लिए नहीं था। यह विश्वामित्र का मूल्यांकन नहीं, अवमूंल्यन है–

'एक बार तुम्हारा वर्चस्व मान जाते लोग
तो तुम क्यों उठाते शस्त्र बार-बार?

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

विश्वामित्र में डॉ. विनय अपनी कमज़ोरियों का प्रक्षेपण करते हैं। वह 'व्यवस्था' और 'क्रान्ति' शब्दों का ग़लत प्रयोग करते हैं। विनय की विचारधारा प्रतिक्रियावादी है। क्रान्ति और विद्रोह शब्दों के प्रयोग से सिर्फ खीझ उपजती है

'संघर्ष बहुत साधारण था तुम्हारे लिए
क्रान्ति एक अनुभव......।'

क्रान्ति, सामाजिक उग्र गति होती है, मात्र अनुभव नहीं। विश्वामित्र क्रान्तिकारी नहीं, विद्रोही थे। क्रान्तिकारी व्यक्ति, जनता को व्यवस्थापकों के ज़ुल्म के विरुद्ध खड़ा करता है और उसके पास नवीन सामाजिक रचना का नक्शा होता है। विद्रोही बिना भविष्य के मानचित्र के भी, प्रतिकूलताओं के विरुद्ध लड़ पड़ता है। विनय 'रक्तरंजित क्रान्ति' और 'आंतरिक क्रान्ति' को पर्यायवाची शब्दों की तरह इस्तैमाल करते हैं।

डॉ. विनय इन्द्र के राज्य को 'व्यवस्था' मानते हैं, मगर भारतीय सामंती व्यवस्था उन्हें 'व्यवस्था' नहीं दिखती। विश्वामित्र प्रारम्भ में स्वयं सामंती व्यवस्था या क्षत्रिय दर्प का प्रतीक था पर उसने ब्राह्मण-गर्व को तोड़ा अतः वह क्रान्तिकारी नहीं, विद्रोही था।

मेनका को कवि शोषिता घर्षिता नारी के रूप में पेश करता है। यहाँ नारी की परवशता प्रकट करने में कवि को अधिक सफलता मिली है, क्योंकि यह ज़मीन कवि के लिए परिचित और अभीप्सित है

'उसे लगा जैसे यह शरीर
एक खूबसूरत प्रतिमा
अनेक बार खंडित हुई है
और प्रतीक खण्ड के साथ जुड़ा इतिहास
उसके नामपट्ट को खरौंच कर
गिनती के धब्बे चिपका रहा है।'

मेनका और विश्वामित्र के मिलन और मंथन के स्थल, 'एक पुरुष और' की मिथकीय न्यूनताओं को कुछ दूर कर देते हैं। परवश नारी, यहाँ स्वतंत्र होकर भोग करती है और विश्वामित्रों की दृढ़ता यहाँ द्रवित होती है। पुराने रूप विधान को नया विन्यास देकर डॉ. विनय यहाँ अपनी मुक्त सम्बन्धों की वकालत करने वाली आज़ाद तबियत का परिचय देते हैं और कविता यहाँ शृंगार रस का स्वाद देने लगती है–

'गिर पड़ा कमण्डलु.........मनके बिखर गए
रेतीले रास्ते पर
नदी का जल दौड़कर किनारों से चिपक गया
एक हल्का सा वस्त्र.........पारदर्शक
.........खिसकने लगा।'

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

"संगम करहि तलाव तलाई" वाला पुराना रूपक यहाँ इसलिए कुछ नया लगता है, क्योंकि यहाँ विन्यास में थोड़ी तब्दीली कर दी गई है। यहाँ नदी का जल किनारे से चिपकता है पर यह इशारा तुलसीदास से ही लिया गया है। यहाँ भी कवि 'क्रान्ति' शब्द का मनोरंजक प्रयोग करता है–

'एक क्रान्ति और एक कोने में छिपा विश्वास
क्या एक ही अर्थ नहीं बता पाएँगे, एक साथ ?'

डॉ. विनय ने विश्वामित्र के विद्रोह की प्रचंडता की दुर्गति तो की ही है, 'क्रान्ति' और 'व्यवस्था' शब्दों के निश्चित अर्थों की भी डटकर ऐसी की तैसी कर दी है। एक बचकानी प्रश्नाकुलता से विनय नहीं बच पाए, इसीलिए मैंने इस काव्य को, 'नयी कविता' का कीचड़ कहा था।

'यह सोचना ग़लत है कि जीवन में कुछ
अवैध होता हैं
......सृजन की कोई क्रिया अवैध नहीं होती
......आदमी अपने वक्त से आगे होता हैं
और जो चीज़ वक्त से आगे होता है
उसके लिए कोई नियम नहीं।'

डॉ. विनय की यही असली ज़मीन है अतः यहीं वह खिलते हैं। मिथक को अपने युग की मुख्य चिंताधारा से जोड़ना युगद्रष्टा का काम है। विनय ने इधर कोशिश की है, यही बहुत है। ग़नीमत यह है कि एक पुत्री का पिता होने पर विश्वामित्र अपने को पूर्ण मानता हुआ दिखाया गया है। इस वजह से वर्जनाविरोध, अन्त में सामाजिकता से जुड़ जाता है।

फिर भी 'एक पुरुष और 'को पढ़ लेने के बाद मन में यह उठता है कि वह कौन-सी बात थी जिसके लिए इतना तूमार रचा गया और उस 'क्रान्ति' का क्या हुआ, जिसका बार-बार उल्लेख कर कवि क्रान्तिकारी कवियों में अपना नाम लिखाना चाहता है ?

'एक पुरुष और' युगदृष्टि (विज़न) के अभाव की कृति है। त्रिशंकु के लिए एक नयी स्वर्गलोक रचने वाले विश्वामित्र और राम को शिक्षित कर लंका विनाश कराने वाले विश्वामित्र द्वारा 'क्ऱान्ति' का संदेश दिया जा सकता था।

'एक पुरुष और' की शक्ति मिथक के सही इस्तेमाल में नहीं, उसकी विदग्ध भाषा में है। यहाँ पेड़ पौधे चटखते हैं, आवाज़ें अस्तित्व को मैदानों में बिछाती हैं, प्रश्न चक्राकार घूमते हैं, व्यक्तित्व कमल की पंखुरियों को जीभ से सींता है, पलकों पर गौरैय्या पक्षी बैठते हैं, व्यक्ति पहचान के लिए करवटें बदलते हैं और पराग से भरे जंगलों में चट्टानें अपने को घिस रही हैं।[1]

1. एक पुरुष और –डा. विनय

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भाषा का यह रचाव, क्रमशः इस काव्य में मंद होता जाता है और अंत तक पहुँचते पहुँचते शिथिल हो जाता है। विनय ने इस काव्य में दृश्य विधि अपनाई है। वह अपनी तरफ़ से पात्रों को, वास्तविक जीवन की तरह संवाद या विश्लेषण की स्थिति में नहीं आने देते। कवि, व्याख्या के मूड में, दृश्यों और सामान्यीकृत वाक्यों को पिरोता है। अतएव जहाँ दृश्य अच्छे हैं, मन लगता है पर जहाँ लगातार व्याख्या और स्थितियों का विवरण है, वहाँ पाठक माथा पीटता है।

'एक पुरुष और', 'एक काव्य और' बनते-बनते रह गया पर विनय की यह कोशिश इसलिए सराहनीय है क्योंकि मिथकों और ऐतिहासिक स्थितियों के काव्यात्मक प्रयोग की ओर इस काव्य से एक बार पुनः ध्यान आकर्षित होता है। सौमित्र मोहन ने 'लुकमान अली' में फंतासी का प्रयोग किया था, और अन्य कवियों ने 'सार्थक वक्तव्य' में फंतासी का प्रयोग किया था, और अन्य कवियों ने 'सार्थक वक्तव्य' और सपाट बयानी का रास्ता अपनाया लेकिन वक्तव्य विधि से भी आदमी ऊब जाता है। युग के सम्पूर्ण सत्य को, यथार्थ की केन्द्रीय शक्ति और असंगति को, मिथक द्वारा ही व्यक्त किया जा सकता है। मुक्तिबोध ने 'ब्रह्मराक्षस' जैसे मिथकों का सफल प्रयोग किया था और 'एवीलार्ड' (एबिला) जैसे पात्रों द्वारा, हमारी भूमिका को कलात्मक अभिव्यक्ति दी थी। 'एक पुरुष और' से, समकालीन कविता के सामने एक संभावना बनी है, अन्य कवि लाक्षागृह, दुर्वासा, विश्वामित्र, त्रिपुरदाह, दक्षयज्ञ विध्वंस, राजा पृथु का जन्म और पुराणों में भरे हुए ऐसे अनेक मिथकों से आज की जटिल संवेदानाओं-समस्याओं को झलका सकते है।

मिथक, लोक मानस में बसे हुए हैं। कविता को सम्प्रेषित करने के लिए मिथक सर्वाधिक उपयोगी हैं मगर उनसे आज के सत्य को व्यक्त करते समय पात्रों, परिस्थितियों पर संदेश का आरोपण नहीं होना चाहिए, अन्यथा पात्रों की जगह कवियों के चेहरे फिट हो जाएँगे। 'एक पुरुष और' में विश्वामित्र डॉ. विनय बन गए हैं।

वर्जना–विरोध, डॉ. विनय के 'एक पुरुष और' में जहाँ व्याख्या, दृश्य योजना और सामान्यीकृत निष्कर्षपरक वाक्य संरचना द्वारा व्यक्त हुआ है, वहाँ डा. प्रभा सक्सेना की कविताओं में विधि-निषेध से पीड़ित कविचेतना, दुःख, तड़प, कसक, असहायता, और संकट ग्रस्तता के रूपों में प्रकट होती है।

डॉ. विनय के इधर के नाटकों तथा कविताओं में मिथक का प्रयोग अधिक युक्तियुक्त रूप में हुआ है।

डा. प्रभा सक्सेना की बुनावट में ऊपर से विलक्षण मुहावरा रचने की प्रवृत्ति नहीं है, वहाँ भीतर की घुटन साहसिक भाषा और वीरवाक्यों में रूपायित नहीं होती, बल्कि यहाँ अहसासों को संवेदित भाषा में कहने की प्रवृत्ति है, इसलिए उनमें अहसासों को उकसाने की शक्ति अधिक है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

यहाँ प्रकृति और वातावरण के माध्यम से वेदनानुभूति, एक बिन्दु से दूसरे बिन्दु तक, एक व्यक्ति से दूसरे व्यक्ति तक इतने सहज ढंग से पहुँचती है कि दिक् (दूरी) को यदि ख्यालों से हटा दिया जाए तो लगता है, दो व्यक्तियों में हृदयसंवाद चल रहा है और बीच में समाज खड़ा हुआ दाँत पीस रहा है, धमकियाँ दे रहा है और उन्हें अपने कद्दूकस पर कस रहा है। समाज के कद्दूकस पर किसी कोमल सब्जी की तरह कसे जाने पर जो कचर-करकराहट की आवाज पैदा होती है, वही प्रभा सक्सेना की रचनाओं में सुनाई पड़ती है, गोया किसी का अदृश्य रूप में क़त्ल हो रहा हो। आज की कवयित्रियों की रचनाओं में पुरुष समाज द्वारा निर्मित और संचालित व्यवस्था की क्रूरताओं से उत्पन्न कराह ही नहीं, क्रोध भी है। प्रभा सक्सेना में, समाज द्वारा क़त्ल की जा रही या कारागार में यंत्रणाओं की शिकार नारी की मानसिक-रपट है जैसे नारी की नियति को निश्चित करने का ठेका लेने वाले पुरुष वर्ग को कोई संवेदनशील महिला उलाहना दे रही हो।

यातनाओं का अपनी हड्डियों पर लिखा गया यह शिला लेख पढ़ना और समझ लेना बहुत मुश्किल है। लेखन आत्महुति माँगता है। एक पूरी जिन्दगी विद्रोह की प्रक्रिया में पड़कर बलि पर चढ़ जाती है, यह तथ्य इन कविताओं से बार-बार गूँजता है। इस तथ्य की यह गूँज डा० प्रभा सक्सेना के कहने के सादा तरीकों और सूक्ष्म स्तर पर निर्मम स्पष्टता के साथ प्रगट किए गए आत्मलापों में घबराई हुयी, घूमती सी लगती है। अनुभूति की निविड़ता और सन्दर्भों और संवेदनाओं का द्वन्द्व युद्ध इन कविताओं को अन्य सब कवियित्रियों से भिन्न कर देता है। सन्दर्भ और संवेदना की यह लगातार ऐंचातानी, हार्दिक तनावों और उनके बीच निरन्तर अंकुरित होती हुई इच्छाओं और क्रमशः मजबूर होती हुई संकल्प शक्तियों को उपजाता है, और इन कविताओं में ऐसा लगता है, गोया संकल्प की सफाई हो रही हो, जैसे खेतड़ी के ताम्बे की खानों में, ताँबे का अम्लानीकरण सा होता है।

कच्चा धातुओं की सफ़ाई की प्रक्रिया अत्यन्त दीर्घ और जटिल होती है और कच्ची धातुओं के साथ मिट्टर, पत्थर के मिश्रणों को अलग करने के लिए ताकतवर तापों वाली भट्टियाँ और अन्य संयत्रों की जरूरत होती है। डा० प्रभा सक्सेना की कविताओं में, इसी उक्त प्रक्रिया का अज्ञात प्रयोग जान पड़ता है। साफ धातु या कविता को देखकर उसके बनने में ताप की अधिकता और प्रक्रिया की जटिलता को कौन देखता है, पाठक तो बनी हुई चीज पर टिप्पणी करता है!

असभ्य, की और सामंती मूल्यों से ग्रस्त समाज में, नारी के स्वतंत्र व्यक्तित्व को आधुनिकता के नाम पर सिर्फ़ सहा जाता है। उसे पसन्द नहीं किया जाता और आदर तो खैर दिया ही नहीं जाता। पुरुषों के इस गतानुगातिक नजरिए पर कवयित्री घोषक स्वरों में प्रहार नहीं करती, वह अपनी यातना को, रचना बनाकर जैसे जल्लादों का सामना

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कर रही हो। रचना, यहाँ अस्तित्व की रक्षा की शर्त बन गई है—

'क्या तुम तक मेरी वह आवाज़ पहुँच रही है,
जो अब धमनियों में ही नहीं
दीवारों में भी गूँजने लगी है ।।

× × × ×

मंदिर तो है, प्रतिमाएँ खो गईं
तार, घाट टूटे
मिट्टी पर उभर आए संवीत चिन्ह
देवपात्र बन गए देव,
तुम धूप के फूल बन गए ।

स्थिति तथा गति, दिक् और काल के आरपार जाने वाली अनुभूति प्रभा की कविताओं में सघन बिम्बों की सृष्टि करती हैं, जिनमें कई बिम्ब परस्पर मिश्रित हो जाते हैं तथा स्थितियाँ घुलमिलकर अमूर्त, मगर दुःखद मानसिक संसार में रूपान्तरित हो जाती है—

'अँधेरे में दर्पण दिखाई नहीं देता
पर छायाएँ उसमें ज़रूर ही ग्रहण करती हैं
अपना आकार
और बिम्बों को रौंदती चली जाती हैं
वह संवादहीन क्षण
जहाँ सारे स्वर पहले से अधिक साफ़ सुनाई देने लगते हैं
पदचापें पहले से अधिक मुखर हो उठती हैं
जिसे मैं पकड़ तो नहीं पाती
पर जिसमें लौट आती हैं
समय की दिवंगत आत्मा
गति और स्थिति से परे
जिसमें संचरित होने लगते हैं मेरे ध्रुवबिन्दु
जैसे किसी ने नदी के दोनों सिरों को एक साथ
  सीं दिया हो
और क्रमशः फटने के लिए
उसका शरीर फूल रहा हो
किसी अजगर की तरह ।'

नारी संवेदना, यदि नारी के अपने मुहावरे में व्यक्त हो तो उसकी स्वाभाविकता बढ़ जाती है। सप्रमदशक की कवयित्रियों ने इस तरफ ध्यान नहीं दिया, वे साहसिकता को साहसिक पुरुषों की भाषा में कहती रहीं परन्तु कुछ कवयित्रियों ने बीच-बीच' महिला-

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मुहावरा भी अपनाया है—

'आज फिर मेरे गले में कौर अटके, अश्रु ढलके
बीनते गोबर से गेहूँ कुछ कंकाल प्रकटे
कैसे चलें हम खेत बोने
बन गए स्वयं खाद के गलते नमूने ।

समस्याओं के सर्वमान्य समाधानों को शांकित दृष्टि से देखने वाली यह कवयित्री मनुष्य के व्यक्तिगत धरातलों को, उसकी सारी रचनात्मकता का आधार मानती है । वह इन स्तरों कर रक्षा के लिए विनम्र दृढताओं का भी ज़िक्र करती है पर बड़बोलेपन को नापसन्द करती है—

'आग चाहे जिधर भी मिलें
पिघल जाएँ वहीं
मोम के ऐसे पुतले तो हम नहीं ।'

पर प्रभा की कविता की शक्ति औरत की बेबसी के बयान में हैं, बेबसी, जो काठ को क्रमशः 'कोलने वाली' (छेद करने वाली) बरमी की तरह, दिल को कुतरती रहती है । यह बेबसी, हिन्दुस्तानी आम औरत को इत्मीनान से काटती रहती है । बरमी की इत काट से, चारों ओर बिखरा चूरा तो नज़र आता है पर वह हाथ अदृश्य रहता है, जो उस बरमी को चला रहा है । प्रभा की रचनाओं में इस अदृश्य हत्यारे के हाथ के खिलाफ़ शिकवे हैं—

'धूप के समीप और समीप
उस अन्तराल में
हमारे निकट बहुत कुछ हो रहा होगा उस क्षण
  पर, जिसे हम देख पाए
वह उस अंतराल में बहती गरम हवा थी
और जिसे हम मुट्ठियों में बाँध पाए
वह नाखूनों से कुरेदी गई मिट्टी थी ।'

समकालीन कविता में, आदमी का बहुत शोर हुआ पर 'आम औरत' के भावजगत् की ख़ैर खबर कम ली गई है । समकालीन कविता मुख्यतः मध्यवर्गीय हस्तियों की रपट सी लगती है । उसमें औरतों ने अपनी दुनिया की असलियत कम पेश की है, दर्द और क्रोध अधिक है ।

सर्वहारा वर्ग में अभी रचनाकारों का ध्यान श्रमिकों पर तो जमता है पर मजदूर और मज़बूर नारी पर, वह दूर से ही निगाह जमाता है, उसके मनोविज्ञान को वह प्रस्तुत नहीं करता । हमारे भारतीय समाज में 'आम औरत' पुरुष श्रमिक से भी अधिक पीड़ित है ।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मध्यवर्ग में भी औरत को अभाव और परवशता, दो दो कष्टों का बोझ झेलना पड़ता है। मात्र तरस दिखाने से, कविता समकालीन नहीं हो जाती, कविता में सर्वाधिक शोषित 'आम औरत' का पूरा मानसिक—संसार व्यक्त होना चाहिए। असलियत तो यह है कि अपने समाज में 'खास औरत' को भी बड़ी अड़दब में रहना पड़ता है। यानी ख़ासोआम औरतों की यातना परवशता की दृष्टि से एक ही है पर उसका प्रकार और मात्रा भिन्न हैं।

तुलसीदास को इस परवशता को देख कर आश्चर्य हुआ था, अंततः नारी का जन्म क्यों हुआ—

कत विधि रची नारि जग माँहीं
पराधीन सपनेहुँ सुख नाहीं !

परावलम्बन, पराधीनता, सर्वदा और सर्वत्र संदेहों, शकों की शिकार नारी, आम आदमी या सर्वहारा श्रमिक से भी अधिक शोषित व्यक्ति है। नारी घरेलूदासता और बाहरी दासता, दोनों से पीड़ित है, जबकि सर्वहारा पुरुष, काम काज के बाद घर का बादशाह होता है। पत्नी और बच्चे, उसके नौकर दरवारी, प्रेमपात्र और दास, होते हैं। कवयित्रियाँ इसी सामाजिक ढ़ाँचे को तोड़ने के लिए लिख रही हैं और वे व्यक्तित्व के विकास में पुरुष की प्रभुता के अवरोध को खत्म करना चाहती हैं। अतएव कवयित्रियों की रचनाएँ, साँस्कृतिक क्रान्ति की कविताएँ हैं, जबकि कवियों में मनुष्य की आर्थिक सामाजिक स्वतंत्रता के लिए संघर्ष अधिक मुखर हैं।

इस व्यापक परिप्रेक्ष्य में न देखने पर महिला—कवियों का मानसिक संसार हमें कुंठाग्रस्त लग सकता है और हम उसकी उपेक्षा कर सकते हैं—

'जर्जरित ज़िन्दगी, नमक की हाँड़ी कर तरह

× × × ×

अँधेरे में कौन किसको मसाल थमाता है ?

× × × ×

अब ठंड़ा हो गया है, राख का ढ़ेर
वह जलता हुआ मकान।

× × × ×

बाढ़ में बहते हुए अपने को बचा लेने की कोशिश
मेरी आँखें पहले से अधिक चमकने लगी हैं।

× × × ×

कितना अफ़सोस झलकने लगता है
शवभक्षकों के चेहरे से आज
जब तन कर खड़ी हो गई है लाश।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

× × × ×

कितना मर्मान्तक है अपने हाथों चुनी हुई इमारत की नींव
ढहते हुए देखना
......सामने बने मिट्टी के ढूहों से पता चलता है
शायद आँधी आकर चली गई है।

× × × ×

हर रात पिरामिडो से उठकर कोई ममी जगती है
और मैं उसी की ठिठुरी अँगुलियाँ पकड़े हुए चल रही हूँ।
......चाँद और तारे ढँक गए हैं बादलों में
किसी ने जलते कोयलों पर तवे की ढकनी रख दी है

× × × ×

कड़ियों में लटके घंटे की तरह चुपचाप
झनझनाने के बाद
देखती रही आकाश !

× × × ×

पानी से भरी प्याली हूँ
डंडे से एक जल्लाद जलतरंग बजाता है
और फिर प्याली को रीता कर,
कोने में फेंक देता है।

× × × ×

पित्ती की तरह उभर आई इच्छाएँ......
खुजलाहट बढ़ रही है
मैं पोरों को देखती हूँ
नाखून ही नहीं है
अदृश्य कोढ़ अपना काम कर गया है।

× × × ×

लो देखो, बादलों पर मेरा क़साई
बिजली की छुरी को तेज़ कर रहा है
अचरज है धड़ पर मेरा सिर साबित है
छिन्नमस्ता हूँ परन्तु
रक्त गले से गल-गल करता हुआ उछल रहा है
और मैं उसे पी रही हूँ।

डा० प्रभा सक्सेना के बिम्बों में एक दूसरे में परिवर्तित होते हुए (सिनैस्थैटिक) बिम्ब

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अधिक है। मगर यहाँ बिम्बों से अधिक अनुभूति की प्रामाणिकता अधिक प्रभावित करती है। जब यह अनुभूति आत्मपीड़न के स्थान पर विरोधी शक्तियों को पीड़ित करने वाली बनेगी, तभी पूर्णतः विद्रोह कवयित्री का जन्म होगा। तब, छिन्नमस्ताओं का वह काव्य समस्त नारी जाति को लुप्त गौरव देगा और आततायी पुरुष-प्रभुत्व के विरुद्ध नारी संगठित होकर लड़ेगी। अभी तो कविता आत्मपीड़ा और उपालम्भ तक सीमित रह जाती है। उसमें नारी की घुटन के प्रतिबिम्ब हैं अतः इस कविता को दुःख-दर्द की कविता कहा जा सकता है, शक्ति की कविता नहीं। शक्ति की कविता में नारी का ललिता या त्रिपुरसुन्दरी रूप, छिन्नमस्ता सा भयंकर हो जाता है। प्रभा सक्सेना की कविता में छिन्नमस्ता होने का अभास तो है पर अभी उसमें अंधकार या रात के रूप अधिक हैं, इसलिए इस कविता में धूमावती का व्यक्तित्व अधिक है, छिन्नमस्ता का कम। छिन्नमस्ता-कविता में बिम्ब उदास नहीं, भयंकर होते हैं और कविता तलवार की तरह चलती है।

नारी, छिन्नमस्ता बने बिना स्वतंत्र नहीं हो सकती और छिन्नमस्ता ससैन्य लड़ती है, वह अपना सिर काटकर हाथ में ले लेती है और कबंध लड़ता है। नारी शक्ति का यह उत्थान शायद इक्कीसवीं शताब्दी में होगा, पर उसकी मानसिक तैयारी शुरू हो गई है। समकालीन नारी लेखन ऐसा ही है।

सम्पूर्ण राजनैतिक-सामाजिक परिवर्तन की प्रक्रिया में पग-पग पर अवरोध देखकर समकालीन कविता का हरावल दस्ता छापामार-चेतना का प्रसारण कर रहा है। इसे ही मैं "गुरिल्ला-चेतना" कहता आ रहा हूँ। यह सशस्त्र युद्ध की चेतना और संवेदना की कविता है। इसमें केवल सैनिक शब्दावली का ही प्रयोग नहीं होता बल्कि कवि की मनोदशा एक पक्षधर सैनिक की हो जाती है और मानसिक-शाब्दिक मोर्चे पर लेखक शत्रु की पहचान करता है, पाठक को अपनी तरफदारी करने के लिए पटाता है और प्रतिपक्ष पर ख़ूनी हमले के लिए जनता को तैयार करता है।

गुरिल्ला-चेतना एक लेखक की सनक या रोमांचकता नहीं है, इसके पीछे वर्ग-समाज के प्रारम्भ से ही, व्यवस्था के विरुद्ध लड़ाकुओं का संघर्ष है। यह संघर्ष कोई एक प्रकार का नहीं है, कहीं जातिवाद का विरोध है, कहीं आर्थिक शोषण का, कहीं शासकवर्ग की विलासिता का, कहीं पीड़ितों की निराशाओं और आक्रोश का। विद्रोह की इस पूरी परम्परा का वह धरातल है, जिस पर खड़ा होकर आज का, क्रान्तिकारी चेतना से सम्पन्न कवि लड़ रहा है। इस 'सशस्त्र-दृष्टि' (आर्म्ड-विज़न) का विरोध केवल दक्षिणपंथी ही नहीं करते, इसका विरोध प्रत्येक प्रकार के शान्तिवादी, गाँधीवादी और दक्षिणपंथी-साम्यवादी भी करते हैं। अतः गुरिल्ला-चेतना, हिन्दी प्रदेश में कमज़ोर है और छुटपुट रूप में व्यक्त हो रही है परन्तु क्रमशः लोग यह महसूस करते जा रहे हैं कि चुनाव-पद्धति से एक मालिक को हटाकर, दूसरे मालिक को चुना जा सकता है पर मालिकों को, चुनाव पद्धति से समाप्त

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

नहीं किया जा सकता, उसके लिए वर्ग चेतन सशस्त्र युद्ध करना पड़ेगा।

गुरिल्ला-चेतना, वामपंथी राजनीति का उग्रतम और अग्रगामी बोध है, जिसका आधार मानव-प्रेम है। बीजभाव करुणा है और यह जन करुणा की भावना अपनी परिणति में क्रोध और युद्धोत्साह की पीड़ितों के मन में फसल उगाती है। यहाँ प्रत्येक स्तर पर, मानव विरोधी व्यवहार और प्रक्रियाओं का विरोध होता है। यह चेतना पुराने कवियों में भी थी, इसलिए वे ऐसे मनोराज्यों (रामराज्य) की कल्पना करते आए हैं, जिनमें मनुष्य मनुष्य को सता न सके, उसे साधन न बना सके। मनुष्य-मनुष्य के लिए साधन नहीं है, साध्य है।

इस बिन्दु को स्पष्ट करने के लिए मैं यहाँ सरहपा और कबीर को नहीं, शेक्सपियर को उदधृत करना चाहूँगा क्योंकि कविता के प्रबुद्ध प्रेमी भी भ्रम में पड़कर अपने दिमाग़ में मानवतावादी कालजयी कवियों को, क्रान्तिकारी कवियों (कबीर, मायकोवस्की, ब्रेख्त, पाब्लो नरूदा आदि) की तुलना में व्यवस्था का अंधसमर्थक मानने लगते हैं, जैसे कि हिन्दी में तुलसीदास के साथ हुआ है। दरअसल तुलसी, शेक्सपियर जैसे कवियों में, इनकी ऐतिहासिक सीमाओं के बावजूद, मूलचेतना मानवतावादी ही है, जो जगह-जगह प्रकट होती है।

'जूलियस सीज़र' नाटक में शेक्सपियर शासकों और गरीब श्रमिकों की बातचीत का एक नमूना पेश करता है। यहाँ मनोविनोद की पृष्ठभूमि में वर्गचेतना छिपी हुई है और ऐसा लगता है, धूमिल के 'मोचीराम' का यह रोमन चर्मकार प्रपितामह हो जो मालिकों को बातचीत में रगड़ रहा है :

Marullus—	What trade are thou?
First citizen—	Why, Sir, a carpenter
Marullus—	You, sir, what trade are you ?
Second citizen:—	Truely sir, …I am but a cobbler.
Marullus—	But what trade are thou?
Second—	Sir, a mender of bad soles.
Marullus—	What trade thou knawe?
Second:—	Sir, I can mend you !
Marullus:—	What meanes thou by that ? Ment me, thou Savey fellow!
Second:—	Why sir, Cobble you…I am great Surgoen. To old shoes
Marullus:—	Why doest thou lead these men about the streets'
citizen:—	Truely sir to wear out their shoes?

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अभिजातवर्गीय रोमन लोगों के साथ चमार का यह मज़ाक उसकी वर्ग चेतना का परिचायक है। चमार कहता है कि आप मुझ पर बिगड़ें नहीं। यदि आप बिगड़ेंगें तो मैं आपकी मरम्मत कर दूँगा। उधर धूमिल का मोचीराम बाबू लोगों से कहता है कि आदमी एक जूते का जोड़ा है जो मेरे सामने मरम्मत के लिए खड़ा है।

गुरिल्ला—चेतना से सम्पन्न कवि अमूर्त रूप में उन सभी मनुष्यों से प्रेम करता है, जो दूर-दूर देशों में रहते हैं और मूर्त रूप में वह अपने परिवेश में शोषितों के लिए अपनी शक्ति और साधनों के अनुरूप लड़ता है। यह लड़ाई का ही एक हिस्सा है कि कवि ऐसी कविता लिखे, जिसे पढ़कर उन व्यवस्थाओं और व्यवहारों के विरुद्ध आग भड़के, जो आदमी को चीज़ों की तरह उच्चवर्गों की सुख-सुविधा के लिए इस्तेमाल करते हैं। गुरिल्ला इन जनविरोधी प्रणालियों का शत्रु होता है।

गुरिल्ला कवि, निराशा के भयंकर अंधकार में भी नहीं घबराता, वह मनुष्य की अंतर्निहित उस अग्नि' पर विश्वास करता है, जिसने दास प्रथा को तोड़कर सामंती त्यवस्था बनाई और सामंती व्यवस्था के अन्तर्विरोध दिखाकर पूँजीवाद की स्थापना की और अब पूँजीवाद के विरुद्ध वह सारी शक्तियाँ लगा कर लड़ रहा है। शोषक व्यवस्था और उसकी संचालक सत्ता का साथ देने वालों को गुरिल्ला—लेखक शत्रु मानता है। यही कारण है कि अग्रगामी हिन्दी साहित्य में सत्तधीशों, सेठों और उनके चाटुकार सेवक लेखकों पर वह शाब्दिक छापामारी करता है। वह साधारण शोषित जनता में प्रेम करता है, उसे जगाता है और बुद्धिमान लोगों को भी उधर ही खींचता है जो जनोन्मुख न होकर, राज्योन्मुख होते हैं, उन दानिशमन्दों (इलीट) को भी वह अपना कोपभाजन बनाते हैं। इसी वजह से उन लेखकों का हिन्दी में आदर अधिक है जो निर्धन, निर्द्वन्द्व और जनसंग्रामोन्मुख है, कबीर, कुम्भनदास, निराला, मुक्तिबोध और धूमिल में इस गुरिल्ला—चेतना को साफ़ देखा जा सकता है :

संतन कौं कहा सीकरी सौं काम
आवत जात पनहिंयां टूटें, बिसर गयो हरिनाम
जिनको मुख देखत दुख उपजत, तिनकौं करिबैं—परी सलाम।

मैथिलीशरण, दिनकर, बच्चन, सुमन शिवमंगल सिंह, जैसे लेखकों ने सरकार का कभी उग्र विरोध नहीं किया। अतएव हिन्दी के आम लेखक के मन में इनका वह आदर नहीं है, जो राहुल, रामविलास शर्मा, शिवदान सिंह चौहान, नागार्जुन, निराला, फणीश्वरनाथ रेणु का है। जो बैठा खा रहा है, मुटा रहा है, गुरिल्ला उसकी चर्बी नौंचने की जुगाड़ में रहता है। यदि वह और कुछ नहीं कर पाता तो जनता में, प्रचार के साधनों और अपने पक्षधरों द्वारा सत्ता और सेठ के चाकर लेखक जो अपनी मिथ्या छवि बना लेते हैं, उन्हें गुरिल्ला लेखक तोड़ता है:

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

बंधु ये वही हैं इन्हें हम सब जानते हैं
ये वहीं रहते हैं, इसी मणि महल में......
......इनके पदचिह्न मिट्टी पर छाप नहीं छोड़ते
और इनका शरीर कितना ठस हो चुका है
जीभ पर लगे खूनी चकत्ते उनकी पहचान कराते हैं
......क्यों इस मणिमहल की छवि धरती पर पड़ते ही
कुम्हला जाती है धूप और उग आते हैं
ठूह हर जगह
......ये वहीं हैं, इन्हें हम जानते हैं
इन्हें सामने देखते ही हमारे कंधों के ठूँठ कसमसाने लगते हैं
और मणिमहल देखते ही प्रकम्पन होने लगता है ॥[1]

बड़े-बड़े प्रतिष्ठानों और संस्थाओं के वेतनभोगी व्यक्ति जो या तो आत्ममुग्ध, आत्मसंतुष्ट हैं या जनवादी शक्तियों का गोपनीय विरोध करते हैं या वे अधिकारी, जो अधिकार मद मग्न हैं और 'भीड़' से अलगाव बरतते हैं, उससे घृणा करते हैं—इस प्रकार के सभी सफेदपोशों, नए रईसों, तस्करों, भष्टराजनेताओं और दुष्ट दादाओं पर आज की कविता कोड़े मार रही है। या तो सफेदपोश दानिशमन्द, पीड़ितों की तरफदारी करें अन्यथा उनका विमोचन ज़रूरी है क्योंकि साधारण व्यक्ति भ्रमवश उन्हें अपनी तरफ समझता है जबकि वे वस्तुतः सिर्फ़ अपने कबीले के सरदार या प्रतिनिधि हैं। इनमें अनेक लोग ग़रीबों से आते हैं पर ये ग़रीब गुरबा के अभिभावक नहीं, यथास्थितिशील सरकारों और संस्थाओं के या पीठस्थविरों के पिछलग्गू बन कर सुख से सोते हैं और शाब्दिक धरातल पर हमेशा जनता के पक्ष में बोलते हैं, गोया जनता यह न जानती हो कि वे कौन हैं और क्या कर रहे हैं, क्या कह रहे हैं!

जनमत का निर्मायक सफेदपोश वर्ग दुश्मन पर जनता को झपटने नहीं देता क्योंकि यही वर्ग जनहित के विरूद्ध अपनी तालीम के तिलिस्म से ऐसी हवा बनाता है कि आम आदमी यह मानने लगता है कि हो सकता है वर्तमान व्यवस्था और सत्ता हमारे दुखों को दूर कर दे या वह हमें उबार ले, हमारा उद्धार कर दें। जनता इस भ्रम में ग़लत जननायकों को अपना पैग़म्बर मान लेती है और जन का शोषण जारी रहता है।

इस नए बोध से ही, समकालीन कविता हर उस आदमी पर चोट करती है, जो व्यवस्था में है और समर्थक है। व्यवस्था में रह कर भी उसकी जड़ें काटी जा सकती हैं। व्यवस्था में रहने वालों को उनके अंतर्विरोधों और दुष्ट रहस्यों की जानकारी रहती है। वे अपने लेखन या अन्य विधियों से जनसंघर्ष की मदद कर सकते हैं...... जनमत बना सकते हैं

1 अन्तराल, गोरधनसिंह शेखावत तथा गोपाल जैन द्वारा सम्पादित, में मंजुल उपाध्याय की कविता

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पर जो शब्द से भी नहीं लड़ना चाहते, गुरिल्ला साहित्यकार, उनको एक्सपोज़ करना ज़रूरी मानता है और उनके मुखौटे उतार कर, उन्हें शर्मिन्दा कर देता है। वे बेचारे लाज से ही मर या मुरझा जाते हैं। सप्तम दशक के साहित्य में ऐसा ही जनवादी चीरहरण है, जिसकी प्रक्रिया में एक असंगति के रूप में लेखकों का आपसी वैमनस्य और ईर्ष्याजिन्य विषैला विग्रह भी शामिल है। क्रान्ति की व्यापक जंग में, युद्धकर्ताओं के आपसी विग्रहों को कलह ही मानना होगा। कलह क्रान्ति में गड़बड़ी फैलाता है और संगठित शक्ति का विखंडन करता है पर लेखक पर जनदबाव इतना अधिक है कि वह सामन्तीयुगीन कलहवादी परम्परा के अवशिष्ट संस्कारों के कारण आपस में लड़ता हुआ भी, जनान्दोलनों के कार्यों और कार्यक्रमों में घपला नहीं करता। वह आपस में झगड़ता हुआ भी, व्यवस्था के विरुद्ध अवश्य अपना काम करता रहता है, इसीलिए कलह और क्रान्ति का कार्य दोनों जारी रहते हैं। कभी कलह से जनकार्य के लिए उत्तेजना भी मिलती है। मसलन् प्रगतिशीलों और पक्षधरों की आपसी अनबन में कलहकारी तत्व स्पर्धावश, क्रन्ति के लिए अधिक सक्रियता दिखाते हैं और वे जनता के सामने यह कहते हैं कि वे दूसरों से अधिक सच्चे और संघर्षप्रिय हैं। यह टंटा उसी तरह का है, जिस तरह घर में बच्चे भिड़ जाते हैं और माता-पिता के सामने उनमें एक दूसरे से श्रेष्ठता प्रमाणित करने की होड़ लग जाती है।

इस द्वन्द्वात्मक प्रक्रिया में ध्यान सिर्फ़ इस बिन्दु पर रहना चाहिए कि ऐसी कौन-सी गतिविधियाँ कार्यक्रम या लेखन—प्रकाशन है—जिससे जनमनोवृत्ति सही दिशा में प्रभावित हुई, सच्ची बात फैली, फैलती गई। कलहकारी बिगड़ेदिल विकट स्वभावधारी और तीक्ष्णमनोगति वाले लेखक और बुद्धिजीवी आपस में वन्यपशुओं की तरह पंजे मारते अैर मुंह नोचते हुए भी, अपने सृजन और आन्दोलन में जनसाधारण की तरफ डट कर लड़ते हैं और जेलयात्राएं भी करते हैं, पुलित की मार भी सहते हैं या सदा पुलित की निगाह में रहते हैं। इस तरह, कलह और क्रान्ति का सम्बन्ध द्वन्द्वात्मक है। लेखकों के अहंकार, ईर्ष्या और एक दूसरे से की गई आशाएं, व्यवहार, बर्ताव और विनिमय आदि से जो ग़लतफहमियां और तनाव उपजते हैं, उनके कारण लेखकों में अलगाव और गुस्सा ज्यादा भड़क उठते हैं पर लेखक अपनी भूमिका को प्रमाणित करने के लिए जनता के काम में और अधिक मन लगाता है, मंच बनाता है और विद्रोह का सिलसिला जारी रहता है। सप्तमदशक के उतरार्ध और अष्ठम दशक के पूर्वार्ध में इस प्रवृत्ति को साफ़-साफ़ देखा जा सकता है। प्रगतिशील लेखकों की लगातार होती कान्फ्रेन्सों—सम्मेलनों और लघु पत्रिकाओं के लगातार प्रकाशनों से उक्त बिन्दु प्रमाणित होता है। विरोधपक्ष के कमजोर होने का अर्थ यह नहीं है कि वह है ही नहीं।

विरोधीपक्ष के दोष कम नहीं है। अन्ततः विरोध का मुख्य गढ़ मध्यवर्गीय शिक्षित जन ही हैं, जो विरोधों का नेतृत्व कर रहे हैं या इन्क़लाब के आयोजक हैं। मध्यवर्गीय

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ढुलमुलयक़ीनी, उदरपरायणता और आराम पसन्दगी आदि दोष विरोधीपक्ष को एक और अखण्ड नहीं होने देते। इस हालत में सही राजनैतिक बोध से रहित लेखक, मध्यवर्गीयमनोवृत्ति के नशे में चारों ओर निराशा, पतन और अविश्वास देखने लगता है। वह मूल्य हीनता को ही युगधर्म मानता है और वह अपने स्वर के पिटारे में बन्द होकर भीतरी तिलिस्म देखने में डूब जाता है। इस व्याधि के अनेक कवि शिकार हो गए हैं। सकलदीप सिंह इसी रोग में मुब्तला हैं, उन्हें न संगठन या संगठित होती हुई श्रमिक शक्ति दिखाई पड़ती है, न छात्र शक्ति, वे शक्तियों को न समझ पाने के कारण समकालीन मुहावरे में, सबसे कटे हुए लोगों का मनोविज्ञान प्रस्तुत करते हैं, यह मनोवृत्ति स्वयं सकलदीप सिंह की भी है—

जहां से चलता हूँ यात्रा के अंत तक वहीं आता रहता हूँ
अपने को कंट्राडिक्ट करते करते
पता नहीं कब अपना समर्थन करने लगता हूँ।
और अपने को समर्थन करते करते
न जाने कब अपने को कंट्राडिक्ट करने लगता हूँ।
मैं अपने कन्फ़्यूज़न के उधेड़बुन में लगता हूँ मित्र
अपनी सफाई से न पूछो
मत पूछो क्यों यह बकवास कविता लिखता हूँ!

इस बकवास-कविता के जन्मदाताओं में ज़बरदस्त कन्फ़्यूज़न है, कंट्राडिक्शन है लेकिन मज़ा यह है कि ऐसे बकवासी बंधु अपनी उधेड़बुन में इतने अविष्ट हो जाते हैं कि रोग को या मूल्यहीनता को ही युगधर्म और उपचार मानने लगते हैं। कोई इनसे पूछे की कब मूल्यहीन लोगों ने क्रानित की है? मूल्यहीनता एक सड़े हुए समाज की स्थिति हो सकती है, पर वह न गति है, न नियति है क्योकि प्रगति और नियति निर्माण के लिए संगठित होना पड़ता है और संगठन के बिना, संगठित व्यवस्थापकों को अवश्य अपदस्थ नहीं किया जा सकता। व्यवस्था लेखक को विरोधी संगठनों से अलग करके मारना चाहती है। यदि मार नहीं पाती, तो वह आदर सत्कारों, पुरस्कारों से उसे खरीद या खामोश कर अपने भानुमती के पिटारे में डाल लेती हैं, जहां लेखक जादुई तमाशों और इन्द्रिय परायण लोगों के बीच प्रचलित मूल्यों की गिरावट की गिरिफ़्त में फंस कर रह जाता है। श्रीकान्त वर्मा, सकलदीप सिह जैसे मित्रों की ट्रैजडी यही है कि वे अपने मध्यवर्गीय संस्कारों और सीमाओं के चक्कर में पड़कर आदमी की नकारात्मकताओं का ही बखान करते रहते हैं और वे अपने गुस्से में फिचूकर फेंकते रहते हैं। वे विरोध की संभावनाओ को नहीं परखते।

गुरिल्लाचेतना उन रोग को ही उपचार मानने वालों का भी विरोध करती हैं, क्योंकि निषेघशील लेखक सिर्फ शत्रु को ही बुरा नहीं बताते है, वह सबको अपने नकारू नशे

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

में नकारने लगते हैं अतः हिन्दी कविता मे जो सार्वभौमिक पतन, निराशा और नकारूपन है, उसका आधार सिर्फ़ मध्यवर्गीय लेखकों का पुलपुलापन है। इन पिलपिली साहबों ने पिछले दस बारह वर्षें में जो लेखन किया है, उसमें आदमी का अल्मूल्यन है। दरअस्ल, नकारूओं ने अपने मन की कमज़ोरियों का ही सामान्यीकरण कर दिया है। गुरिल्लाचेतना इनसे कमजोर होती है। गुरिल्ला-चेतना के लिए यह जरूरी है कि लड़ते हुए आदमी की सही तस्वीर बनाई जाए। केवल गिरावटों पर माथा पीटना और बराबर टिसुए बहाना, आत्मग्रस्त औरतों का काम है, आत्मतेज से उद्दीप्त और ज्वलनशील अदीबों का नहीं। बड़ा अदीब कभी भी मात्र स्थिति के अतिरंजित और एकपक्षीय चित्रण तक सीमित नहीं रहता, उसकी सर्चलाइट सब तरफ़ जाती है और उसकी वाणी में स्थितियों के सभी पहलू और उन्हें तोड़नेवाली सभी प्रकार की ताकतों और उनके तेवरों का नक्शा होता है।

मात्र रिरियाहटों या आत्मनिन्दाओं के साहित्य को समकालीन नहीं माना जा सकता क्योंकि रुदन तो शाश्वत रूप में बराबर होता है यहाँ तक कि हम धरती का एक नाम रोदसी भी है !

भक्तिकाल से अब तक हम रोते ही तो रहे हैं। इससे आक्रामक लेखन गुरिल्ला-चेतना को अधिक दृढ़ करता है। श्मशानीपीढ़ी के निर्भय मल्लिक यही आक्रामकता दिखाते हैं और उसे घृणित बता कर पाठक में व्यावसायिक जीवन प्रणाली के खिलाफ नफ़रत भरते हैं, गुरिल्ला-चेतना ऐसी ही कवियों से आहुति पाती है :

अब उसकी चुटिया घनी हो गई है
माथे की चमक बढ़ गई है
पहले से वह सीधा होकर चलने लगा है
अपनी ठिठुरी अंगुलियों को बंगला देश की आग
में सेंक कर सीधी कर रहा है।
लड़ाई वियतनाम में हो या बंगला देश में
व्यवसाय करने वाला अपना व्यवसाय हर जगह कर जाता है
......कहता है भगवान ने अच्छा किया कि बंगला देश में क्रान्ति ला दी
नहीं तो कौन साला मेरा फोटो छापता
......कहता है मेरे बाप का मेरी मां के साथ सोना सफल हुआ
कि मेरे जैसा लड़का पैदा हुआ
घर, परिवार......संस्कृति सबमें उन्नति हो रही है
एक तुम हो कि कमर झुकाए गलियों में भटक रहे हो
......सीधे हो कर चलो और अच्छे कपड़े पहनो
बिना अच्छे कपड़े न व्यवसाय होता है, न विद्रोह

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सुना है कि बंगलादेश से आई नब्बे प्रतिशत
लड़किया गर्भवती हो गई हैं
इनके प्रसव का ठेका इस आदमी ने ले लिया है......
......इनके गर्भाधान का ठेका भी इसी ने लिया था
वर्षा हो या गर्मी हर मौसम में यह अपने को बदल लेता है
......कभी प्रोफेसर कभी पुलिस बन जाता है
हर घटना को वह अपने घर की तरफ मोड़ लेता है।
......कहता है,......घटनाएं लोगों के लिए घटती हैं।

निर्भय मल्लिक भी कम नहीं भटकते। वह पहले उच्चवर्ग की यौन विकृतियों को नंगा करते हैं पर ऐसे चित्रणों में सामाजिक चेतना तो दब गई और सैक्स की नग्नता का स्वाद पाठकों को मिलने लगा फलतः इस प्रवृत्ति का विरोध हुआ और इस आलोचना से लाभ उठा कर आज निर्भय मल्लिक सही रास्ते पर आ गए हैं और काव्य-भाषा के समस्त पैनेपन के द्वारा वह, व्यावसायिक मानोवृत्ति के रहस्यों और कुत्साओं का भंडाफोड़ कर रहे हैं। कवियों की इस बदलती चित्तवृत्ति को नज़रन्दाज करना उनके प्रति अन्याय करना होगा।

इस आक्रामकता में हम क्या करें, इस प्रश्न का उत्तर हमें निर्भय मल्लिक से नहीं मिलेगा। इस प्रश्न का उत्तर हमें कुमारेन्द्र पारसनाथ, डा० माहेश्वर, धूमिल, वेणुगोपाल, ओमप्रकाश निर्मल और विष्णु खरे जैसे कवियों की रचनाओं में मिलेगा। ज्ञानेन्द्रपति की रचनाओं में सशस्त्र युद्ध का आतंक और हत्या की स्थितियाँ हैं। शब्द से कर्म तक पहुँचते पहुँचते भाषा की भँजाई कम हो जाती है और कवियों में, प्रतिपक्ष के हृदय परिवर्तन की जगह, उस पर खूनी हमलों का वर्णन होने लगता है। इस गुरिल्ला—कविता में कई तरह से बात कही गई है। कभी 'आग्नेय' में 'छापामार' की तरह किसी छापामार की अचानक शहर में उपस्थिति से फैले आतंक का वर्णन है तो कहीं विष्णु खरे की तरह होटल में, 'देर से आने वाले' रहस्यमय गुरिल्लानुमा लोगों का जासूसी उपन्यास की अदा में बयान है—

नीचे अगर सड़क सुनसान हो तो भी
वे आसपास नहीं देखते क्योंकि उन्हें मालूम है
है कि ज़ीने से लगकर बैठा हुआ पानवाला
उनकी ओर जानकार निगाहों से निर्निमेष
  देख रहा होगा
और उनकी गंध अगर लग गई
तो ऊँघते हुए, कुत्ते जागकर देर तक भूँकते रहेंगे।[1]

1. आवेग-1973–विष्णु खरे

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

विष्णु खरे की 'शहादत' शीर्षक कविता में भी गुरिल्लायुद्ध की एक कार्यवाही का खाका है यों यह अजीब लगता है कि ज्ञानेन्द्रपति 'हत्या' ("कविता", अलवर, पंचम अंक) और विष्णु खरे अपनी उक्त कविताओं में इतनी अस्पष्टता क्यों बरतते हैं? गुरिल्ला वर्ग शत्रु के प्राण ले लेता है मगर कवियों का दम निकल रहा है कि कहीं वर्णन पकड़ में न आ जाए।

'पता' शीर्षक कविता में ज्ञानेन्द्रपति स्पष्ट विधि अपनाते हैं। 'पता' में गुरिल्ला-आक्रमण का वर्णन है पर इसे सेवकगण मालिकों से इस तरह वर्णित करते हैं कि वर्ग शत्रुओं में आतंक छा जाता है। यहाँ वस्तु और रूप दोनों दृष्टियों से कविता गुरिल्ला कविता बन गई है—

'राजन् वे कौन हैं, यह हम नह जानते
......केवल यह जानते हैं कि उनकी मुट्ठी कितनी कसी होती है
और काले कपड़ों के भीतर उनकी देह कितनी
सन्नद्ध और सिकुड़ी होती है......आँखें अँधेरे
के उसी काले पत्थर को काटकर बनाई गई होती हैं
जिससे पशुओं की आँखें बनती हैं
और उनमें प्रकाश की इच्छा जलती रहती है।'[1]

यहाँ भी जासूसी–उपन्यासों जैसा घटनाजाल और बयान है। 'एक्शन' या हमले के पूर्व बरसों तक व्यवस्थाविरोधी गुप्त संगठनों को तैयार किया जाताहै। वेणुगोपाल इसी तैयारी के अय्याम में पाठकों को हमले के लिए उत्तेजित करते हैं–

'सिर पर खालिस दोपहरी है
सूरज अपने पूरे फार्म में है
तलुओं में गर्म कोलतार चिपक रहा है
और पिण्डलियों में रात के रास्ते खुल रहेहैं
......आखिर बात क्या हैकि पूरा इन्तजाम है और
सफर शुरू नहीं हो रहा है?
......कहीं ऐसा तो नहीं है कि हम डर रहे हैंऔर चाह
रहे हैं कि किसी भी तरह और देर और देर
होती रहे और हम बचे रहें, सुरक्षित......।

कुछ 'पथराए हुए प्रगतिशीलों' का विचार है कि आम आदमी को शहादत सिखाने वाली कविताओं में साहित्यिकमूल्य नहीं होता पर रचना यदि किसी दीर्घ आन्तरिक-क्षोभ या तनाव का परिणाम है तो यह क्या वजह है कि वह रचनात्मकता, ढिल्लमुतान ज़हनियत

1. 'हम' अंक, 5/1973 में ज्ञानेन्द्रपति की कविता–सम्पादक–मंजुल उपाध्याय

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

के कलावादी कवियों में तो होगी पर व्यवस्था-विरोध के चरम सोपान को प्रस्तुत करने वाली कविताओंमे नहीं होगी? असलियत यह है कि पथराए हुए या सत्ता की सेवा में व्यस्त और सुरक्षित साहित्य-चिंतक भयभीत हैं। हिन्दी साहित्य को जो क्रान्तिकारी मोड़ मिला है, उससे डरकर और कलावादियों के स्वर में स्वर मिलाते हुए नवलकिशोर जी कहते हैं–

'अगर कोई लेखक गाहे ब गाहे कहता है कि साहित्यकी भूमिका क्रान्तिधर्मा नहीं है तो उसे साहित्य के प्रभाव के विषय में, एक रायभर मानी जानी चाहिए, जिसे स्वीकार अस्वीकार किया जा सकता है' (मधुमती, अगस्त, 1975 में आलोचक नवलकिशोर का सम्पादकीय)

'नवप्रगतिशील' बनने का दावा करने वाले डॉ. नवलकिशोर यह नहीं सोचते कि साहित्य में अग्रगामी प्रवृत्ति के प्रेरक-उत्तेजक तत्व वे होते हैं ज़ो वर्ग-समाजकी मुख्य असंगति से सम्बन्धित होते हैं। समकालीन साहित्य में मुख्य असंगति (वर्गशत्रुओं का अस्तित्व) के विरुद्ध हमलावरी का माहौल बनते ही, पथराए प्रगतिशील 'नवप्रगतिशील' नाम धारण कर साहित्य को आदमी के मुख्य मोर्चे से हटाने लगते हैं। ऐसे पिलपिली 'प्रगतिशील' साहबों को चिन्ता जितनी वर्गशत्रुओं के अधिकारों के लिए होती है, उतनी पीड़ित जनता के अधिकारों के लिए नहीं होती। वह यह भी नहीं सोचते कि साहित्य में वैविध्य की रक्षा का एकमात्र उपाय यही है कि साहित्य के अग्रगामी दस्तों को समाज के मुख्य अंतर्विरोध के खिलाफ कटिबद्ध किया जाए। इससे नए विषय, नए आयाम और नई संवेदनाएँ मिलेंगी। उदाहरण के लिए वर्गसमाज के साहित्य में, जनसंवेदना का विशद चित्रण नहीं है। जनवाद से साहित्य में नए वर्णन क्षेत्र खुले हैं। गुरिल्ला-चेतना, जनवाद का उग्रतम रूप है, जहाँ शब्द कर्म से जुड़ता हैऔर कर्म से जुड़े शब्द की धार और झनकार पथराए हुए ज़हन नहीं पहचान पाते।

गुरिल्लाचेतना का अर्थ यह नहीं है, कि केवल उनमें कत्ल के जासूसीनुमा बयान हों। गुरिल्लाचेतना का कवि सीमित रहेगा लेकिन अन्य विकल्पों के अभाव में सशस्त्र-दृष्टि के कवि उन युद्धों का भी वर्णन करेंगे ही जो जनता के पक्ष में जनता द्वारा ही लड़े जाते हैं। इस लड़ाई को वे नहीं समझ पाते, जिनके मन में शताब्दियों से दुःखी जनता की पीड़ा बेचैनी पैदानहीं करती या जो उस पीड़ा की अभिव्यक्ति तक ही साहित्य की गति मानते हैं। उस पीड़ा के कारणों के उन्मूलन की बात उठने और लड़ाकू शोषितों के आक्रामक काव्य की रचना होने पर पिलपिले-प्रगतिशील घबरा उठते हैं। उन्हें घबराहट में यह भी नहीं सूझता कि सशस्त्र दृष्टि वैश्विक स्तर पर सक्रिय है और भारत का प्रबुद्ध युवा कवि, उसी विश्वव्यापी सशस्त्र दृष्टि को बोल दे रहा है, जो युवाजन को हथियार उठाने के लिए विवश कर रही है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आज का कवि तलवार पर लगे ख़ून को देख रहा है और उस ख़ून को इसलिए पवित्र मानता है क्योंकि वह बदले में की गई कार्यवाही है। गुरिल्ला आततायी नहीं होता, न आतंकवादी होता है, न अ-लगाववादी :

'नंगी तलवार जो कभी अँधेरा नहीं काट सकती
तुमने उसकी नोंक पर सचमुच ख़ून देखा है?
लेकिन मैंने सभी चाकू तेज कर लिए थे
और अपने बदन को कमान की तरह मोड़ कर
इतिहास के चूल्हे में झोंक दिया था
ताकि गीली मिट्टी की कविता अगर पके
......तो नाखून तड़क कर पैने हो जाएँ
क्योंकि हमें एक लम्बी लड़ाई लड़नी थी।
......मेरा ख़ून उछलकर कलम की नोंक में चला गया था।[1]

दुश्मन से मुकाबना करने वाली कविता में द्वन्द्वजन्य वाग्वैदग्ध्य का विकास हुआ है। अनुचिंतन की भाषा में यह विदग्धता नहीं होती। मुक़ाबले के साहित्य में पुराने बिम्ब और संवेदनाएं बदल जाती हैंऔर नए शब्द, स्पर्श, रूप, रंग और गंध का कलेवर खुलने लगता है। एक नया कवि-व्यक्तित्व सामने आता है और जो ज्वारों, ज्वालाओं और लावाओं को नई-नई शक्लें देता है। गुरिल्ला-चेतना और युद्ध को कवियों ने नहीं, स्थापित व्यवस्था ने पैदा किया है क्योंकि प्रत्येक विषम व्यवस्था अपनी क़ब्र खुद तैयार करती है। गुरिल्ला कविताओं में रचनाकार कल्पना में वर्ग-शत्रुओं को मार रहे हैं, मारने की तरकीबियाँ बता रहे हैं। यह कल्पनाजन्य उद्भावना नहीं है बल्कि बोलविया, क्यूबा, वियतनाम, लाओस, आदि में जो हुआ है, उसे हिन्दी के अग्रगामी रचनाकार ने ग़ौर से देखा या सुना है और क्रान्ति के उसी नमूने की वकालत यहाँ होने लगी है। यह ख़ाम ख़याली इसीलिए नहीं है क्योंकि सर्वत्र कुछ क्रान्तिकारी तत्व मौजूद हैं। इनके साहित्य में चित्रण की माँग साहित्यिक मूल्यों के हनन की माँग नहीं है। माँग तो यह है कि साहित्यिक मूल्यों की रक्षा करते हुए और फिर भी रचना को प्रेषणीय बनाते हुए इस नए विकल्प का जायज़ा लिया जाए क्योंकि इस विकल्प की ओर वर्तमान व्यवस्था ठेल रही है कोई अन्य उपाय उसने छोड़ा ही नहीं है।

जो किसी कई मंजिलों वाले मकान के ऊपरी हिस्सों में आराम से रह रहा है, वह यह नहीं जान पाता कि नींव में क्या हो रहा है। वह विस्फोट के अंतिम क्षण तक विद्रोह और क्रान्ति जैसे शब्दों का उपहास करता रहेगा। वह घायल होकर ही मानेगा कि क्रान्ति सम्भव है और इसीलिए गुरिल्ला-चेतना का साहित्य ख़तरनाक होता जा रहा है।

1. 1974 और अन्य कविताएँ—सतीश वर्मा,

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वर्गचेतनाजन्य आक्रोश भीतर ही भीतर अवरुद्ध होकर जब लेखक के सारे व्यक्तित्व में भिद जाता है, तब उसमें शोषकवर्गों के विनाश की बुद्धि जगती है और विनाश की वह इच्छा अराजक इसलिए नहीं होती क्योंकि उसकी पीठ पर, सामाजिक दर्शन से लैस एक संगठन होता है। तहों पर तह लगाए हुए अनन्त असंतोष जनमानस में जमा होतारहता है, यही क्रान्तिकारी कवि का आधार और शस्त्र है। संकल्पशक्ति जाग्रतहोते ही, चिरमधुर-मधुर कोमल-कोमल' मनोवृत्ति तो पीड़ितों और पक्षधरों के लिए आरक्षित रहती है मगर दुश्मन के लिए सेठ, सत्ताधीश और उनके समर्थकों के लिए, गुरिल्ला का व्यक्तित्व एक भयंकर और आदिम भूख से युक्त आदमख़ोर व्यक्तित्व बन जाता है।

डॉ. माहेश्वर की 'अपना देश' कविता में गुरिल्लाकवि को नए विश्वबोध, मानवप्रेमऔर सशस्त्र दृष्टि के लिए देखा जा सकता है। डॉ. रणजीत ने इस कविता में 'व्यक्तिगत हिंसा' का समर्थन देखकर दबी जुबान में मतभेद प्रकट किया है यानी डॉ. रणजीत का वश चले तो वह नारों-प्रस्तावों आदि से ही सारी व्यवस्था बदल डालें परन्तु पिलपिले प्रगतिवादी व्यक्तित्वों की यह विशेषता है कि वे स्वयं तो सुरक्षित राजनीति खेल कर, अपना महात्म्य बढ़ा रहे हैं, और जनता के लिए जान पर खेल जाने वालों के जीवन और उनकी मनोदशाओं के चित्रणकर्त्ताओं की खुले दिल से तारीफ़ भी नहीं करते। जब राजनैतिक दल के दादा उनसे कहेंगे, तब वे उन्हें शहीद मानलेंगे और मरसिया पढ़ने लगेंगे। फिर भी यह ग़नीमत है कि डा. रणजीत ने गुरिल्लाकविता 'अपना देश' का सारांश अपनी किताब में दिया है और वस्तुतत्व की अहमियत और प्रासंगिकता न बताकर भी, कथ्य और शिल्प के कलात्मक संतुलन की प्रशंसा की है। डॉ. नवलकिशोर को यह बात नोट करनी चाहिए–

"अंधकार यहाँ ('अपनादेश' कविता में)मसनद के सहारे पाल्थी मारे बैठा हैऔर रोशनी सरे आम लेम्पोस्टों पर लटका दी गई है। पूरा देश एक विशाल कोल्ड स्टोरेज बना दिया गया है, जहाँ मरी हुई परम्पराओं और संस्कृतियों को सुरक्षित रखा जा रहा है। खून पीने वालों के मुँह से अभी भी फूल झड़ते हुए दिखाए जाते हैं.........दार्जिलिंग के जंगलों में हजारों के पेट के खिलाफ तने हुए, जनता के सिर काट दिए जाते हैं तो क्यों मिलिटरी स्पेशलें छूटती हैं, दिल्ली से सिलीगुड़ी और सिलीगुड़ी से दिल्ली, आखिर क्यों?"[1]

यह ग़ौरतलब बात है कि नवलकिशोर और रणजीत जैसे 'नवप्रगतिशील' साहित्यिक, गुरिल्लाचेतना की उपेक्षा करतेहैं। वे अपने विवेचनों में, साहित्य की इस अग्रगामी प्रवृत्ति से कन्नी काट जाते हैं। उन्हें यह गुरिल्लायुद्ध अतिवाद और अतियथार्थवाद सा लगता है। स्थापित वर्गसमाजों की सरकारों का भी यही मूल्यांकन है यानी सरकार और ये साहित्यकार एक ही ढंग से सोच रहे हैं।

1. हिन्दी के प्रगतिशील कवि, डॉ. रणजीत, पृष्ठ-409

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

'कल्पना' में प्रकाशित इन पंक्तियों की लेखक की 'आदमख़ोर' कविता गुरिल्ला चेतना का वह प्रारूप पेश करती है, जहाँवर्गशत्रु को पक्षधर लेखक विनाशक नज़र से देखता है। यहाँ बिम्ब विकराल, ख़ौफनाक और खूनी होने लगते हैं। रचनाकार में यहाँसारे विगत और वर्तमान काल के शोषितजनों की ओर से बदला लेने का जनून चढ़ता है और उस जनून से कविता में आदमखोर संवेदनाऔर प्रतिशोधक-आखेटक भावधारा कल्लोलित होती है। यहाँ प्रतिपक्ष का मात्र प्रतिवाद नहीं, उसके सर्वनाश के इरादे हैं और क्रूरता के बदले हिंसक क्रूरता का जवाब है। भीतर के भीषण क्रोध और तनाव के कारण भाषा में वही तेवर आ जाते हैं जो आखेट करने वाले व्याघ्र के होते हैं। भाषा में यह व्याघ्रता, शिकार पर बाघ की टाकटकी और उछाल की प्रक्रिया और निर्भयता ये सारे गुण अनुभूति की तीव्रता से स्वतः खिंचे चले जाते हैं-

'इन नथुनों को कुछ हो गया है
तुम्हें देखते ही फूलने लगते हैं
हर साँस धमनभट्टी की लपट बन जातीहै
दिमाग़ में विस्फोटों का एक सिलसिला
......जबड़ा दांतों को सँड़सी सा कसता चला जाता है
सामने की हर चीज़ मुझे मुक्केबाज़ी को उकसाती है
......और मेरा मुँह ख़ौफनाक खोह सा खुल जाता है
मैं तुम्हें सिर्फ निगल जाने के नुक़्ते से देखता हूँ
मेरी एकटक दृष्टि......तुम्हारे गूदे के स्वाद पर केन्द्रित है।
......अब तुम्हें देखकर एक जंगली भूख लगती है
न तरस आता है, न प्यार
तुम्हारी गंध पाकर मैं भरता हूँ बाघ की तरह हुंकार
तुम्हें ताकते ही, आँख की त्यौरी चढ़ती है।
......गाली गलौज़, नारा, शोर, घिराव, चुनाव
ये सब तो तुम्हारे लिए कौतुक हैं
आन्दोलन, महज़ मालिश है तुम्हारे लिए
आदमी, आसामी, एक जिन्स
नीलाम पर चढ़ी चीज़
यह बोध मेरे ज़हन को तचाता है
तुम मेरे निवाले हो
तुमसे यही रिश्ता है, यही चारा है।[1]

1. 'आदमखोर'-विश्वम्भरनाथ उपाध्याय

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

'मतान्तर' में प्रकाशित मेरी एक अन्य रचना 'उधेड़बुन' में भी यही गुरिल्लाचेतनाथी–

'अगर साथी सहम गये या मुख़बिर बन गए
तो भी क़लम से, इस वज्रलेप की दीवार में
बारूद रखने लायक छेद तो बना ही लूँगा
ख़ूबियों के साथ आशनाई करते-रहने से यह
ज़्यादा अच्छा है
कि फ्यूज़ उड़ा दिया जाए
ऊब रहा हूँ, चलो किसी तकिए पर
अगर कोई निश्चित सिर हो
तो उसे जलतरंग सा बजा दिया जाए।'[1]

बलदेव वंशी ने मेरी "ढुंढिराज" शीर्षक कविता को "विचार कविता" में रखना चाहा है। मगर "विचारकविता" नाम पर बल देने का प्रयोजन शायद यही है कि कविता में मात्र अनुभूतियों का जमघट न हो, उसमें विचार शक्ति भी हो ताकि कविता दृष्टिकोण बना सके, बोध जगा सके। जैसे–शीतकाल में फूँस को जलाने से एक दम आग की लौ पैदा होती है मगर वह एक क्षण बाद ही बुझ जाती है, उसी प्रकार मात्र भावनाओं की कविता में हृदय भभक कर शान्त हो जाता है। ऐसी कविताओं से तनाव पाठक में कम पनपता है, क्योंकि घनीभूत दुःख का विरेचन हो जाने से मन ठण्डा हो जाता है। विचार शक्ति से कविता की आंतरिक संरचना में चिन्तनकण, पाठक में जल्दी नहीं घुलते, वे देर तक उसके मस्तिष्क को सोचने के लिए विवश करदेते हैं।

"गुरिल्ला कविता" में लेखक की चेतना के प्रथम धरातल पर तो मानवीयता सक्रिय होती है जो उसे अत्याचारी गिरोहों के विरुद्ध खड़ा करती है और दूसरे धरातल पर चिन्तनाणुओं में भावसंश्लिष्ट गत्यात्मकता रहती है। समाज और व्यवस्थाओं की वस्तुगत जानकारियों के बल पर और जनाक्रोश को निर्दिष्ट दिशा में ले जाने वाले जनसंगठनों की ताकत पर गुरिल्ला, अपना विश्वबोध विकसित करता है जिसमें प्रश्नों के लगातार उत्तर पाने के बौद्धिक प्रयत्न होते रहे हैं। सारे ज्ञानानुशसनों के समूचे ज्ञान के वस्तुगत विश्लेषण द्वारा सही राहों और रुझानों को अपनाया जाता है अतः संगठन, व्यक्तियों की शिक्षा के केन्द्र बन जाते हैं। वे बौद्धिक केन्द्र के रूप में व्यवस्था-विरोधियों के व्यक्तित्व का विकास करते हैं। शिक्षालयों में एक विशेष सीमा और सांचे के भीतर ज्ञान का सृजन और शिक्षण होता है। अतएव संगठन विकल्पों के प्रयोगस्थल हैं। व्यवस्था-विरोधी संगठनों के स्तर की उच्चता से उच्चतर कोटि के तेंदुए या रनबाघ पैदा होंगे जो ऊँचे स्तर पर संगठनों को खड़ा करेंगे। मूल्योन्मुख, सामाजिक चेतना से युक्त ये स्वेच्छया

1. 'मतान्तर'–सम्पादक राजकुमार शर्मा, दिल्ली में प्रकाशित

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

किए गए संगठन किसीं दिन लोकराज्य के आधार बनेंगे और राज्य पत्ते की तरह झड़ जाएगा।

बौद्धिक का लोक से सम्बन्ध न जुड़ने के कारण, बौद्धिक अपने लेखन में या तो लोकद्रोही हैं या लोकनिरपेक्ष। यह स्थिति विशेषकर उन बौद्धिकों की है जो केवल पाश्चात्य प्रारूपों की इस देश में नक़ल करते हैं। विश्लेषण की बारीकी और तर्क की सूक्ष्मता इस विद्वता का निकष रहता है अतः बौद्धिक, विश्लेषण करते-करते सिर्फ़ विश्लेषक रह जाता हैऔर वह कहीं नहीं पहुंचाता। बौद्ध दार्शनिकों ने "करुणा" और "उपाय" इन दोनों के संयोग के द्वारा मुक्ति मानी है। व्यक्तित्व वहीं मुक्त है, जो ज्ञान और करुणा दोनों से युक्त है। बौद्धिकों के जीवन में जो अजीबोगरीब तत्त्व मिलते हैं, उसका कारण उनका अकेलापन है। सिर्फ़ सिद्धान्तों, अवधारणों के क्षेत्र में अनुसंधान करते-करते बौद्धिक अपने आस-पास एक मरुस्थल की रचना करता है। वह अकेला रहना चाहता है, अतः अपने को रेगिस्तान में बन्द कर फिर क्रमशः उस वीराने को बढ़ाता है और दूर-दूर तक हरियालियों या मधुर सम्बन्धों को सुखाता है अन्त में उस सन्नाटे को अपने अट्टहास से गुंजाताहै। इस बौद्धिक असुर का नाम "ढुंढिराज" है।

पुराणों में कहा गया है कि जयपुर के आस-पास का प्रदेश ढुंढि नाम के एक राक्षस का प्रदेश कहलाता था क्योंकि ढुंढि ने इस इलाके को मरुस्थल बना दिया। मैंने उसे एक बौद्धिक के रूप में देखा। ताज्जुब नहीं, ढुंढिराज कोई ज्ञानी हो। रावण परमज्ञानी था। राम ने बौद्धिक–असुरों–राक्षसों का विनाश किया, मूल्यों की विजय हो गई। मेरा विचार है कि इस बौद्धिक असुर या आधुनिक बौद्धिक को झाड़े बिना इसका श्राप जाएगा नहीं और जब तक यह अभिशप्त वर्ग आत्मसजग और करुणामय नहीं बनता तब तक गुरिल्ला-चेतना इस गिरोह का विरोध करती रहेगी :

तुम जिसे ढूँढते हो, वह नहीं है
जब जो मिला, समझे यही वह है
लोहे के टुकड़े की तरह जा चिपके
उसमें चुम्बकों के इतिवृत्त बिठाकर स्वयं
और उस व्यक्ति में रमते रेंगते रहे
उसकी कथनियों को तौलते रहे
करनियों को सूँघते रहे।
फिर क्रमशः गंध शून्य होकर
अपने पर्यवेक्षणों की व्यर्थता पर
मन ही मन कच्चा सूत कातते रहे
सब कुछ जान लेने का ग़रूर

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

चढ़ी हुई आंखों, बिगड़ी हुई भवों
दाँतों की बत्तीसियां पीसते हुए
लोगों के लोगपन पर खीझते हुए
आक्रामक ज्ञान के स्वयं ही आखेट।
तुम मनुष्य नहीं,
ढुंढि राक्षस हो गए हो श्रीमान्।[1]

व्यक्तिगत स्थिति और नियति के विश्लेषण और उसके द्वारा व्यक्तियों और शक्तियों एवम् स्थितियों के बोध को रचना में घुलामिलाकर कहना "विचारकविता नहीं, कविता में विचार का विनियोग है।" इस विनियोग में विचार, कविता में उस आलोक का काम करता है, जिससे तीव्र अनुभूतियाँ और भावनाएँ अपने को परिस्थितियों से नत्थी करतीं हैं। बाह्य जगत में जैसे चीज़ों का अस्तित्व अलग-अलग होने पर भी, वे एक परिधि के भीतर काल के प्रवाह में रहती हैं, वैसे ही मस्तिष्क के केन्द्र परस्पर सम्बन्धित हैं। जैवचेतना का सम्बन्ध इस संयंत्र से होने के कारण, जैव चेतना अपने को सीमित महसूस करती है। स्वचेतना के इस विकसित रूप ने ही अधिदर्शन की सृष्टि की और आत्मा को एक स्वतंत्र, अविनाशी, अनन्त, मुक्त और प्रकाशमय कहा गया। कालजयी भारतीय क्लासिकता और साहित्य में यह आत्मबोध सर्वत्र वर्णित है। आधुनिक युग में जड़ पदार्थ से समानान्तर चेतना के अस्तित्व की स्वीकृति को चुनौती दी गई और शरीरशास्त्र तथा पावलोव के मनोविज्ञान ने चेतना की रहस्यमयता और अनिर्वचनीयता का भ्रम तोड़ा और आज हमारा आत्मज्ञान, शरीर को चेतना के समानान्तर नहीं, सन्निविष्ट तत्व माना जाता है। शरीर और आत्मा की अविच्छिन्नता प्रमाणित होते ही आधुनिकयुग में आत्मा की पुरानी धारणा को सिर्फ़ योगियों के चमत्कारों और पुरानी गवाहियों के आधार पर सही सिद्ध किया जा रहा है।

शरीर और आत्मा की संगति ही अस्तित्व है और विच्छिन्नता मृत्यु। मृत्यु के बाद अस्तित्त्व को प्रमाणित करना कठिन है अतः स्पष्ट चिन्तन वहीं सम्भव है, जहां सच्चाई की जांच, व्यवहार या क्रिया के आधार पर हो सके। आधुनिक व्यक्ति के मस्तिष्क और क्रिया में प्रत्यक्ष सम्बन्ध न रहने से उसके दिमाग़ के केन्द्रों ने एक दूसरे से कटे हुए ढंग पर काम करना सीखा और इधर हुए आपरेशनों के विवरण से पता चलता है कि आदमी आधे दिमाग़ से भी जी सकता है। शारीरिक श्रम के समानान्तर मात्र मस्तिष्क की सक्रियता पर कमाई करने वाले क्रमशः आधे अधूरे दिमाग़ से जीने लगते हैं और आत्मानुभव के आधार पर कहने लगते हैं कि आत्मा कर्मसे सन्यास लेकर ही पूर्ण मुक्त और प्रसन्न हो सकती है। दर्शन के स्तर पर गुरिल्ला-चेतना का युद्ध आत्मा की इस समानान्तरवादी अवधारणा से है।

1. ढुंढिराज एवम् अन्य कविताएं—विश्वम्भर नाथ उपाध्याय

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

"विचारकविता" की धारणा में यही कमी है कि वह ग़लत जगह बल देती है। बल परस्परविरोधी शक्तियों की रचनात्मक संगति पर देना चाहिए। सप्तमदशक के विचारहीन विद्रोहियों में अकवियों और अनेक अपढ़ पीढ़ियों की गणना होगी, जिनके पास कोई निश्चित् विचार नहीं था अतः उनका ध्यान बाद में "विचार" पर गया पर पूर्ण विकसित लेखकों को मालूम था कि 'विचारकविता" मूर्खतापूर्ण नाम है क्योंकि विचार के बिना समकालीन कविता हो ही नहीं सकती। स्थिति का कोई न कोई ज्ञान प्रत्येक व्यक्ति को है। यह बोध प्रत्येक रचना में रहता है पर सचेत होकर विचारणाओं को कविता में जानबूझ कर बुनने से फिर एक विशेष नमूने की कविता की नक़ल चल पड़ेगी। यदि विचार भाव, संवेदन और कल्पना की सक्रियताओं में कोई संगति बन जाती है तो उसी बिन्दु पर श्रेष्ठ रचना का जन्म होता है। यह संभव है कि विचार को कथन वैचित्र्य से कवितानुमा लिबास दिया जाए मगर तब उस कविता में अनुभूतिहीनता महसूस होगी जैसे कवि सिर्फ सोचू है, वह किसी बात या घात का अहसास नहीं करता। ऐसे सोचू महाशय, सूखी रचनाएं बुन सकते हैं, कविता कविता है, कंकाली नहीं!

मस्तिष्क में भावकेन्द्रों और सोच के अड्डों में प्रत्यक्ष सम्बन्ध होता है। दिमाग़ कुछ केन्द्रों के बल पर आदमी को जीता रख सकता है पर ऐसा आदमी पूरा नहीं अधूरा आदमी कहलाएगा। इसी तरह विचारकविता, भावकविता, कल्पनाकविता—ये सारे ख्याल एक चीज़ पर जरूरत से ज्यादा बल देकर एक ऐसा प्रयोग करना चाहते हैं कि हिन्दी में कभी भी विकसित और पूर्ण कविता का जन्म न हो। प्रयोगों के साथ कविता के आंतरिक तत्वों की एकतापर बल न देने से कवियों में संवेदना की विश्रृंखलता और सोच की तारतम्यहीनता आती है। सप्तमदशक में भी, किसी एक बात को कातते रहने की जगह और बातों के साथ उस बात का रिश्ता खोजने और उन सहज सम्बन्धों का उन बातों और व्यक्तियों पर प्रभाव ढूँढ़ने को अधिक महत्त्व नहीं दिया गया। पछाँहीं आधुनिकता ने, हिन्दी के लेखक को प्रयोगशील बनाया पर उसमें हमेशा किसी एक बात या प्रवृत्ति पर बल दिया गया, यह भुला दिया गया कि अवयवों के संगत संश्लेषण को भी प्रयोग की तरह ही आज़माया जा सकता है।

गुरिल्लाचेतना इस कलात्मकएकता पर बल देना चाहती है ताकि जो एकता चेतना में है, वही एकता रचना में भी हो। यह आदर्श है और संश्लेषण का कोई एक सूत्र या रूप नहीं है। अंततः कलाकृति में किसी न किसी मात्रा या अनुपात में एकता लाने की ही कोशिश की जाती है। एक पक्षीय प्रयोगशील कवि भी अन्य अस्त्रशस्त्रों या उपकरणों का थोड़ा बहुत प्रयोग करते हैं।

रचनात्मकता के इस सामान्य सिद्धान्त के अतिरिक्त गुरिल्ला चेतना, कथ्य की ज़मीन पर वर्गचेतनकविता की पक्षधर है मगर शर्त यह है कि वर्ग चेतना, जीवन के प्रकृत स्वरूप

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

के भीतर से उभरे, आरोपित न हो। साहित्य, सस्तेपन के विरुद्ध भी उसी सख़्ती से लड़ता है, जितना वह व्यवस्था या अन्य मानव विरोधी तत्त्व से टकराता है। गुरिल्लाकविता पार्टी-साहित्य और साहित्य में अंतर करती है क्योंकि दोनों के कार्य अलग-अलग हैं। जो दल अपने सूचना विभाग और साहित्य के मोर्चे का अंतर नहीं समझता, वह दल कभी अपनी विचारधारा को लोगों के मनोविज्ञान में नहीं बिठा सकता। विचारधारा ऊपर रह जाएगी और उसके नीचे छिपी शक्तियां विचारधारा का अंकुश हटते ही मुक्त होकर मस्त हो जाएंगी। गुरिल्ला चेतना मस्ती या मौज के साहित्य को, मानवनियति के निर्धारक साहित्य से भिन्न मानती है अतः चेतनाहीन, मात्र भावुक और थोले साहित्य को गुरिल्ला-लेखक, बाल साहित्य या अधिक से अधिक, किशोरों का साहित्य मानता है।

इस प्रकार गुरिल्ला चेतना एकान्वित वयस्क सोच और अहसास दोनों से चुस्त दुरुस्त और सामाजिक अभिप्रायों और प्रक्रियाओं को प्रतिध्वनित करने वाले साहित्य को बढ़ावा देती है। षष्ठदशक में आत्मालापनुमा हो जाने से हिन्दी कविता सप्तमदशक में पुनः वास्तविक जीवन से हृदयसंवाद क़ायम कर सकी। गुरिल्ल कविता, इस प्रवृत्ति का अंतिम और उग्रतम उदाहरण है। यहां आकर मात्र नाराजगी, विद्रोह और आक्रोश की कविता क्रान्ति की कविता हो गई। इस गुरिल्लाचेतना में उन्होंने भी योगदान दिया जो बूर्ज्वा सभ्यता के आलोचक हैं, मगर वे सिर्फ़ आलोचक हैं। गुरिल्ला द्वारा किया गया व्यवस्था का अनावरण पाठकों को "सशस्त्र दृष्टि" की ओर ले आता है, क्योंकि हास्त्र या शब्द के असफल हो जाने पर परेशान आदमी हथियार उठा लेता है। शान्तिप्रिय नागरिक यदि मरने मारने पर उतर आए तो समझना होगा कि व्यवस्था अंदर से सड़ चुकी है और उसकी सफाई जरूरी है।

जो क्रान्तिकारी चेतना को लेखकों की सनक कहते हैं वे इस सिद्धान्त और जनता पर जादुई असर को भूलते हैं। भगत सिंह, आजाद, बिस्मिल, सुभाष चन्द्र बोस वगैरह के प्रति जनमानस में रोमांटिक आकर्षण है। उनकी वीरता जनता को प्रिय लगती है क्योंकि जनता वीर होती है, कायर नहीं। कायर तो उसे उसके रक्तपान करने वाले बनाते हैं। आज भी पीड़ित जनता में घनीभूत क्रोध है मगर उसे लक्ष्योन्मुख बनाए रहकर उसका राजनीति में इस्तेमाल कौन करें, हिन्दी प्रदेश के लेखक उसी चीज़ को संभव मानते हैं जो उनकी नज़र के सामने हो रही हो। चूँकि क्रान्ति उनकी बग़ल में नहीं हो रही है अतः वे "गुरिल्ला कविता" के विचार को स्टंट समझते हैं मगर वे क्रान्ति के समर्थक हैं। इस अंतर्विरोध को वे नज़रन्दाज कर रहे हैं। हिन्दी में एक भी किताब ऐसी नहीं लिखी गई, जिसमें स्वातंत्र्योत्तर क्रान्तिकारियों का विवरण हो। यह अवश्य है कि जो लड़ते-लड़ते खेत रहा, उस कवि या लेखक को, हिन्दी जगत् मिथक बना कर अमर कर देता है, जैसा कि निराला और मुक्तिबोध के साथ हुआ। शहीदों को याद रखने का सर्वोत्तम तरीक़ा

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

यही है कि उन्हें प्रतीकों और मिथकों में बदल दिया जाय। यह गौरव वही पा सकता है, जो जनात्मा का प्रतिनिधित्व करे, जिसके साहित्य में प्रज्ञा और उपाय, करुणा और क्रिया की एकता हो। प्रयोग और प्रगतिशीलता का ऐक्य ऐसे ही रचनाकारों में मिलता है, जिनकी आत्मा या चेतना महान होती है। छुद्रात्माओं को विचित्र या असामान्य हस्तियों के रूप में याद किया जाता है मगर वे जनचेतना के पैग़म्बर, मित्र और दार्शनिक नहीं बन सकते। उन्हें देख कर विस्मय होता है, आदर नहीं उमगता। आदर के आलम्बन वे ही हो सकते हैं, जिन्होंने इंसान की तरफ़दारी की और आजीवन पूँजी, प्रभाव और एकाधिकारवाद के विरुद्ध मेढ़ादुम्मी करते रहे, घायल बाघ की तरह तड़पड़ाते रहे और पाठक को अपनी ऊर्जा के बल पर विश्वामित्र की तरह रची गई द्वितीय सृष्टि दिखाते रहे या पुराने सांचों और उनके बाहक, यथास्थितिशील तबकों के खिलाफ लोगों में अपनी विद्रोहाग्नियों को दहकाते रहे। आज भी मुक्तिबोध को पढ़ो तो वह हमें धधका देता है और निराला की दहाड़ और ऊर्ध्वोन्मुख्ता से तो बड़े बड़ों की कुंडलिनी जाग्रत हो जाती है।

गुरिल्लास्प्रिट के कवियों में ये ही रुझानें और रूहानी ताकतें काम कर रही हैं। इसकी बाढ़ उग्रराजनीति की सक्रियता पर निर्भर है।

बनावटी विद्रोही-बाग़ी लेखकोंके दम्भों को गुब्बारों की तरह फोड़ने वालों में, गोपालकृष्ण कौल की "क्रान्ति" शीर्षक कविता का उल्लेख जरूरी है। कौल जी का विचार है कि राजकमल चौधरी में बकवास या निरर्थक विस्तार और शब्द अपव्यय अधिक था तो सौमित्र मोहन की लुकमानअली में कल्पना या अतिकल्पना या कौतुक अधिक है। कौल को, गजानन मुक्तिबोध के अलावा अन्य कोई कवि बाग़ी नहीं लगता। वह मुक्तिबोध के बाद के धूमिल, जगड़ी आदि को भी तेवरों : मुहावरों की कविता कहते हैं, जिसमें तत्व कम, चतुराई अधिक है और सान्द्र क्रान्तिकारी कवि गहरे गुस्से और रौद्रता का कवि होता है। अतः कौल के अनुसार समकालीन बाग़ी कवियों में बुनावट और बनावट अधिक है। बाग़ी कवि कबीर में कृत्रिमता का नाम भी नहीं है और फिर भी वह बाग़ी कवि है। बनावट का अर्थ यही है कि कविता कवि में नए पत्ते की तरह अपने आप नहीं फूटती/ वह उसे दिमाग़ से रचता है, आस्मान के कुलावे मिलाता है, फंतासियों द्वारा वर्ण्य विषय को चटख रंग देकरअपनी प्रतिभा का रौब झाड़ता है अतएव गोपाल कृष्ण कौल कविता द्वारा ही इन तथाकथित बाग़ी कवियों को जवाब देते हुए कहते हैं कि समकालीन क्रान्तिकारी कहलाने वाले कवि वे मनचले लोग हैं जो क्रान्ति को बेवकूफ लड़की समझते हैं और शब्दों के झुनझुने बजाकर रिझाना चाहते हैं–

"वह क्रान्ति है, कोई बेवकूफ लड़की नहीं!"

गोपाल कृष्ण कौल का विचार है कि गुरिल्ला या क्रान्तिकारी कविता तब तक नहीं

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पनप सकती, जबतक कवियों के व्यक्तित्व में खोट है। कोठी, कार, पद और बैंक खाते के चक्कर में पड़े हुओं से क्रान्ति की बात करना अपने को धोखादेने के बराबर है। आकांक्षाओं की कड़ाही में तले जाते हुए, ऐसी शौकीन, मूडी, मक्कार और मिथ्या व्यक्तियों के बल पर क्रान्ति का होना तो असंभव है, कविता भी नहीं हो सकती, क्योंकि कविता में मात्र कल्पनाशीलता नहीं, मन की सच्चाई ही कामआती है। छलनी और सूप जैसे बहुछिद्रों वाले कविव्यक्तियों में क्रान्ति तो बड़ी चीज़ है, सहज इंसानियत भी छन जाती है और उनमें सिर्फ छूंछ रह जाती है। बड़बोली, मुहावराबाज, बनावटी उत्तान स्वर में लिखी गई कविताओं को गोपालकृष्णकौल, "छूँछ कविता" कहते हैं, क्योंकि समकालीन हिन्दी लेखकों में प्रयोजन या उद्देश्य की सच्चाई का अभाव है। कवियों का इच्छाजगत ही कविता में व्यक्त हो रहा है। मूल्यों की आराधना कठिन है। उसके लिए शहीद होना पड़ता हैऔर सूली पर चढ़ने को कोई तैयार नहीं है।

मैं गोपालकृष्ण कौल की तरह निराश नहीं हूँ क्योंकि मैं परिवर्तन और क्रान्ति को एक लम्बी प्रक्रिया मानता हूँ। यह किसी भी प्राकृतिक प्रक्रिया की ही तरह है। पदार्थों के अंदर अणु परमाणुओं के अन्तर्द्वन्द से अचानक क्रान्ति होती हैऔर वह पदार्थ किसी अन्य पदार्थ में परिणत हो जाता है। विस्फोट का यह बिन्दु नज़दीक आता जाए, समकालीन कविता का यही लक्ष्य है। ज्ञानेन्द्रपति, माहेश्वर, वेणुगोपाल, कुमारेन्द्र पारसनाथ सिंह, धूमिल जैसे लोगों को मनचला कहकर टाला नहीं जा सकता। इनमें भागवत सच्चाई है और इनके जैसे अनेक कवि ऐसे हैं जो कम से कम अनुभूति के क्षेत्र में एकदम खरे और सच्चे हैं। ओम प्रकाश निर्मल की "कुछ हो रहा है" कविता को कौन मिथ्या सृष्टि कह सकता है?[1] निर्मल की तरह अनेक हिन्दीकवियों ने अपनी हस्तियां बरबाद कर दी हैं और वस्तुओं के पीछे दीवाने नहीं बन गए हैं। स्वयं श्री गोपालकृष्ण कौल, को देखकर लगता है, गोया निराला और मुक्तिबोध का प्रेत उनमें उझक उझक उठता है। मध्यवर्गीय लेखकों का आपसी वैमनस्य नैतिकपतन और लगावहीनता देखकर ऐसा लगता है जैसे लेखक भी उपभोक्ता समाज का अंग बनने के लिए व्याकुल है और जो उसे उपभोक्ता नहीं बनने देता, उसे वह क्रान्ति के नाम पर नष्ट करना चाहता है परन्तु स्थिति इतनी खराब नहीं है और उपभोक्ता संस्कृति की बढ़ोत्तरी के इस युग में भी, गोपालकृष्णकौल नरेन्द्र वशिष्ठ, नागार्जुन, रेणु, ओम प्रकाश निर्मल, वेणुगोपाल, केशनीप्रसाद चौरसिया, मुक्तिबोध, राजकमल चौधरी, आदि ने प्रलोभनों और प्रपंचों के विरुद्ध आजीवन संघर्ष किया है और यह संघर्ष जारी है, जारी रहेगा।

केशिनी प्रसाद चौरसिया ने सर्वप्रथम "विद्रोही पीढ़ी" नाम से एक काव्य संग्रह

---

1. कलावाद के प्रभाव से जब तब विद्धशमशेर बहादुर सिंह ने अवश्य इसे 'भड़ास' कहा है क्योंकि उनकी कविता में उग्रता, उच्चाटन वर्जित है, वहाँ वशीकरण की विधि है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रकाशित कराया था। उसने "नयी कविता" के कथ्य को झटके के साथ अलग कर दिया और कविगण, "विद्रोहीपीढ़ी" के कवि बनते गए। उन्होंने सामाजिक स्थितियों और संकटों को कविता का विषय बनाया और "लघुमानवों" में छिपी हुई अग्नियों और आलोकों की तलाश हुई। प्रामीथियस की तरह विद्रोह की यह अग्नि केशिनीप्रसाद चौरसिया लाए थे और अपनी तीव्र अनुभूतियों से पीड़ित होकर उस देवदूत जैसे मन वाले लेखक ने आत्महत्या कर ली थी। क्या गोपालकृष्ण कौल उसे भी मनचला कहेंगे?

हिन्दी की विद्रोही कविता की नींव में केशिनीप्रसाद चौरसियों के प्राण कलप रहे हैं, यह विद्रोह असफल कैसे हो सकता है?

विद्रोही पीढ़ी की कविता से, "गुरिल्ला कविता" तक आते आते हिन्दी की कविता में सामाजिक क्रान्ति का बोध और संवेदन गहराता जा रहा है। 100 से अधिक विश्वविद्यालयों, सैकड़ों महाविद्यालयों और विद्यालयों में क्रान्तिकविता गूँज रही है। यह छोटे-छोटे मगर तेजस्वी प्रज्वलनशील व्यक्तियों से जनसामान्य की ओर फैलती है। सैकड़ों लघुपत्रिकाओं द्वारा यह कविता अपनी परिधि बढ़ाती जा रही है। उसकी भाषा और बिम्ब बदलतेजा रहे हैं। बिम्बवादियों के प्रभाव से, "नयी कविता" में वर्णनों की जगह क्षणभर में कौंधते बिम्बों को, सम्पुटित शैली में परोसा जाता था मगर सप्तमदशक में कविता वर्णनात्मक हुई है और फिर भी वह कविता है। इसमें उदास, और भयंकर बिम्बों की बाढ़ आ गई है और कविता अपने मात्र मनोरंजन करने वाली पुरानी परम्परा से स्वतंत्र होकर, विशिष्ट सामाजिक भूमिका अपना चुकी है। कविता से, उसके सामाजिक योगदान को आज अलग करना असंभव हो गया है। कवियों का मध्यमवर्गीय मन क्रमशः वर्गच्युत होकर आम आदमी के धरातल पर आता जा रहा है और मध्यमवर्ग के बढ़ते हुए दरिद्रीकरण से यह प्रक्रिया और तेज़ होगी।

आजादी के बाद, भारत में पूँजीवादी उत्पादन विधि और तज्जन्य अंधीप्रतियोगिता, महत्वाकांक्षा, उपभोक्ता समाज और सभ्यता का निर्माण, पाश्चात्य आधुनिकता का आयात और समग्रतः स्वतंत्रता के बाद वर्धमान भोगविलास और अधिकारेच्छाओं के तूफानों से जो सभ्य समाज में माहौल बना है, वह प्रतिक्रियावादी, यथास्थितिशील, अभिजातपरक, धर्मोन्मादक और जनविरोधी है। हिन्दी साहित्य की अग्रगामी, समाजोन्मुख, मूल्यवादी और छापामार चेतना ने इस सारे व्यवस्थाजन्य तिलिस्म और ऐय्यारी को तोड़ दिया है। समाज में आपको चाहे जैसा लगे पर साहित्य से ऐसा अवश्य लगता है कि बड़े और विशिष्टों के वर्गों को अब यह आम आदमी का समूह बरदाश्त नहीं करेगा क्योंकि पिछले 40-45 वर्षों में इस विशिष्ट वर्ग ने जितनी अपनी स्थिति मजबूत की है, उतनी देश की आम जनता की हालत को मज़बूत नहीं किया। राजनीति और साहित्य में उग्रक्रान्तिकारिता से भयभीत होकर शासकवर्ग और समाज के आत्मसंतुष्ट

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

बड़े लोग अब एकदम समाजवाद, धर्मनिरपेक्षतावाद और साम्राज्यवादविरोध के नारे लगाने लगे हैं। हिन्दुस्तान की बूर्ज्वाज़ी-पूंजीवादी तत्व और उनके लगुएभगुए लोग अच्छी तरह जान गए हैं कि यह उनके लिए अंतिम अवसर है। या तो देश को, प्रतिक्रियावादी राजनीति से हमेशा के लिए अलग करके, समाजवाद को कार्यरूप में परिणत करना होगा, अथवा 'गुरिल्लाक्रान्ति' का भय सिर पर सवार हो चुका है। सशस्त्रक्रान्ति का आतंक इतना अधिक है कि भारत के शासक वर्ग के लोगं जल्दी-जल्दी सुधार करने में जुट गए हैं ताकि खूनी तूफान से बचा जा सके। खूनी तूफान धरती के भीतर और बाहर, बार-बार झटके देता है। क्यूबा, वियतनाम, लाओस, कम्बोडिया में जनक्रान्ति की सफलता से, पछाँही और पातालदेशीय (अमरीकी) साम्राज्यवाद क्षतविक्षत हो गया है पर अभी वह जर्जर नहीं हुआ है। आज भी अमरीकी पूंजीवाद सबसे बड़ी शक्ति है और सौवियत रूसके पतन से विश्व पर अपने प्रभुत्व को दृढ़ करने के लिए अनिर्वचनीय षड्यन्त्र और गृहयुद्ध करा रहा है। जनक्रान्ति ही इस प्रवृत्ति को पराजित कर सकतीहै। 19वीं शताब्दी के बूर्ज्वाराष्ट्रवाद में यह दम नहीं है कि वह नवसाम्राज्यवाद को काट सके क्योंकि राष्ट्रवादी शासनाध्यक्षों और राष्ट्रवादी दलों को, सामाजिक-संरचना में बुनियादी परिवर्तन के काम में कामयाबी नहीं मिली। उनके समाजकल्याणविभाग, वर्गीयसमाज को ही मज़बूत करने वाले साबित हुए। बड़े; बड़े होते गए, लघु लघुत्तर होते गए हैं। क्रान्तिकविता में इन लघुत्तम लोगों के अक्षय कोप का ही प्रभंजन फूत्कार कर रहा है। कविता में उन्चासपवनों का सर्राटा एक साथ हो रहा है और सारे प्राकृतिक विप्लव जैसे एक साथ कवियों के मानसिक विश्वों और शब्दिक संसारों में घटित हो रहे हैं। क्रान्तिकविता आग लगाने की एक ग़ैरकानूनी, खतरनाक कार्यवाही बन चुकी है, श्री श्री, नागार्जुन, रेणु और सभी 'दिगम्बर' प्रकार के कवियों–लेखकों के हुंकारें–किलकारें प्रतिक्रियावादियों को थरथरा रही हैं और उपभोक्तासमाज के पुराने पापी भी अब क्रान्ति की शब्दावली अपना रहे हैं।

इस विद्रोह और कृान्ति के दशक (1965-75) के अंतर्विरोध भी कम नहीं हैं। लेनिन ने 'वामपंथी साम्यवाद एक बचकाना मर्ज़' शीर्षक से लिखे वक्तव्य में, जो वामपंथियों के दोष बताए थे, वे सभी, साहित्यिक विद्रोहियों में मिलते हैं। लेनिन ने लक्ष्य किया था कि शिक्षित भद्रजनों से आने वाले इन सफेदपोश वामपंथियों के इन्कलाब में, एक ध्रुव से दूसरे ध्रुव पर भागने की प्रवृत्ति अधिक होती है। यह गरम से नरम और नरम से गरम बड़ी जल्दी होता है। पूंजीवाद समाजों की भयद दशा, अल्पवित्तवर्गीय युवकों को उग्रवामपंथ की ओर मोड़ती है पर इस प्रकार के असंगठित, अधैर्ययुक्त, मूडी, ग़ैरजानिबदार और प्रचलित फैशनों के अंधानुकरणकर्ता इस विद्रोह को कमजोर करते हैं।

भद्रवर्गीय वामपंथी गुस्से और अधैर्य में क्रान्ति के नाम पर गदर करने लगते हैं। वे ताव में एक दूसरे के विरुद्ध गन्दे हथकण्डों का प्रयोग करते हैं और चुस्त और दिलचस्प

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वाक्यों की झड़ियाँ लगाकर, क्रान्ति का जादू जगाते हैं मगर व्यवहार में कुछ न कर पाने पर वे व्यक्तिगत हत्याओं या चरित्रहत्याओं पर उतर आते हैं अतः इनके वक्तव्यों में सामान्यीकृत सूत्रों और नारेबाज़ी ज्यादा रहती हैं–

'Anarchism has produced nothing but general platitudes against exploitation'[1]

जल्दी क्रान्ति कर डालने के नशे में, अधैर्यग्रस्त वामपंथी, संगठित साम्यवादी दलों का भी नाश करने लगते हैं जबकि आदर्श यह हो कि संगठित वामपंथी दल, 'सशस्त्र दृष्टि' से सम्पन्न क्रान्तिकारियों का समर्थन करें और मतभेद होने पर वामपंथी क्रान्तिकारी, संगठित दलों को विशृंखल न करें, उन्हें नष्ट न करें। भारतवर्ष के गुरिल्लादस्तों ने जितना आपस में और साम्यवादी दलों के साथ झगड़ों में शक्ति का व्यय किया है, उतना वर्गशत्रुओं के साथ लड़ने में नहीं। गुरिल्ला आंदोलन की मुख्य कमज़ोरी यह थी कि यह वस्तुगत स्तर पर, जनमानस को बिना अपनी तरफ किए,आतंकादी कार्यवाहियाँ करने लगा था। फलतः सरकारी दमन की कठोरता के आगे मध्यवर्गीय क्रान्ति का नशा तुरन्त उतर जाता है।

'स्वतः स्फुरित क्रान्ति' की धारणा को वामपंथी बहुत ग़लत तरह से अपनाते हैं। जहाँ क्रोध का स्वतः स्फुरण नहीं है, वहाँ भी वे इसकी कल्पना कर लेते हैं और मार खा जाते हैं। मार्क्सवाद, वैज्ञानिक और वस्तुगत ढ़ंग से क्रान्ति की तैयारी में विश्वास करता है जबकि गरम वाममार्ग, दृष्टिहीनता का शिकार हो जाता है। वाममार्गी की आत्मा यद्यपि अन्याय और शोषण के विरुद्ध होती है पर वह आत्मा, ग़दर मचाकर सामान्य जनता को निमग्न करने में विश्वास नहीं करती है। 'आग लगाओ'–फिर सब खुद ही दौड़े आएँगे–यह वाममार्गी मत, व्यवहार में यथार्थवादी हुए बिना अनेक संकटों और खतरों मे गुरिल्लाओं को डाल देता है और वे एक-एक कर मारे जाते हैं तथा आतिशबाज़ी के बाद छाए सन्नाटे की तरह चारों तरफ शान्ति छा जाती है।

मैं बोरिस लायब्सन के 'पैती बूर्ज्वा क्रान्तिवाद' पुस्तक के सारे विवेचन से सहमत नहीं हूँ क्योंकि इस पुस्तक में चीनी क्रान्ति को नकारा गया है और अर्धविकसित देशों में सोवियत साम्यवादी दल की, सरकारों के साथ दोस्ती और शोषित जनता के साथ ग़ैर जानिबदारी का रुख, संगठित साम्यवादी दलों को, बूर्ज्वा राष्ट्रवादी सरकारों का पिछलग्गू बना देता है। इस अंतर्विरोध पर अभी तक विजय नहीं पाई जा सकी। भारत में दशा यह है कि साम्यवादी सरकार का अंधसमर्थन कर रहे थे और वामपंथी, प्रतिक्रियावादियों से मिलकर सरकार की प्रत्येक बात का अंधविरोध कर रहे हैं। वाममार्ग दक्षिणमार्ग से हाथ मिलाकर कभी सफल नहीं हो सकता क्योंकि बहुसंख्यक दक्षिणमार्गी, वामपंथियों

1. पैती बूर्ज्वा रिवौल्यूशनिज़्म–बोरिस लायब्सन, पृष्ठ-15

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

को निर्णायक स्थिति में नहीं रहने देते। हिन्दी का लेखक यह पहेली जैसी हालत देखकर उलझन में पड़ जाता है और ब्रह्माण्ड छोड़कर अपने पिण्ड में प्रविष्ट हो जाता है और 'आत्मालाप' करने लगता है। वामपंथ की मज़बूत और मानवप्रिय राजनीति के बल पर ही 'गुरिल्ला कविता' विकसित हो सकती है। तेजस्वी राजनैतिक क्रिया के अभाव में तेजस्वी और तीखी कविता मात्र कुछ व्यक्तियों की सनक सी लगेगी अतः कविता के यह हित में है कि वह वामराजनीतिक शक्तियों को मज़बूत करे, कवि, गुरिल्ला कवि बने।

विद्रोही कविता ने एक थकी हुई काव्य-शैली के संसार को तोड़ा मगर पिछले दस वर्षों में इस काव्य की भी रूढ़ियाँ विकसित हो रहीं हैं। गिंसवर्ग के 'हाउल' और केशनीप्रसाद की विद्रोही कविता से शुरू होकर आज तक की कविता में सपाट वक्तव्यों की अनेक उबाऊ पुनरावृत्तियाँ, प्रचारात्मकता और अखबारीपन है। इन असंगतियों के खिलाफ कवियों को सतर्क रहना होगा।

पूंजीवादी देशों में, विद्रोही कविता भी पाठ्यक्रम का अंग बनकर अपनी गरमी खो देती है, यही इस देश में हो रहा है। कवि, जनता के कण्ठ पर आरूढ़ नहीं होना चाहते बल्कि वे बटुकों में पाठ्यपुस्तक के रूप में बिकना चाहते हैं। वे आत्मनिर्माण के स्तर पर नहीं, परीक्षाओं के विषय के रूप में अपने को खपाना चाहते हैं, विद्रोही लेखकों की यह त्रासद दुर्बलता है। 'वेटिंग फार एण्ड' का लेखक अफसोस के साथ कहता है और उसका कथन् हमारे तथाकथित बागियों पर भी एक सीमा तक लागू होता है–

"Our writers will learn to bear the indignities of success as they have born those of failures.[1]

भय यही है कि हमारे कवि और लेखक 'सफलता' की ख़्वारियों, बेइज्ज़तियों को बरदाश्त करने लगेंगे, उसी तरह जिस तरह वे आज असफलताओं से उत्पन्न अप्रतिष्ठाओं को सह रहे हैं। कामयाब हो जाने पर, समाज में जो सम्मान और साधन मिलते हैं, वे लेखक को बेशर्म बना देते हैं और सफलता को वह उपलब्धि मानने लगता है, उनमें आत्मालोचन की क़ुव्वत नहीं रहती। वे छुद्र आत्मतुष्टियों के नाबदानों में पड़े हुए दादुरों की तरह व्यवस्था के विरुद्ध विरोध का मौसम आने पर टर्राते रहते हैं और मेढ़कियों से इश्क करते हुए दलदलों और दादुरों का वंश विस्तार करते रहते हैं। व्यवस्था की चोट कवि को नष्ट नहीं कर सकती पर उसकी आत्मतुष्टि उसका नाश कर देती है। वह टर्राता हुआ तुँदियाता रहता है, और इस भरम में मर जाता है कि वह जीवनभर क्रान्ति करता रहा।

इस स्थिति में स्थापित व्यवस्था और समाजसंरचना, मामूली सुधारों-संशोधनों के साथ चलती रहती है और जब वास्तविक क्रान्तिकारी कुकवि का वश नहीं चलता, तब वह

1. Waiting for the end—एल.ए. फिडलर, पृष्ठ-274

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कांस्टैन्टाइन कैवेफी की तरह उन बर्बरों की याद करता है जो पुराने ज़माने में भ्रष्ट उच्चवर्गों को अपने अचानक हमलों से कत्ल कर देते थे और नगर के नगर जला देते थे:

What does this Sudden uneasiness means and this confusion? how grave the faces become ! why are streets and squares rapidly emptying and why is everyone going back home so lost in thought!

Because it is night and Barbarians have not come and some men have arrived from the frontiers! and they say that there are no Barbarians any longer.

प्रयोजन में मानववादी मगर शत्रु को पीड़ा देने में बर्बर इन्क़लाबियों के दब जाने पर कवि क्या कर सकता है सिवाए इस कल्पना के कि काश चंगेज़खाँ, हलाकू, जर्मन कबीलों के सरदार और नगरसभ्यता के दुश्मन, जंगली लोगों के हमले हमारे महानगरों पर होने लगें तो महानगरों के दुष्ट नागरिकों और शोषकों को पता चल जाए कि क्रूरता से आदमी को कितना कष्ट होता है।

हिन्दी का समकालीन अग्रगामी कवि, मुक्तिबोध के 'ब्रह्मराक्षस' और इन पंक्तियों के लेखक के 'ढुंढिराज' और 'आदमख़ोर' की तरह खून का प्यासा है। वह 'महाब्राह्मणों' की तरह कविता में शब्दों को पत्थर की तरह लड़ा रहा है ताकि वर्गसमाज के मालिकों और प्रभावशालियों की मौत हो जाए और जनसाधारण सुखी हो जाए।

आज की कविता से पत्थरों की तरह टकराते शब्दों की प्रतिध्वनियाँ चारों तरफ गूँज रही हैं और इस टकराहट से चमकदार आग की लपटें निकल रही हैं जो एक दिन अवश्य उन व्यवस्थाओं को जलाकर राख कर देंगी, जो कोटि-कोटि जनों को दास बनाए हुए है। इसी भस्म से नया युग उटेगा–

जम गई है बर्फ़ पर्वत सी पिघलनी चाहिए।
इस हिमालय से कोई गंगा निकलनी चाहिए।
आज ये दीवार परदों की तरह हिलने लगी
शर्त लेकिन थी कि ये बुनियाद हिलनी चाहिए।
मेरे सीने में नहीं, तो तेरे सीने में सही
हो कहीं भी आग लेकिन आग जलनी चाहिए।
सिर्फ़ हंगामा खड़ा करना मेरा मक़सद नहीं
मेरी कोशिश है कि ये सूरत बदलनी चाहिए।
इस सड़क का ख़्वाब है, अब इस सड़क पर दोस्तो
हाथ लहराते हुए हर लाश चलनी चाहिए।[1]

1. जनाब दुष्यन्तकुमार की गज़ल–'उत्तर प्रदेश', मई 15 अंक में प्रकाशित, (सम्पादक श्री ठाकुर प्रसाद सिंह)

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इस प्रकार 'गुरिला चेतना' या क्रान्तिकारी बोध परिस्थिति और परिवेश के दबाव से गद्य कविता में ही नहीं, नवगीतों और गज़लों में भी व्यक्त हो रहा है। विषम सामाजिक व्यवस्था और विकृतजीवनमूल्यों की दशा में, अग्रगामी लेखक एक ऐसे प्रज्वलनशील व्यक्तित्व की अवतारणा करता है, जिससे पाठकों के व्यक्तित्व का रूपान्तरण हो जाता है और कविता, कौतुक या मनोरंजन न रहकर, सशक्त हस्तक्षेप बन जाती है। वह मनोवैज्ञानिक कायाकल्प करती है और क्रमशः ऐसी क्रान्तिकारी कविता, पूंजीवादी-सामन्ती शख्सियतों को बदलती हुई उन्हें वर्गशत्रुओं के सामने खड़ा देती है। जो प्रतिवद्धता, छापामारपन और प्रगतिशीलता को मात्र राजनैतिक नारेबाज़ी मानते हैं, उन्हें इस कविता की मनोवैज्ञानिक भूमिका पर गौर करना चाहिए। क्रान्तिकारीकविता का योगदान मात्र बाहरी, सतही राजनैतिक उत्तेजन नहीं है, अपितु उसका बुनियादी काम, पाठक के व्यक्तित्व और चरित्र में परिंवर्तन करना है।

बूर्ज्वा व्यक्तित्व और चरित्र से क्रान्तिकारी दर्शन और कार्यक्रम भी, व्यवहार में अपर्याप्त और असपल हो जाते हैं। समकालीन साहित्यकारों का शब्द क्रान्तिकारी होता जा रहा है परन्तु उनका मानस प्रायः सभी बूर्ज्वाव्यधियों से ग्रस्त है अतः विचारधारा ऊपर ही ऊपर बह जाती है और नीचे अवचेतन या अंतर्मन में वही पुराना, प्रलोभन और स्वार्थपरता का कीचड़ भरा हुआ है। क्रान्ति कविता, इस कर्दम या कल्मष पर प्रत्यक्ष प्रहार करती है। वह वर्गशत्रु से भी अधिक 'उपभोक्ता व्यक्तित्त्व' के अंतःकरण में शताब्दियों से फैले हुए दलदल को अपनी प्राणाग्नि से सुखाती है और उसे, उसके सामाजिक या मानवीय दायित्व से समृद्ध कर देती है।

आज की वास्तविक कविता क्रान्तिबोध और क्रान्तिकारी परिहास, उपालम्भ, चेतावनी, आतंक और आदमखोरी के अस्त्र-शस्त्र अपनाकर अमानवीय स्थितियों और व्यवस्थाओं के विरुद्ध घनघोर संग्राम में परिवर्तित हो गई है। वह अपनी धधकती हुई आग से सोयी या सड़ी हुई चेतानाओं को सुलगा रही है। वह क्रमशः अपनी मनोरंजनात्मक मुद्रा छोड़कर मनोभंजक बनती जा रही है। इस मनोभंजन में न शत्रु के प्रति दया है, न साथियों और जनसमूहों की कमज़ोरियों के प्रति कोई कोमल भाव है। कविता अपनी चाँदनी छोड़कर प्रलयंकर सूर्य की तरह बन गई है, जिसमें प्रतिक्षण प्रचंड ज्वाला के लावे उटते हैं और जो अपने पवित्र आलोक से असंख्य लेगों को नक्षत्रों की तरह चमकाती है। आदमी को सर्वव्यापी मूल्य और ममता से युक्त यदि कोई कविता कर रही है तो वह यही 'गुरिल्ला-कविता' है–

'मैंने कई बार चाहा कि थोड़ी चाँदनी डिब्बे में बन्द करके रख लूँ
ताकि अँधेरे क्षणों में, मैं अकेला न रहूँ
लेकिन चाँदनी क़ैद नहीं होती

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उसे वक़्त ज़रूरत के लिए छिपाकर रखना इतना ही कठिन है
जितना बिना तेल के दिए में रोशनी को छिपाना।
आज चाँदनी आज़ाद है, उसे चाहिए, घूमने के लिए
खुले मैदान, चढ़ने के लिए ऊँची छतें
और फैलने के लिए खुला आकाश।
अँधेरे दिलों के दरवाज़ों पर वह दस्तक नहीं देती
चाँदनी एक कलंकित व्यक्ति की फैली हुई उदारता है
नहीं तो धरती पर चन्द्रमा का कलंक बिखरा होता।
लेकिन अकलंकित सूर्य के उजाले में आग ही आग क्यों है
सिर्फ़ कुछ लोगों की जिन्दगी में चाँदनी क्यों है?
......क्या धूप में थोड़ी चाँदनी नहीं मिलाई जा सकती?
या चाँदनी के चमक में, दो चार बूँद सूर्य की आग
नहीं डाली जा सकती?
तपन और ठंडक में इतनी दूरी क्यों है
जितनी सूर्य और चाँद में है?
तब तक अनेक भट्टियाँ सुलगती रहेंगी
जब तक लोहे का कुछ हिस्सा भी ठंडा रहेगा,
आखिर अंगारों की जलती हुई कहानी
चाँदनी के कानों में कौन कहेगा?[1]

8755

पुस्तकालय
पुस्तकालय
गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय

1. 'धूप और चाँदनी'–गोपाल कृष्ण कौल, साप्ताहिक हिन्दुस्तान, 24 अगस्त, 1975 का अंक

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

Checked for catalogue
Sanjeev

GURUKUL KANGRI LIBRARY

	Signature	Date
Accession		
Class on	Sanjeev	
Cat on	Sanjeev	26/10/94
Tag etc	Sanjeev	
Filing		
E A R.		
Any other		
Checked		

ARCHIVES DATA BASE
2011 - 12

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

Compiled
1999-2000

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उपरोक्त ग्रन्थ में हिन्दी के भूर्तव्य विद्वान डा० विश्म्भर नाथ उपाध्याय के विभिन्न लेखों को संकलित किया गया हैं।

डा० विश्वम्भर नाथ उपाध्याय का जीवन परिचय :-

डॉ. विश्वम्भर नाथ उपाध्याय, जन्म-तिथि 7 जनवरी, 1925 ई., एम.ए. हिन्दी-संस्कृत, पीएच.डी., डी. लिट्. पूर्व आचार्य : अध्यक्ष, हिन्दी विभाग, राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर, सम्प्रति, कुलपति, कानपुर विश्वविद्यालय, कानपुर, उत्तर प्रदेश; **कृतियां** : निराला की साहित्य साधना, हिन्दी की दार्शनिक पृष्ठभूमि, आधुनिक कविता : सिद्धान्त और समीक्षा, कबीर, सूर, भारतीय काव्यशास्त्र, सन्त वैष्णव काव्य पर तांत्रिक प्रभाव, समकालीन कविता की भूमिका, समकालीन सिद्धान्त और साहित्य, समकालीन कहानी, द्वन्द्व-प्रतिद्वन्द्व, बिन्दु प्रति बिन्दु, मीमांसा और मूल्यांकन आदि आलोचना के पच्चीस ग्रन्थ, सात उपन्यास, चार कविता संग्रह, एक उर्दू कविता का संग्रह, दो नाटक, साहित्य संदेश-समालोचक, मधुमाधवी आदि पत्रिकाओं का सम्पादन, सोवियत लैंड नेहरू पुरस्कार सहित अनेक पुरस्कार प्राप्त, अग्रगामी आलोचक और रचनाकार...।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar